ऊर्म्मिला

(प्रबन्ध काव्य)

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

अत्तरचन्द कपूर ऐण्ड सन्ज़
दिल्ली अम्बाला आगरा जयपुर नागपुर

अनुक्रम

श्री लक्ष्मणचरणार्पणमस्तु	क
प्रथम सर्ग	१
द्वितीय सर्ग	७३
तृतीय सर्ग	१६७
चतुर्थ सर्ग	३४३
पचम सर्ग	३९७
षष्ठ सर्ग	५१७

पूजनीय दद्दा
(बाबू मैथिलीशरण गुप्त)
के वरद करों में
सादर

—बालकृष्ण शर्मा

श्रीलक्ष्मणचरणार्पणमस्तु

यह ऊर्म्मिला है। यह ग्रन्थ, वर्षों के उपरान्त अब प्रकाशित हो रहा है। इस विलम्ब को मैं क्या कहूँ? अपना बहुधन्धीपन? अपना प्रमाद? प्रकाशन के प्रति मेरा अपना विराग? मेरा नैष्कर्म्य-भाव? बड़ा कठिन है यह स्व-विश्लेषण-कार्य। मनुष्य स्वभावतः अपने प्रति पक्षपात करता है। अपने को यथावत् देखने मे वह हिचकता है। अपनी नग्नता को वह निज के अचेतन और अर्धचेतन के आवरण मे लपेटे रहता है। इस दुर्बलता से मैं मुक्त नहीं हूँ। इस कारण मेरे लिये यह कठिन है कि इस विलम्ब को यथार्थ रूप मे जान सकूँ। कदाचित् जो बाते मैंने ऊपर गिनाई है वे सभी इस विलम्ब के लिये उत्तरदायी है जब यह प्रयास आरम्भ हुआ था, तब से अब तक परिस्थितियों मे और मुझ मे अनेक परिवर्तन हो गए है। और, एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि इन सब परिवर्तनो, इस सब उथल-पुथल के बीच, ऊर्म्मिला के स्तवन की लालसा और उस स्तवन को प्रकाश मे लाने की इच्छा—चाहे वह इच्छा बॉझ ही क्यो न हो—मेरी जीवन-सगिनी रही है। मुझे इस गुण-गान मे कितनी सफलता मिली है, इसका अनुमान मैं नहीं लगा सका हूँ। मेरे लिये इतना ही अलम् है कि मुझे ऊर्म्मिला माता की कथा कहने की प्रेरणा मिली। जीवन मे साधना का अभाव है। माता ऊर्म्मिला के पुनीत चरित्र का बखान करने के लिये साधक होना, भक्त होना, श्रद्धायुक्त होना और सुष्ठु कलाकार होना आवश्यक है। मुझ मे इन गुणों का नितान्त अभाव है। फिर भी, सती ऊर्म्मिला की कथा कहने की प्रवृत्ति मेरे मन मे जागी,—यही क्या कम सौभाग्य की बात है?

हॉ, तो माता ऊर्म्मिला के स्तवन की लालसा मेरी जीवन-सगिनी रही है। मैंने इस कथा का आरम्भ जिस समय किया था, वह समय अब इतिहास मे परिणत हो गया है। क्यो? इसलिये कि मैंने इस कथा को आज से सैंतीस वर्ष पूर्व आरम्भ किया था। सन् १९२१-२३ के डेढ़ वष के कारावास-काल मे मैंने इसे लिखना प्रारम्भ किया। देश के प्राय. पचास-साठ सहस्र जन उन दिनो कारागार में डाल दिये गए थे। उत्तर प्रदेश के हम कई सहस्र प्राणी, जो राजनीति-चेतना-युक्त थे, पकड़ लिए गए थे। उत्तर प्रदेशीय काग्रेस समिति के सदस्य के नाते

मैं तथा मेरे और ५४ साथी, सन् १६२१ के दिसम्बर मास की १३वीं तिथि को, प्रयाग में, उक्त कांग्रेस समिति की बैठक करते हुए, धर लिये गए थे। ग्रेट ब्रिटेन के राजकुमार, जो पचम जार्ज की मृत्यु के उपरान्त अष्टम एडवर्ड के रूप में ब्रिटिश साम्राज्य के सम्राट् हुए और तदनन्तर अब ड्यूक आफ विंड्सर हो गए है, उन दिनो भारत-भ्रमण कर रहे थे। काग्रेस ने उनका बहिष्कार किया था। दमन का चक्र तीव्रता से चल रहा था। कांग्रेस संस्था अवैध घोषित कर दी गई थी। काग्रेस जन कारागार मे ढकेल दिये गए थे।

प्रयाग के मर ^का कारागार की एक घुडसाल—अर्थात् बैरक—न्यायालय के रूप परिणत की गई। उन दिनो, जहाँ तक स्मरण आता है, नॉक्स नाम , अग्रेज प्रयाग का ज़िलाधीश था। उसने हम पचपन लोगो को डेढ़- वर्ष का कारावास दण्ड दिया। हम लोग कई टोली मे विभक्त कर दिये गए। कुछ नैनी केन्द्रीय कारागार भेजे गए। कुछ आगरा कारागार गए। और, कुछ बनारस। मै बनारस पहुँचा अपने अन्य साथियों के साथ। प्रथम बनारस केन्द्रीय कारागार, तदुपरान्त बनारस जिला कारागार मे हम रखे गए। पश्चात् प्रान्त भर के सब उच्च श्रेणी के बन्दी लखनऊ जिला कारागार भेज दिये गए। इस प्रकार घूमता-घुमाता मै लखनऊ पहुँचा।

लखनऊ मे सात बन्दी भयानक समझे गए। उनके नाम ये हैं—जवाहरलाल नेहरू, स्वर्गीय जॉर्ज जोजेफ, स्वर्गीय महादेव देसाई, पुरुषोत्तमदास टण्डन, देवदास गान्धी, परमानन्दसिंह (बलिया) और बालकृष्ण शर्मा। अत ये सब एक छोटी घुडसाल मे बन्द कर दिये गए। सब से अलग। इस सब मण्डली मे देवदास गान्धी और मैं दो ही छोटे, अथच अध्यापनीय थे। अतः जवाहर भाई हम लोगो को अंग्रेजी तथा भूमिति (जियामेट्री) पढ़ाया करते थे। हम लोगों ने वहाँ, जवाहर भाई से मैकबेथ (शेक्सपियर का दुखान्त नाटक) आद्योपान्त पढ़ा। उसी समय से मैं समझा कि जवाहर लाल जी बडे अच्छे शिक्षक है। उनका वह स्कूल मास्टरी का अभ्यास अभी तक नहीं छूटा है।

इसी समय मेरे मन मे यह विचार आया कि ऊर्म्मिला पर कुछ लिखना चाहिये। अत मैंने १६२२ ई० के नवम्बर के अन्त में या दिसम्बर के आरम्भ मे ऊर्म्मिला लिखनी आरम्भ की। प्रथम सर्ग लखनऊ कारावास मे, प्रायः एक-सवा मास मे लिखा गया। जनवरी सन् १६२३ के अन्त में हम लोग कारागार-मुक्त हुए। उसके उपरान्त बाहर के झंझटों

म सा और ऐसा फँसा कि ऊर्म्मिला को फिर से प्रारम्भ करने का अव-का ही न मिला। सन् १९३० मे दो बार छ-छ मास का कारावास दण्ड मिला। तब लिखने का विचार आया। पर उस वर्ष कारागार मे भी नेतागीरी ने मेरा पिण्ड न छोडा। ऊर्म्मिला-लेखन का विचार यों ही रि ।

इसके उपरान्त सन् १९३१ के दिसम्बर मास मे मै फिर पकड़ लिया गया। इस बार मुझे ढाई वर्ष का कारावास दण्ड मिला। इस बार मैंने दृढ विचार कर लिया कि इस कारावास की अवधि मे ऊर्म्मिला समाप्त करनी है। बाधाएँ तो बहुत आई। कारागार के भीतर मार, पीट, लडाई, झगडे, एक कारागार से दूसरे मे स्थानान्तर आदि अनेक विपदाएँ झेलनी पड़ी। पर, व्याघातों के आते हुए भी, सन् १९३४ के फरवरी मास मे मै जब बाहर निकला तो ऊर्म्मिला समाप्त कर चुका था। प्रथम सर्ग और बाद के सर्गो के लिखे जाने मे प्राय बारह वर्षों का व्यवधान है। हॉ, एक बात आश्चर्यजनक है। मै जितना नित्य लिखता था तो नीचे तिथि डाल दिया करता था। एक बार मैंने पाण्डुलिपि से सब तिथियो को जोड कर यह जानना चाहा कि अन्तत. मुझे इसके लिखने मे कितना समय लगा। मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब मैंने यह देखा कि इस सम्पूर्ण ग्रन्थ को लिखने मे मैंने सवा चार-साढ़े चार मास से अधिक समय नहीं लिया। समाप्त तो यह ग्रन्थ सन् १९३४ मे हो चुका था। पर, प्रकाशित अब हो रहा है। प्रशसा कीजिये–यह है मेरा योग कर्मसु कौशलम्।

जब मैंने अपने एक मित्र को यह सूचना दी कि मै ऊर्म्मिला समाप्त कर चुका हूँ, तो वे सूखे से मुँह से बोले—हूँ! फिर थोडी देर के पश्चात् बोले—यह तुमने क्या किया? ऊर्म्मिला पर काव्य-ग्रन्थ क्यो लिखा? वही पुरानी बात। यदि प्रबन्ध काव्य ही लिखना था तो कुछ और विषय चुनते। तुम ने ऊर्म्मिला पर लिखकर अपना समय ही गँवाया। स्मरण रखिये कि मै इन मित्र का आदर करता हूँ। उनकी रसज्ञता एव साहित्य-परख का मै कायल हूँ। पर, मै उनके इस कथन से सहमत नहीं हो पाया। मै यह नहीं कहता कि प्रबन्ध काव्य के लिये नए विषय नहीं मिल सकते या नए विषयों को लेकर प्रबन्ध काव्य की रचना नहीं हो सकती। मेरा मतभेद तो उनके इस सिद्धान्त से है कि पुराने विषयों या व्यक्ति-विशेषों पर आज कल प्रबन्ध काव्य लिखना समय गँवाने के

सदृश है। पुराने विषयों को भी नवीनता से सुसज्जित किया जा सकता है।

और फिर, नया क्या है? फूल, कोकिल, पपीहा, शारदीया पूर्णिमा, रिम-झिम मेहा, लूक-लपट, आँसू, हिचकी, चुम्बन, परिरम्भण, सध्या, ऊषा, निशीथ, मिलन, मधुमय यामिनी, अधकार, प्रकाश, सभी कुछ तो पुराने-धुराने है? मनोराग भी पुराने है और उनकी अभिव्यक्ति के साधन—ये शब्द—भी बहुत पुराने हो गए है। फिर भी नित्य प्रति कुछ न कुछ लिखा-पढ़ा जाता है और मानव समाज उस अभिव्यक्ति में नयापन अनुभव करता है। वस्तुत अभिनवता, नवीनता, मौलिकता बहुत अंशों मे कलाकार की अनुभूति पर अवलम्बित है। अत काव्य के लिये ऐतिहासिक-पौराणिक विषय, केवल मात्र चर्वित-चर्वण के तर्क के आधार पर, त्याज्य या वर्ज्य नहीं हो सकते।

हाँ, प्रश्न यह अवश्य उठाया जा सकता है—और उठाया गया है—कि क्या आज का युग प्रबन्ध,काव्यों के लिये उपयुक्त है? यह प्रश्न वास्तव मे विचारणीय है। वर्तमान काल मे प्रबन्ध काव्यो की रचना के लिये जो बाते बाधा-स्वरूप समझी जा सकती है वे है—(१) भाषा के गद्य स्वरूप का और छापेखाने का परिपूर्ण विकास (२) साहित्य मे उपन्यास शैली का आविर्भाव, (३) पद्यात्मक शैली की अपेक्षा गद्यात्मक शैली की अभिव्यक्ति-सरलता एवं अर्थ-ग्रहण-सुकरता, (४) गद्य की अपेक्षाकृत बन्धन-मुक्तता—अर्थात् अनुप्रास, यमक, यति, गति, मात्रा आदि के बन्धन का गद्य मे तिरोधान, (५) वर्तमान जीवन की द्रुतगतिमत्ता, अत उसमें समय के अभाव की स्थिति, (६) विज्ञान-प्रभाव के कारण मानव की रोमांचवादी वृत्ति का लोप, (७) पुरातन कालीन दैवी तत्वों को काव्य मे प्रविष्ट करने की वृत्ति का वर्तमान विचार के साथ असामञ्जस्य, (८) वर्तमान जीवन की सकुलता (complexity), अतः उस जीवन मे ऋजुता और सहज विश्वास का अभाव, (९) सत्-भाव, सत्-विचार, सत्-आचरण के प्रति—अर्थात् जीवन के शाश्वत मूल्यों के प्रति अनास्था, अश्रद्धा और उपेक्षा, और (१०) पुरातन कालीन अनन्त, असीम, विशाल, विराट्, अपरिमितता (Vastness) का वर्तमान विज्ञान द्वारा लघ्वीकरण। इन कारणो को उपस्थित किया जा सकता है, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिये कि वर्तमान काल प्रबन्ध काव्यो या विराट् काव्यो (Epics) के लिये उपयुक्त काल नहीं है।

सम्भव है, इन कारणो के अतिरिक्त और भी कुछ कारण हों जो महाकाव्यो और विराट् काव्यो के निर्माण के लिये वर्तमान युग की अनुपयुक्तता सिद्ध करने के पक्ष मे दिये जाते हों। मैने उपर्युक्त कारण किसी ग्रन्थ से नहीं लिये है। मैने अपने ही मस्तिष्क को खरोच-खरोच कर ये दस कारण ढूँढ निकाले है। इन कारणो पर विचार करना [illegible] युक्त होगा या नहीं, यह प्रश्न मेरे सामने है। यह प्रश्न मेरे मन मे क्यों उठा? इसीलिये कि साहित्य-कला-कृतियो के निर्माण सम्बन्धी कारणो के ऊहापोह को मैं एक सीमा तक ही उपयुक्त समझता हूँ। सामाजिक एव बाह्य परिस्थितियों के ऊपर इस प्रकार कला के विकास को आधारित करना कुछ अशो मे लाभप्रद होते हुए भी, कुछ अशों मे अवैज्ञानिक भी है।

ग्रीस के—पेरिक्लीस कालीन एथेन्स के—कला विकास को तत्कालीन एथीनियन समृद्धि एवं एथेन्स के निवासियो की आर्थिक निश्चिन्तता पर पूर्ण रूपेण आधारित करना जिस प्रकार एक उपहासास्पद प्रयास है, यूरोपियन रिनाएसॉस—यूरोपीय साहित्य-कला-पुनरुज्जीवन-प्रवाह—को जिस प्रकार केवल तत्कालीन परिस्थितियों पर अवलम्बित मानना एक अवैज्ञानिक उपक्रम है, उसी प्रकार, उपर्युक्त कारणो के आधार पर वर्तमान युग को महाकाव्य या विराट् काव्य के अनुपयुक्त मानना अनुचित और अवैज्ञानिक है। ठीक है, पेरीक्लीस का एथेन्स नगर-राज्य धन-धान्य पूर्ण था, लोगो को निश्चिन्तता थी, अंतः वह नैश्चिन्त्य और अवसर एक सीमा तक कला-विकास मे सहायक हुआ। पर, अवकाश और नैश्चिन्त्य मात्र से सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, फीडियास, अनेक दु खान्त नाटकों के लोकोत्तर रचयिता, आदि, विभूतियाँ कैसे प्रसूत हो गई? इसी प्रकार जो व्यक्ति यूरोपीय पुनरुज्जीवन काल को वणिक् वर्गीय, अभिजात वर्गीय मानते है, वे भी भूल करते है—अर्थात् वे लोग जो उस पहली वेगशालिनी जीवन-लहर को केवल मात्र भौतिक, सामाजिक परिस्थिति से नि.सृत मानते है, वे वास्तव मे अवैज्ञानिक और प्रतिक्रियावादी है। तत्कालीन युग मे इटली मे वेनिस और जिनोआ प्रदेश वणिक्-व्यवसाय-दृष्टि से बडे समृद्ध नगर थे। वहाँ यूरोपीय पुनरुज्जीवन का कोई भी प्रतिनिधि कलाकार, साहित्य-स्रष्टा, तत्ववेत्ता उत्पन्न नहीं हुआ। उस पुनरुज्जीवन-प्रवाह के भागीरथ हुए उस फ्लोरेन्स प्रदेश मे जो अभिजात वर्गीय प्रभाव से आक्रान्त

नही था। मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य-विकास को एक कालीन युग-परिस्थिति पर आधारित करने का प्रयास बहुधा हास्यास्पद हो जाता है। और इसलिये मैंने अपने सम्मुख यह प्रश्न रखा था कि मैं महाकाव्य और विराट् काव्य की सृष्टि की असंभावना के वर्तमान कालीन कारणो पर विचार करूँ या न करूँ।

सूक्ष्म मे मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि मै वर्तमान युग को विराट् काव्य कृतियो या महाकाव्यो के सृजन के लिये अनुपयुक्त नहीं मानता। यों, यह बात तो प्रत्यक्ष है ही कि समूची मानवता के इतिहास मे व्यास, वाल्मीकि, वर्जिल, कालिदास, गोएथे, शेक्सपियर, आए दिन पैदा नहीं होते। सिंहन के लॅहडे नही। पर चूँकि शेक्सपियर अब नही होते—इसलिये यह तो नही कहा जा सकता कि अब नाटको का युग समाप्त हो गया? इसी प्रकार यदि वाल्मीकि और कालिदास अब नही होते तो यह कैसे कहा जा सकता है कि विराट काव्यो या महाकाव्यों का युग समाप्त हो गया? अभी तक प्रबन्ध काव्यो, महाकाव्यों की सृष्टि होने की क्रिया चल रही है। मन्द या तीव्र गति का प्रश्न उतना महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रबन्ध-काव्यो की ओर आज भी प्रवृत्ति है। अत मै यह बात मानने मे असमर्थ हूँ कि महाकाव्यों, प्रबन्ध-काव्यों का सृजन-प्रयास इस युग की प्रवृत्ति के प्रतिकूल है। हॉ, विराट् काव्यो (Epics) का सृजन इधर सहस्राब्दियो से नहीं हुआ है। कदाचित् आगे भी न हो। पर, इसके लिये किसी युग की परिस्थितियों को उत्तरदायी समझना उचित न होगा। विराट् काव्यों के रूप मे प्रागैतिहासिक कालान मनीषियों ने, जो थाती मानवता को दी है वह आगे आने वाले युगों तक उसके लिये पर्याप्त है।

मेरी इस "ऊर्म्मिला" मे पाठकों को रामायणी कथा नहीं मिलेगी। रामायणी कथा से मेरा अर्थ है क्रम से राम-लक्ष्मण-जन्म से लगाकर रावण-विजय और फिर अयोध्या-आगमन तक की घटनाओं का वर्णन। ये घटनाएं भारतवर्ष मे इतनी अधिक सुपरिचिता है कि इनका वर्णन करना मैने उचित नहीं समझा। इस ग्रन्थ को मैने विशेषकर मन स्तर पर होने वाली क्रियाओ और प्रतिक्रियाओं का दर्पण बनाने का प्रयास किया है। रामायणीय घटनाओं का राम, सीता,

सुमित्रा, कौशल्या, और विशेष कर लक्ष्मण और ऊर्म्मिला के मनों पर क्या प्रभाव पड़ा, वे इन घटनाओं के प्रति किस प्रकार प्रतिकृत हुए, आदि का वर्णन ही इस ग्रन्थ का विषय बन गया है। इस मे जो कुछ कथा भाग है वह गृहीत है—वर्णनात्मक, अर्थात् घटना-विवरणात्मक नहीं।

मैंने राम वनगमन को एक विशेष रूप मे देखने और उपस्थित करने का साहस किया है। राम की वन यात्रा, मेरी दृष्टि मे एक महान् अर्थपूर्ण आर्य-सस्कृति-प्रसार-यात्रा थी। "ऊर्म्मिला" मे लक्ष्मण के मुख से जो यह बात मैंने कहलवाई है, वह कदाचित पुरातन विचार वादियों को न रुचे। पर, जितना भी मैं इस राम वन-गमन पर विचार करता हूँ उतना ही मैं इस बात पर दृढ होता जाता हूँ कि राम की वन-यात्रा भारतीय सस्कृति-प्रसारार्थ, एक महान् यज्ञ के रूप मे थी।

मैंने ऊर्म्मिला को 'जनकनदिनी' कहा है। कुछ मित्रों ने मुझे बताया कि ऊर्म्मिला जनकदेव के अनुज साकाश्या के राज कुशध्वज की पुत्री थीं। इस के सम्बन्ध मे मैंने वाल्मीकि रामायण देखी। उस से मुझे ज्ञात हुआ कि सीता और ऊर्म्मिला - दोनों जनकदेव की ही पुत्री थी। वाल्मीकि मे श्लोक आते है कि जनकदेव ने रघुकुल के गुरु मुनिश्रेष्ठ वशिष्ठ को सम्बोधित करते हुए कहा—

> सीता रामाय भद्रं ते ऊर्म्मिला लक्ष्मणायच।
> वीर्यशुल्कां मम सुतां सीतां सुरसुतोपमाम्॥
> द्वितीयामूर्मिला चैव त्रिर्ददामि न संशय ।

—मैं बडी प्रसन्नता के साथ अपनी दो पुत्रियो मे से वीर्यशुल्का तथा देवकन्या सदृश सुन्दरी सीता, राम को, और दूसरी कन्या ऊर्म्मिला, लक्ष्मण को दे रहा हूँ। यह बात मैं दृढ़ता के साथ तीन बार कहता हूँ।

आगे चल करके आदि-कवि ने महामुनि विश्वामित्र के मुख से राजा जनक को सम्बोधित करते हुए कहलाया है कि—

> वक्तव्यं च नरश्रेष्ठ श्रूयता वचन मम।
> भ्राता यवीयान् धर्मज्ञ एष राजा कुशध्वज॥
> यस्य धर्मात्मनो राजन् रूपेणाप्रतिमं भुवि।
> सुताद्वयं नरश्रेष्ठ पत्न्यर्थे वरयामहे॥

भरतस्य कुमारस्य शत्रुघ्नस्य च धीमतः।
वरयेम सुते राजंस्तयोरर्थे महात्मनो ॥

—हे नरश्रेष्ठ ! मुझे आप से एक बात और कहनी है। उसे भी आप सुन ले। यह जो आपके लघु भ्राता कुशध्वज है, इन धर्मात्मा के भी अति सुन्दरी दो कन्याये है। उन दोनों कन्याओं को भी मैं राम के भाई भरत तथा शत्रुघ्न के लिए आप से मांगता हूं।

इन अवतरणों से यह स्पष्ट है कि ऊर्म्मिला राजा जनक की और माण्डवी तथा श्रुतिकीर्ति जनक के अनुज राजा कुशध्वज की पुत्रियाँ थीं। आदि कवि ने स्पष्ट रूप से ऊर्म्मिला को जनक नन्दिनी ही माना है।

मेरा यह काव्य-ग्रन्थ पाठकों के सम्मुख उपस्थित है। यह कैसा है, इसका निर्णय वे स्वय करें। इस व्याज से मेरी भारती सीता-राम और ऊर्म्मिला-लक्ष्मण का गुण गा सकी—इसी मे मैं उसकी सार्थकता मानता हूँ।

मेरे अन्य काव्य ग्रन्थों के सदृश, जो या तो प्रकाशित हो चुके हैं या हो रहे है, यह ग्रन्थ भी प्रकाश मे न आता यदि आयुष्मान् पडित प्रयाग नारायण त्रिपाठी मेरी सहायता न करते। पाण्डुलिपि से उतरवाने से लगाकर पुनरावृत्ति तक के सब कार्यों मे चिरजीवी प्रयाग नारायण मेरे सजग सहायक रहे है। उनके इस अकारण स्नेह से मेरा रोम-रोम भींजा हुआ है। उन्होने मुझे जो साहाय्य प्रदान किया है उसके प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करने के लिये मेरे पास शब्द नहीं है।

५, विंड्सर प्लेस
नई दिल्ली।
२६ जनवरी, १६५७

बालकृष्ण शर्मा

प्रोत्साहन

१

चलो, हे मेरी टूटी कलम,
चलो उस ओर, किसी के पास ,
छोड दो कलियुग की मसि यही,
करो त्रेता युग मे कुछ वास ,
किसी के हृदय-खड की व्यथा,
सुनो, कर दो न्योछावर प्राण,
किसी की धीमी-धीमी आह
करे तुम को कुछ-कुछ म्रियमाण,
अश्रु का बिन्दु, शोक का सिन्धु,
व्यथा का असि रूपी नव इन्दु,
जहाँ है उदित, क्षुब्ध, निर्झरित
उधर को चलो छोड भव सिन्धु ।

२

तुम्हारे पीछे-पीछे चला—
आ रहा हूँ मै भी, चचले,
पुरातन त्रेता युग का मार्ग
हुआ है लोप, निशीथाचले ,
कहीं इस घनी कुहू को देख
न रहना बैठ, न जाना हार,
ढूढने निकली हो तुम आज
मूक भावो का पारावार,
ढूढ लाओ उसको तुम, अरी—
लेखनी, हो जाओ कृत कृत्य ,
शुष्क कागद के कोनो बीच,
हो उठे नव करुणा का नृत्य ।

३

पुरातन बाल्मीकि के गूढ
भाव-भृगो के मुखरित झुड,
अछूता छोड गये जो पुष्प,
उसी के रस से पूरित कुड,
विकल हो, ढूँढ निकालो, और
करो पीयूष चरित का पान,
बनो रस-सिक्त सुनाओ अखिल
विश्व को निज रस-सिक्ता तान ,
न हो आलस्य, न हो उद्रेक,
न लाओ अपने मन म भ्रान्ति,
ऊर्म्मिला की आहो को सुना
करुण रस मे कर दो कुछ क्रान्ति ।

४

पूज्य तुलसी की माला बडे–
बडे मनको से गुम्फित हुई,
राम-सीता के अविचल भक्ति–
भाव से ही है चुम्बित हुई ,
लेखनी, यह छोटा मनका, न–
कही दिखलाई पडता वहाँ,
हृदय की आकुलता कह रही •
आह ! यह छोटा मनका कहाँ ?

न लाओ बेर, लगाओ टेर,
सुनेगी वह मिथिला नन्दिनी,
सुमित्रा माँ की वह प्रिय बहू,
लखन के जीवन की चाँदनी ।

५

कई शत वर्ष गए है बीत
सहस्रो की गिनती हो रही ,
सुभग साकेत हुआ है खेत,
हाय! मिथिला शिथिला सो रही,
और वे भव्य भूरि प्रासाद
याद मे भी कुछ-कुछ मिट गये ,
किन्तु, लेखनी, आज भी वही
गान हम को तो है नित नये ,

इसी से तुम से मै बहु बार,
कह रहा हूँ––तुम डूबो आज,
अगम सम्पूर्ण भूत के गर्भ––
सिन्धु मे सज जीवन के साज

६

सुनेगा कौन ?–अरी दुर्वृत्ति,
विश्व-गायन को किसने सुना ?
प्रकृति माता की शीतल पवन–
लोरियो को किस-किस ने सुना ?
दुधमुँहे शिशु का क्रन्दन करुण–
कौन सुनआ है ? देखो अरे,
अनोखी, विकृत, बावली तान–
सदा है शुष्क बुद्धि से परे ,

नही होगा यह कोई काव्य,
अरे, यह तो है स्पन्दन मात्र
कही यदि कॉंपा,—तो फिर देख,
सिहर उट्ठेगे सारे गात्र ।

७

कई अव्यक्त भावना भरे–
बज उठेगे वीणा के तार ,
कई प्यारे फूलो से गुँथे–
हिल उठेगे क्रीडा के हार !
कई कोमल चुम्बन से पगे–
कँपेगे नव व्रीडा के प्यार ,
कई , हृत्खड-बेधन-क्षम
होगे कट्टर पीडा के वार ,

लेखनी, टूटी हो ? हॉं, बनी रहो,
सह जाओ यह गुरु भार,
ऊर्म्मिला-पद-पद्मो की धूलि
तुम्हे पहुचावेगी उस पार ।

प्रार्थना

१

देवि, ऊर्म्मिले, तेरी अकथित गाथा गाता हूँ मैं ,
किवा तव चरिताम्बुधि-मज्जन के हित आता हूँ मैं ,
अति अगम्य बलवती लहर है, थाह न पाता हूँ मैं ,
हृदय-शिला पर तव चरणो को, देवि, बिठाता हूँ मैं ।

२

सती, मुझे वर दो कि भारती मेरी हो कल्याणी ,
मैं लघु शिशु हूँ, बुद्धिहीन हूँ और निपट अज्ञानी ,
वैयाकरणी मैं न, असस्कृत है यह मेरी वाणी ,
किन्तु कृपा की भीख माँगता हूँ, हे लक्ष्मण रानी ।

३

यह कर्कश रव रुके और मैं सुनूँ वही झकार–
वह स्वर–जिसको नित रोते हैं तव चरणालकार ,
निपट बली तेरे प्रियतम के धन्वा की टकार,
और, सती, तव पद नख हर ले मम मूढाऽहकार ।

४

कोटि-कोटि कटुता मे जीवन कटता है दिन रात ,
जीवन, शुष्क, शूल-कीर्णित है, औ' छिलते हैं गात ,
उद्विग्ना प्रवृत्ति भटकाती मन को साय-प्रात,
किस से कहे ? कौन सुनता है ? किस के जोडे हाथ ?

५

जनक नन्दिनी, देवि ऊर्म्मिले, तू करुणा की मूर्त्ति ,
तव चरणो का ध्यान हृदय को देता है सुस्फूर्त्ति ,
तेरे आशीर्वचन करे मम इच्छा की सम्पूर्त्ति ,
भ्रमित चित्त मेरा होवे तव करुण शान्ति की मूर्त्ति ।

६

तेरे अटल भरोसे पे यह मैंने ओढा भार ,
यही वन्दना तव मृदु चरणो मे मेरी इस बार–
ये भाव प्रसून , जिन से मै गूथूंगा यह हार,
सूख न जावे, यह माला हो विघ्न रहित तैयार ।

———

ध्यान

खचित शोक-रेखा है जिसके द्युति विहीन आभरणो मे,
अलकावली-ग्रथित, श्रीहत है कुडल जिसके कर्णो मे,
अकथित करुण कथा बहती है जिसके कल-कल झरनो मे,
नत हो जा, हे नास्तिक मस्तक, उसके युग श्री चरणो मे ।

१०

इधर यह 'दक्षिणेन्द्र-द्वार', नव है,
जनाता चण्ड रवि का खर विभव है,
विदेही नृपति का यह कीर्त्ति-दव है,
जलाता जड अकर्म्मो का कुरव है।

११

नृपति ने दिशा दक्षिण द्वार वर को—
निवेदित है किया इन्द्र प्रवर को,
प्रखर सकेत कर, प्रति आर्य्य नर को—
दिखाता कर्म्म-पथ शर-चाप-धर को।

१२

पुनीता साँझ को वन्दन समय जब,
जिधर, मुख फेरती नर नारियाँ सब
उधर को दीखता 'यम द्वार' है अब,
कि मानो दीखता है विश्व विप्लव।

१३

उधर यह पूर्व 'ब्रह्म-द्वार' प्यारा—
दिखा उत्पत्ति-तत्त्वो का पसारा,-
बहाता नव्य रस की गान-धारा,
इधर 'यम द्वार' ने लय को सँभारा।

१४

उधर उत्पत्ति है तो इधर लय है,
उधर जीवन नवल का यदि प्रणय है,—
इधर तब क्षुब्ध सरिता शान्तिमय है,
जनक-नगरी, अहो, निर्भ्रान्तिमय है।

१५

सुपश्चिम द्वार बनवा कर, नृपति ने—
समर्पित है किया यम को सुमति ने ,
कि मानो पथ दिखाया समय-गति ने,
सुरति का हाथ पकडा या विरति ने ।

१६

उधर है उत्तरीय-द्वार भारी,
सुसेनापति षडानन ध्रुव प्रहरी—
जिसे रक्षित किये रिपु-मान-हारी,-
भगाते हैं व्यथाए दूर सारी ।

१७

इसे शुभ 'कार्त्तिकेय-द्वार' कह कर—
नगरवासी सिहाते है निरन्तर ,
ध्वजा फहरा रही है यह मनोहर ,
बताती है रणागन-मार्ग सत्वर ।

१८

नगर चहुँ ओर सुन्दर क्षेत्र सारे,
मनोहर हरित-सा परिधान धारे,
पवन सँग कर रहे है नृत्य प्यारे ,
कि मानो जलधि कल्लोलित हुआ, रे ।

१९

कही बैठे मुदित है भूमि-स्वामी,
कही वे हो रहे वृषभानुगामी ,
कही गाएँ चराते है अकामी ,
मधुर यह स्थान 'गोपुर-धाम' नामी ।

पुर-प्रदक्षिणा

१

चलो देखें जनक की राजधानी,
विराग 'रु भोग की नगरी पुरानी,
नृपति जिस देश के है तत्त्वज्ञानी,
जिन्हे सम है ज्वलित अगार, पानी ।

२

शिथिल-सी कल्पने, यह पुण्य धाम—
करुणरस मूर्त्ति का है पितृ-ग्राम,
ठहर प्राचीर बाहर, एक याम,
करो सुप्रदक्षिणा नयनाभिराम ।

३

नगर प्राचीभिमुख है 'ब्रह्मद्वार,'
जिसे प्रति प्रात बालातप निहार—
सुमन-से मृदु करो का विमल हार—
मुदित मन दे रहा है बार-बार ।

४

विमोहक जगन्नाटक सूत्रधार—
सुगूढ ज्ञेय तत्त्वो का प्रसार—
सदा क्यो कर रहा है बार-बार ?
यही सकेत करता पूर्व-द्वार ।

५

न तुम भूलो कि यह है आर्य्य नगरी ,
यहाँ, ऐ कल्पने, हो जा सजग, री ,
निपट संकेतमय है यह सुभग, री ,
यहाँ है गूढ आशय-युक्त डगरी ।

६

सुदृढ है, शक्तिशाली द्वार यह है ,
प्रतापी राज-असि की धार यह है ,
पुरस्कृत शिल्प विद्या सार यह है ,
धरा-धारी धनुष का भार यह है ।

७

अनेको क्रुद्ध रिपुओ के दलो को–
दलित करके चखाया कटु फलो को,
वही प्राचीर यह, आर्य्य-स्थलो को,
सुरक्षित कर रही है निर्म्मलो को ।

८

विपुल शस्त्रास्त्रो से पोषिता है ,
शतघ्नी-घोष से उद्घोषिता है ,
सुधन्वा धीर नर से ऊशिता है ,
धनुष-भाले-गदा से भूषिता है ।

९

द्विशत पादावली के अन्तरो पर–
बने है शिखरधारी बुर्ज सुन्दर ,
जहाँ से नौबतो की चोब सुनकर–
जनक-रिपु काँपते है भीत, थर-थर ।

१०

इधर यह 'दक्षिणेन्द्र-द्वार', नव है,
जनाता चण्ड रवि का खर विभव है,
विदेही नृपति का यह कीर्त्ति-दव है,
जलाता जड अकर्म्मों का कुरव है।

११

नृपति ने दिशा दक्षिण द्वार वर को–
निवेदित है किया इन्द्र प्रवर को,
प्रखर सकेत कर, प्रति आर्य्य नर को–
दिखाता कर्म्म-पथ शर-चाप-धर को।

१२

पुनीता साँझ को वन्दन समय जब,
जिधर, मुख फेरती नर नारियाँ सब
उधर को दीखता 'यम द्वार' है अब,
कि मानो दीखता है विश्व विप्लव।

१३

उधर यह पूर्व 'ब्रह्म-द्वार' प्यारा–
दिखा उत्पत्ति-तत्त्वो का पसारा,-
बहाता नव्य रस की गान-धारा,
इधर 'यम द्वार' ने लय को सँभारा।

१४

उधर उत्पत्ति है तो इधर लय है,
उधर जीवन नवल का यदि प्रणय है,—
इधर तब क्षुब्ध सरिता शान्तिमय है,
जनक-नगरी, अहो, निर्भ्रान्तिमय है।

१५

सुपश्चिम द्वार बनवा कर, नृपति ने—
समर्पित है किया यम को सुमति ने ,
कि मानो पथ दिखाया समय-गति ने,
सुरति का हाथ पकडा या विरति ने ।

१६

उधर है उत्तरीय-द्वार भारी,
सुसेनापति षडानन ध्रुव प्रहरी—
जिसे रक्षित किये रिपु-मान-हारी,-
भगाते है व्यथाएं दूर सारी ।

१७

इसे शुभ 'कार्त्तिकेय-द्वार' कह कर—
नगरवासी सिहाते है निरन्तर ,
ध्वजा फहरा रही है यह मनोहर ,
बताती है रणागन-मार्ग सत्वर ।

१८

नगर चहुँ ओर सुन्दर क्षेत्र सारे,
मनोहर हरित-सा परिधान धारे,
पवन सँग कर रहे है नृत्य प्यारे ,
कि मानो जलधि कल्लोलित हुआ, रे ।

१९

कही बैठे मुदित है भूमि-स्वामी,
कही वे हो रहे वृषभानुगामी ,
कही गाएँ चराते है अकामी ,
मधुर यह स्थान 'गोपुर-धाम' नामी ।

२०

विमल उपवन इधर को आ मिले है ,
सुरभिमय पुष्प जिन मे ये खिले है ,
जुही के भुज समीरण से हिले है ,
चमेली-नयन-सम्पुट अध खिले है ।

२१

निपट नि शक विहँगो की अवलियाँ—
हठीली चूमती है फूल-कलियाँ ,
निनादित हो रही ह कुज गलियाँ
चतुर मालिन चुनै है फूल डलियाँ ।

२२

थकित-सी, कल्पने, सुप्रदक्षिणा यह—
हुई सम्पूर्ण, लो अब दक्षिणा यह—
चलो देखे पुरी सुविचक्षणा यह—
जनक नृप रक्षिता, शुभ लक्षणा यह ।

———

जनकपुर-प्रवेश

१

धीरे, रम्ये, जनक नगरी, सौख्य सम्पत्ति धाम,
तेरे वासी सतत रत है ईश-सेवाभिराम,
कोई दृग्गोचर नर नही हो रहा दुष्ट, वाम्,
शान्ते, तेरी सुभग धवला देहली मे प्रणाम।

२

आ पैठी तू, चकितमति, हे, चित्त की वृत्ति मेरी
खोई-सी क्यो इधर फिरती दर्शनौत्सुक्य-प्रेरी?
खोले आँखे, मुदित मन हो, देख शोभा घनेरी—
रम्ये, होवे हृदय-तल की भावना पूर्ण तेरी।

३

प्राचीरो के सुदृढ गढ को विज्ञ कारीगरो ने—
रक्खा है क्यो विलग पुर से, शिल्प-विद्याधरो ने?
क्यो छोडा है नगर-गढ के बीच सुस्थान खाली?
कैसी वीथी-परिधि यह है वेदियो से सँभाली?

४

ब्रह्म-ज्ञानी जनकपुर की शुद्ध-सी मेखला है?
या नारी की मृदुल कटि की धर्म की शृ खला है?
किवा माला जनक-यश की शुभ्र पुष्पो मयी है?
या लोगो के विमल हिय से गान-धारा बही है?

मन्त्रोच्चारी सु-पट पहने, ब्राह्मणो की कतार–
प्रात साय पुर-परिक्रमा को यहाँ पॉव धारे ,
रम्या वीथी यह मुदमयी 'मगलावीथि' नामा–
दु ख-क्लेशोद्भव भय-व्यथा मेटती है अकामा ।

६

क्यो जाते है प्रतिदिन सभी पौर ये घूमने को ?
क्यो जाते है नगर भर की धूल को चूमने को ?
ये सकेताक्षर कठिन है, गूढ भावो भरे है !
सीधी-सादी यह परिक्रमा मूढता के परे है ।

७

आकृष्टा हो जिस नियम से भू सदा घूमती है–
सलग्ना हो जिस नियम मे डालियाँ झूमती है–
गूढ ज्ञानी, जनकपुर में, हे वही देखते ये,
विश्वो की है द्रुत परिक्रमा-शृ खला पेखते ये ।

८

प्राची से, जो सुपथ, नृप का पश्चिमान्त प्रदेश–
बाँधे है, ज्यो ललित दुलही प्रेम की गाँठ शेष,
शोभा मे है अमित, वह है 'राजमार्ग' प्रसिद्ध,
व्यापारी के सकल जिससे कार्य-व्यापार सिद्ध ।

९

सीचा जाता नित जल-कणो से सदा राजमार्ग ,
मीठी-मीठी कलित कलिका गध से पूर्ण मार्ग ,
क्या ही शोभामय यह पुरी है विदेही, अनगा,
मानो भू मे, अहह, प्रकटी आन आकाश-गगा ।

१०

भारी-भारी अतुल रथ से मार्ग है खूब पूर्ण,
धीरे-धीरे शकट चलते हे किए भूमि चूर्ण ,
हस्त्यश्वो के विकट रव से गूँजती है अटाएँ
शस्त्रास्त्रो की खर चमक है या कि विद्युच्छटाएँ ?

११

इन्द्रद्वारात्-प्रसृत पथ है उत्तरीया दिशा मे,—
फैला यो, ज्यो स्वरित रव हो मूर्छिता-सी निशा मे ,
देखो, है 'वामन सुपथ' की शान्त शोभा अखण्ड,
शिल्पी का है यह सुखद-सा शान्तिदा कीर्त्ति-दण्ड ।

१२

रम्योद्यानो मय यह पुरी शोभती यो अनूपा,
मानो कोई नवल तरुणी मोद-मुग्धा, सरूपा,
क्रीडोत्कण्ठामय चपलता की हटीली लरी-सी,
फूलो वाली हरित लतिका से सजी वल्लरी-सी ।

१३

धीरे-धीरे पवन बहती, गुल्म औ' पुष्प नाना—
उद्ग्रीवी हो तरणिवर को चाहते है बुलाना ,
स्निग्धच्छाया मय सघन-स नीड से बोलते ह—
पक्षी बेठे,—मुखरित, अहो, माधुरी घोलते है ।

१४

ले आए हे सकल जग की स्नेह की येपिटारी,
आ बैठे है जनकपुर की वाटिका मे विहारी ,
क्यो जाता है, पथिक, अब तू दूसरी ठौर ? आ, रे,
सारे त्रेता युग मधुर की माधुरी है यहाँ, रे !

१५

डाली-डाली मधुर स्वर से गूँजती है निराली,
मूर्च्छापूर्णाकुल झपकती आँख मे है सुलाली,
सद्य स्नाता सदृश, टहनी बिन्दुओ से भरी है,
मानो धीरा अचल वसुधा अर्घ्य ले के खडी है।

१६

तुष्टा हृष्टा जब चहकती पक्षियो की कतारें—
तो एकाकी झनक उठती कल्पना की सितारें,
सारे वासी इस नगर के, नादिता गान धारा—
की तानो मे, मुदित करते पुण्य सुस्नान प्यारा।

१७

क्यारी-क्यारी मधुरस भरी यो सुहाती सलौनी,
ज्यो होली के नवल दिन मे रजिता, रग लौनी,—
भ्रान्ता कान्ता, मधुरस भरी, हो सुहाती सुरम्या,
भू की भव्या मरस सुषमा डोलती हो अगम्या।

१८

कुंजो-कुंजो किरण कर से, रीझ के अशुमाली—
पा जाते है सुमृदुल जुही की वही ओष्ठ—जाली
फूली-फूली विपिन भर मे डोलती है चमेली,
मानो मुग्धा, श्वसुर गृह मे, पा गई प्रेम-बेली।

१९

न्यारी-न्यारी गुनगुन-मयी तान-झकार पूरे—
ऐठे से ये अलिगण सभी गान-झकार पूरे—
उन्मत्तो के सदृश फिरते बाग मे लुब्ध यो है,
मानो योगी विरत रस मे लीन सम्मुग्ध ज्यो है।

२०

चौडे-चौडे, सुखद गृह-से, बाग मे स्थान है ये–
मानो धारे थकित नर के शान्त-से प्राण है ये ।
माली माला ग्रथित करते है यहाँ मोहनी-सी,
स्नेहाकृष्टा विमल नवला ग्रीव मे सोहनी-सी ।

२१

स्वेच्छा वापी, विपुल जल से, प्रेम की गाँठ जोडे,–
उत्पीडा से जनित भव की भ्रान्ति को दूर छोडे,
बैठी यो है जनकपुर की प्रीति से रीति जोडे,
जैसे कोई अविचल सती नेह का वस्त्र ओढे ।

२२

आ जाती है पुरजन प्रिया नेह मे ये पगी-सी,
गोरी बाहे अमल सुपटावेष्टिता है, ठगी-सी ,
मानो कोई लचक लतिका भक्ति के भाव धारे,
पुष्पाविष्टा, मुदित मन हो, नाचती कुज-द्वारे ।

२३

प्रात साय पुरजन यहाँ, भक्ति से वन्दना को,
शान्ति सेवी शमन करते चचला स्पन्दना को–
आते है , ज्यो विकल बछडे गाय के, रज्जु तोडे –
दौडे आते, भव-विभव का व्याधि-सम्बन्ध छोडे ।

२४

ये वापी, ये कमल सर, ये रम्य-से कूप नाना,
कल्लोलो से कलित करते ग्राम्य के रूप नाना ,
मानो सारी जनक नगरी, प्रेम की जल्पना को–
पानी द्वारा गदित करती कारुणी कल्पना को ।

२५

ये देखो, है जनकपुर की उच्च अट्टालिकाये,
शिल्प्यार्यो की स्वकर ग्रथिता ये बडी मालिकाये,
आखे देखे इस विभव की आर्य-आभा सलौनी,
मानी, रक्षारत, प्रिय, गुणी भूप की कीर्त्ति-छौनी।

२६

आर्य्यो के ये सुखद गृह है स्वच्छता के सुधाम,
स्निग्धा, मन्दा सतत बहती वायु है अष्ट याम,
चौडे वातायन सुभग से, झाकते अशुमाली,
चन्द्र ज्योत्स्ना, कलित कलिका डाल जाती निराली।

२७

पूता वेदी चतुर कर ने प्रागणो मे गढी है,–
मानो याञ्चा, नत शिर किये, हाथ जोडे, खडी है,
प्रार्थी नारी-नर जब यहाँ बैठते आस-पास,
नक्षत्रो का तब प्रकट हो दीखता भव्य रास।

२८

सामाजीय-प्रगति-रथ के जो यहाँ सारथी है–
पुण्यश्लोका गहन जिनकी पुण्यदा भारती है–
वे है सु-ब्राह्मण दृढव्रती, धर्मधारी, तपस्वी,
योगाभ्यासी, विगत कामा, तत्त्वदर्शी, मनस्वी।

२९

लम्बे-लम्बे सबल भुज से देश-स्वातन्त्र्य प्यारा–
रक्खे है जो अभय बन के, सीच हृद्-रक्त-धारा,
वीरो मे है मुकुटमणि वे क्षत्रियो के सु-झुण्ड,
छेत्ता है वे प्रखर असि से दस्युओ के नृ-मुन्ड।

३०

धन्वाधारी यदपि, फिर भी है न ये क्रूर दुष्ट,
धारे है ये निज हृदय मे पूर्ण निर्लोभ तुष्ट,
सौम्या निष्ठा इस दृढ सुहृद्देश से यो बही है,
पाषाणो को, त्वरित सरणी, तोड के ज्यो गई है।

३१

व्यापारी है, कृषक वर है, वैश्य ये द्रव्य वाले,
लक्ष्मीसेवी, सकल जग की वाटिका को सँभाले,
ले-ले आते शकट भर के दूर से वस्तु सारी,
ज्यो फूलो से मधु, भ्रमर है खीचते, हो सुखारी।

३२

ये वे है जो सतत रत है—पूज्य सेवी बने है,
वृक्षो, पुष्पो सदृश नित सेवा-रसो मे सने है,
देते है ये सकल जग को गूढ शिक्षा सुरम्य,
'सेवा धर्म परम गहनो योगिनामप्यगम्य'।

३३

उत्फुल्ला है, मृदुरस सनी है गृह-स्वामिनी ये,
आर्य्या भू का अमल धन है मञ्जु-सी भामिनी ये,
उत्सगो मे सतत अपने देश की कीर्त्ति-लाज—
बैठाए ये नित कर रही है घरो मे स्वराज।

३४

सौन्दर्यो के अमिय-वन के आम्र की कोकिलाएँ,
कर्त्तव्यो के कठिन स्वर मे तान को है मिलाए,
वीरो के हृत्सर विमल की है निराली तरगे,
वेदो के सुस्वर क्वणित की है अनूठी मृदगे।

३५

हो जाता है नगर इनके श्री मुखो से प्रतिष्ठ,
छा जाती है सुखद सुषमा, दूर होता अनिष्ट,
छाई मानो जनकपुर मे ये नभो-तारिकाये—
आई है ये गलित करुणा से युता दारिकाये ।

३६

माताए हो मुदित शिशु के खेल को जोहती हे,
मीठी-मीठी सरस बतियाँ चित्त को मोहती है,
बाल-क्रीडा-मय भवन है, सौख्य-सौदर्य-सिक्त,
आर्य्यो के है सदन शिरसा बाल-शोभाभिषिक्त ।

३७

शिक्षा पाते सुगुरुकुल मे देश के ये कुमार,
कैसा छाया सघन घन-सा शिक्षको का दुलार ?
गुर्वाणी की यह बह रही वत्सला प्रीति धार,—
स्नानाकाक्षी पुर नगर के बाल आये अपार ।

३८

ऋग्वेदीय स्वरित रव से पूर्ण है सुप्रदेश,
वेदागो के जटिल विषयो की कथा है विशेष,
विद्यार्थी की स्फुटित रसना सस्कृता हो रही है,
प्रारब्धो की सुदृढ अथवा शृखला खो रही है ।

३९

बैठे है यो गुरुजन यहाँ ब्रह्मचर्याश्रमो मे,
छाई हो ज्यो जल-घन-घटा राम गिर्य्याश्रमो मे,
छोटे-छोटे विमल बटु है चातको की कतारे—
बूँदो-बूँदो शमन करती प्यास है ज्ञान-धारे ।

४०

आओ, देखें अब जनक के राज्य के सूत्र नाना,
ढाँके हैं जो जनपद महा, रूप धारे विताना,
राज-प्रासाद निकट महा मन्त्रणागार दिव्य,
सामन्तों से, विबुध जन से हो रहा पूर्ण भव्य ।

४१

धीमान् मन्त्री गण सकल हैं कार्य में पूर्ण दक्ष,—
निस्वार्थी हैं सतत रखते राज्य-सेवा समक्ष,
धर्म प्राणा सबल जनता की मनोकामनाएँ
होती पूरी सकल सुप्रजा की मनोभावनाएँ ।

४२

तेजस्वी है सुजनपद का युद्ध सेना विभाग—
ऐसा तीव्र प्रखरतम है मूर्तिमान् सा निदाघ—
जो वैरी के सजल सर को सोखता है नितान्त,
आर्यों का है विमल धवला कीर्ति का मंजु कान्त ।

४३

हैं अध्यक्ष प्रमुख इसके विग्रहों में यशस्वी,—
धारे हैं वे सचिव पद को, धीर हैं वे मनस्वी,
युद्धों में वे सतत रखते धर्म को हैं समक्ष,
रम्या 'जै' की मधुर ध्वनि हो पक्ष में या विपक्ष ।

४४

मन्त्री सञ्ज्ञा परिचित किये हैं जिन्हें, वीतराग,—
हैं धारे जो निपुण कर में सन्धि वाला विभाग,—
वे ये मन्त्री सचिव वर के संग यों सोहते हैं ।
जैसे-सन्ध्या-जल कण, शिरस्त्राण को मोहते हैं ।

४५

साम्राज्यान्तर्गत विषय को देखते है अमात्य,
औदीच्यो की सकल सुविधा, ग्राम्य ये दक्षिणात्य–
पौर्वात्यो के नगर वन औ' पश्चिमी वीथियाँ ये,
सारी बाते, द्रुत सुलझती गूढ-सी गुत्थियाँ ये ।

४६

राज्य-श्री को निरत चित से गोपते है सुमन्त्र,
निस्स्वार्थी है नित यह चलाते अहो राजतन्त्र–
मानो विश्वम्भर सजग हो पोषते है सुविश्व–
श्री लक्ष्मी से सतत नित सतोषते है सुविश्व ।

४७

त्रेता की है परम महती कीर्त्ति-गाथा अपार,
जावेगी तू कब तक, कहाँ, कल्पने, हे असार ?
भूली-भूली अब तक फिरी है कहाँ से कहाँ तू ?
क्यो आई थी इस नगर मे ? डोलती क्यो यहाँ तू ?

४८

तूने, मुग्धे, अब तक न खोजा है निज स्वामिनी को,
ए री बौरी, हृदय-नभ मे क्यो भरा यामिनी को ?
मारी-मारी न फिर अब तू, चचले, आ, चले री,–
राज-प्रासाद मधुमय के, अञ्चले आ, चले री ।

४९

ऊँचे-ऊँचे शिखरवर ये शोभते है निराले,
या सोने के शुभ कलश हे चाँदनी मे सुढाले,
सिह-द्वारे सज कर खडे अस्त्रधारी सुवीर–
क्षत्राणी के सजग सुत ये युद्ध के शूरवीर ।

५०

शिल्पी का, हाँ, यह महल है चातुरी का निशान,
आर्य्यावर्त्तीय सुचतुरता का अनोखा वितान,
भोगो का सम्पुट यह बना नेह का नव्य हार,
योगी की है यह गिरि-गुहा, ज्ञान का पुण्य द्वार।

५१

जीवन्मुक्त प्रखर नृप के योग की तीव्र धारा,—
स्नेहाविष्टा यह बह रही यो अनूठी अपारा,—
ज्यो सूखे से तरुवर महाऽश्वत्थ की एक डाली—
पत्राविष्टा नवल ऋतु म भ्रमती हो निराली।

५२

ऐसी पुण्या मधु सुरभि मे, कल्पने, जायगी तू,
तेरी आशा-नवल-लतिका, हाँ, हरी पायगी तू,
माला गूँथे मत सुमन की,—साज कैसे सजेगे ?
पावेगी जो मृदु चरण तो फूल तेरे लजेगे।

× × × ×

प्यारे चरण मगल करण
आ रही है कल्पना मेरी तुम्हारे शरण
प्यारे चरण मगल करण

———

प्रासाद-प्रांगण में

१

रुन-झुन, रुन-झुन, नन्ही-नन्ही पैजनियाँ झकारे,—
चरण-चलन की प्रागण भर मे फैल रही गुजारे,
किलक-किलक मधु स्रोत बहाती है विदेह की ललियाँ,
प्रात पवन मे चिटखी है दो छोटी-छोटी कलियाँ ।

२

ये दो मुकुल जनकरानी की है जीवन प्रतिछाया,
वीतराग मिथिलेश-हृदय की ये है दोनो माया,
सीता और ऊर्म्मिला मानो सरस अमृत के कण है,
मौन प्रणय के पचम स्वर मे उद्गीरित गायन है ।

३

बाल-दशा मति-मुग्धाओ की, आओ, छवि अवलोके,
आओ, प्यारे चरण-चिन्ह को चूमे इन विमलो के,
मधुरी-मधुरी, विश्व मोहिनी बतियाँ इनकी सुन ले,
हास-पुष्प-कीर्णित है, आओ, इन फूलो को चुन ले ।

४

काले-काले, लम्बे-लम्बे, केश-कलाप घने-से,—
उड-उड कर समीर से क्रीडा करते प्रेम सने से,—
मानो गन्ध-लुब्ध सर्पो के कृष्ण झुण्ड मतवाले—
नाच रहे है, लोट-पोट हो, सुन्दर प्रात काले ।

५

तरल, तरङ्गित चिकुर-जाल यह कोमल और अमल है,—
तन्तुवाय के सूत्र-जाल सा अतिशय मृदुल, चपल है,
किसने एक-एक कुन्तल की यह बारीकी पेखी ?
ज्यामितिज्ञ की मन कल्पना-रेखा जिस ने देखी ।

६

पास-पास विष्टरासीन जब ये दोनो होती हैं—
शुक्ति सम्पुटो मे तब भासित होते दो मोती हैं,
किंवा जनक-भवन मे नभ से मिथुन-राशि आई हो,
अथवा दामिनि की दो किरणे पास-पास छाई हो ।

७

जब दोनो वेणिया परस्पर, उडकर, जुट पाती हैं—
तब कृष्णा यमुना की गुँथ दो धाराये जाती हैं,
या दो कुहा निशाये करती आलिगन लुब्धा हो,—
या दो परछाँही है भुज भर भेट रही मुग्धा हो ।

८

सौम्य ललाट-शुभ्रता मे है शुचिता खेल रही यो—
श्वेत कमल मे अमल धवलता रह-रह खेल रही ज्यो,
भाल देश के ऊर्ध्वभाग मे केश-वर्त्तुला-रेखा—
शोभित है ज्यो सान्ध्य-क्षितिज मे अन्धकार की लेखा ।

९

जब ललाट पर अलकावलियाँ उड-उडकर आती हैं—
आँख मिचौनी तब केशो मे मानो छिड जाती है,
केश-पुज-वेष्टित ललाट ये यो शोभित होते हैं—
ज्यो विहाग के स्वर ऊषा की गोदी मे सोते हैं ।

१०

ये चारो ही चपला आँखे यो दौडी फिरती है,—
ज्यो गिर्योत्सगो से चपला धाराएँ गिरती है,—
शिशु-क्रीडा के निश्छल भावो की यह अविरल धारा—
बह-बह कर जीवन के दुख को कर देती है न्यारा।

११

भोली-सी ये चार अँखडिया डोल रही आँगन म,
फूली-फूली आनन्दित है फिरती इस प्रागण मे,
मानो वदो की श्रुतियाँ है श्रवण छोड कर आई,—
अथवा चतुष्कामनाओ ने अपनी छटा दिखाई।

१२

जनकप्रिया के मातृ-हृदय की ये आँखे लाडिलियाँ—
भक्तिप्रेम के यज्ञ-कुण्ड की है घृत-आहुति-पलियाँ,
श्यामा खचित भ्रू लताओ ने नयनो को जकडा है,
चचलता के मन मे मानो मोहन पाश पडा है।

१३

आँखो के द्वारे कुछ कुछ है कृष्ण लोम की शोभा,—
पक्ष्मे, मानो, सम्मार्जनिया बन आई निर्लोभा,
पलके जब-जब झँपती है तब, मानो दो-दो तारे,—
बार-बार, मेघावृत होकर चमक रहे है न्यारे।

१४

लम्बी-सी सुडौल नासा मे मुक्ता लटक रहे है,
अधर लालिमा से रजित ये मोती मटक रहे है,
मानो मानसरोवर-तीरे राजहस-हसिनियाँ—
मुदित पान करती है सुन्दर मुक्त प्रेम की कणियाँ।

१५

इस जोडी के अधरो पे है लाली राज रही यो—
प्राची के मस्तक पर कुकुम-बिन्दी भ्राज रही ज्यो,
ओष्ठ चतुष्टय पतले-पतले शोभित यो होते है—
मानो ढापे दशन-मोतियो को रक्षक सोते है ।

१६

जब विकसित होती है दातो की ये शुभ्र अवलियाँ—
तब उद्यानो मे सकुचाती है सब नूतन कलियाँ,
हास्य-पाश जब फैलाती है ये दोनो सुकुमारी—
तब अशक्त-सी बँध जाती है जनक-विराग-खुमारी ।

१७

कौन यहाँ से चला जायगा भवसागर तरने को ?
कौन अगस्त्य सोख सकता है इस छोटे झरने को ?
किसका है सामर्थ्य करे जो उल्लघन यह सीमा ?
कहाँ छुपा है विरति-राग वह, जो न पडेगा धीमा ?

१८

सीता के ताटण्क, ऊर्म्मिला की वह सुन्दर नथनी—
दूर फेक देगी विदेह की वह विराग की कफनी ।
अखिल विश्व के पितृ-हृदय को मोहित कर सकती है,
वह वत्सलता है जो पत्थर लोहित कर सकती है ।

१९

खेल-खेल मे शिर दोनो हिल जाते है मुदमय हो,
तब चारो कुण्डल हिलते है,—ज्यो मछली गुणमय हो,—
तडप-तडप कर प्रकटाती है निज हिय की व्याकुलता ।
कहो, कही देखी है ऐसी शोभामयी विपुलता ?

२०

गोल-गोल इन गालो की है अरुणाई कमनीया,
विश्व रचयिता के प्रमोद की गेदे है रमणीया,
आ बैठी है शतपत्री की इन मे सब पाटलता,–
मिथिला की राज्ञी के हृत्तल की सारी कोमलता ।

२१

जब मधुरी मुसक्यान छबीली, मुख पर छा जाती है–
तब मृदु गण्ड-तरग अनोखी छटा दिखा जाती है ।
इन छोटे मधुरस-कूपो की दुर्गम गहराई है–
हास-देश से हँसी अमिय-घट भरने को आई है ।

२२

गोरी-गोरी, छोटी-छोटी बाहे झूम रही है,
मृग-शावक-मण्डली उन्हे हो मोहित चूम रही है।
माता का ये कण्ठहार है चारो भुज वल्लरियाँ,
जनक देव ने रीझ सुनयना को दी है ये लरिया ।

२३

सीता, श्री ऊर्म्मिला बहन के डाल गले मे बहियाँ,–
पुलकित हो बोली, मानो नव रस की बरसी फुहियाँ,
"प्यारी बहन ऊर्म्मिले, तुम हो मेरी अच्छी रानी,
आज सुनाओ तुम अच्छी सी मुझको एक कहानी ।"

२४

'सीता जीजी, तुम्ही कहो कुछ पहले नई कहानी,
देखो, आँख मीच कर बैठी हूँ मै बन कर ज्ञानी–
जैसे तात बैठते सुनने पूत वेद की गाथा,–
वैसे ही बैठी हूँ सुनने आज तुम्हारी बाता ।"

२५

यो कह कर ऊँर्म्मिला ध्यान मे मग्ना बैठ गई जब,–
सारी बाल-चपलता मानो हो एकत्र गई तब ,
देने लगी चुनौती मानो धीर भावनाग्रो को,–
ध्यानी के उन्नत ललाट की सहज सात्वनाग्रो को ।

२६

झकझोरने लगी उसको हॅस-हॅस सीता सुकुमारी,
ग्रौर, ग्रचल-सी रही कनिष्ठा धीरा जनक दुलारी ,
"सीता जीजी,"यो ग्रॉखो को मूॅदे-मूॅदे बोली–
"कथा कह रही हो कि खेलती हो तुम मुझ से होली ।"

२७

चुटकी से उसके गालो को सीता ने तब थामा,
वचनावलियॉ उच्चारित की उस ने ये ग्रभिरामा,
"खोलो ग्रॉख ऊर्म्मिले, तुम पर जाऊँ मै बलिहारी
सन्ध्या करने को तो मैने कहा नही था, प्यारी ?

२८

एक कहानी के बदले यह सन्ध्या क्यो करती हो ?
ऐ, री ढीठ, क्यो न मम बाते निज मन मे धरती हो ?"
सुन सीता के वचन ऊर्म्मिला ने निज ग्रॉखे खोली,
मानो छोटी-सी हरिणी ने खोली ग्रॉखे भोली ।

२९

बडे चाव से सीता उस से बोली प्यार पगी-सी,
मानो रह-रह कर होती है जागृत लगन लगी सी,
"बहन ऊर्म्मिले, चलो खेलने चले ग्रन्तरुपवन मे,
माॅ के लिए फूल तोडेगी हम तुम उस उपवन मे ।'

३०

"जीजी, माँ उन सब फूलो के हार गूँथ डालेगी,
तात चरण को माला देगी, वे निज व्रत पालेगी,
एक बात मुझको बतला दो, मेरी जीजी रानी–
तात चरण आते है तब क्यो हँसती माँ कल्याणी ?

३१

मुसका कर माँ अपनी माला क्यो उनको देती है ?
फिर उन मे से एक माग कर आप पहन लेती है ?
एक बार मैंने माँ मे यह बात पूछ जब ली थी,
तब बस उनने मेरी चुम्मी जल्दी से ले ली थी।

३२

किन्तु चूमकर, सुनो, रच भी मुझे न बात बताई,
मुझसे कहा, अनोखी है, री, तेरी यह पगलाई!
इस मे क्या पागलपन है, री जीजी, तुम्ही बता दो ?
माँ की इन करतूतो का तुम मुझ को हाल जता दो।"

३३

सीता यह सुन उठी खिलखिला, माना बिखरे मोती,
खिसक आई मस्तक से छोटी सी वह शुभ्रा धोती,
"सुन प्यारी ऊर्म्मिले, मुझे ये बाते ज्ञात नही है,
माता ने मुझको भी तो ये बाते नही कही है।"

३४

यो आपस मे बातें करती चल दी दोनो बहने,
रूप रग मे है समान, ये विदेह-गृह के गहने,
उपवन में दोनो बहनो की जब आ बैठी जोडी,
तब फूलों में लगी परस्पर होने होडा-होडी।

३५

कहने लगा गुलाब,—"गुलाबीपन ? यह तो मेरा है,"
बोला कमल—"नेत्र विस्फारण, क्या यह भी तेरा है ?"
जुही चहकने लगी—"अहो, यह कोमलता किसकी है ?"
पारिजात बोला—"स्वर्णीया रेखा यह जिसकी है ।"

३६

विहगो मे भी होड लग गई वहाँ अतीव अनूठी,
शुक सारिकादि विहगावलियाँ आपस मे सब रूठी,
"मेरा है यह रव"—यो मैना बोल हुई मतवाली,
"यह चापल्य ?—बतादे तू ही रे उपवन के माली—"

३७

यो कह खञ्जन लगा फुदकने पत्तो डाली-डाली,
पिक बोला—"मै ने ही तो यह कण्ठ-ध्वनि है ढाली,"
सारे उपवन मे, वृक्षो से चहके वृन्द विहग के,
स्वागत-सूचक जय-ध्वनि निकली कण्ठो से सब खग के ।

३८

प्रति डाली का फूल किये था अर्पण अपने मन को,
इन कर कमलो मे देने को उत्सुक था निज तन को,
प्रति कुञ्जो से यही भावना मयी तान उठती थी,
आत्म-निवेदन की मगलमय गान धार लुटती थी ।

३९

उड आते निर्भीक खञ्जनो के वे दल चचल थे,
प्रकटाते कन्धो पर बैठे-बैठे प्रेम अचल थे,
कभी नासिका देख ऊर्मिला की सकुचाता शुक था,
सीता के नयनो से खञ्जन को होता कुछ दुख था ।

४०

पर्यंको पर बैठ गईं वे दोनो इस उपवन मे,
मानो लावण्यो की जोडी उदित हुई कानन मे,
सीता-भुज-वेष्टिता-ऊर्म्मिलाऽविष्टा-सीता मुग्धा,—
एक दूसरी से होती थी शोभित दोनो लुब्धा ।

४१

"देखो जीजी, एक कहानी माँ ने मुझे कही थी,
एक कपोती जब उपवन मे उड-उड खेल रही थी,
माँ आई थी कुसुम-चयन को सँग आई मै भी थी,
तब यह कथा सुनाई थी, मै गोदी म बैठी थी"

४२

वचन ऊर्म्मिला के सुन सीता हो उत्फुल्लित बोली—
मानो डोल उठी उपवन मे पञ्चम स्वर की टोली—
"अच्छी है ऊर्म्मिला, —कहेगी मुझसे वे सब बतियाँ—
जैसे चकई कथा सुनाया करती सारी रतियाँ ।"

४३

"जीजी, मै तो पहले तुम से सुन लूँगी कुछ बाते,
तब अपनी रसना खोलूँगी, जान गई ये घाते,—
तुम सुन-सुन कर चुप हो जाती, मुझको नही बताती,
एक कहानी कहने मे तुम मुझसे हो सकुचाती ।"

४४

तब सीता निज मृदुल ओष्ट द्वय को अति धीरे-धीरे—
खीच ले गई बहन ऊर्मिला के कर्णाम्बुधि तीरे,
और कहा कुछ, जिसको सुन कर कनीयसी मुसकाई,
मानो भ्रमर-गीत को सुनकर कलियाँ हो हरखाई ।

४५

"आहा ! कहो, अरी जीजी, तुम यह तो कथा कहो, री,
कहो, कहो, मत देर लगाओ, बातो मे न बहो री ,
फिर मैं, अहा, सुनाऊँगी, री, तुमको एक कहानी,
जिसको सुन, तुम हो जाओगी जीजी, पानी-पानी ।"

४६

"सुन रानी ऊर्म्मिले, कई-सौ बीत चुकी है बरसे—
युद्धोद्यता एक बाला तब निकली थी निज घर से,
तात चरण ने हो प्रसन्न जो कथा कही है मुझसे—
वही कह रही हूँ मैं, मेरी बहिन, ऊर्म्मिले, तुझसे ।

४७

पौर जानपद का प्रिय सुयशी एक नृपति नरवर था,
शुभ गान्धार देश पर उस का शासन अति शुभ-कर था,
दुष्ट वैरियो के दलने मे सूर्य समान प्रखर था,
प्रजा पालने मे वह राजा पूरा इन्द्र प्रवर था ।

४८

एक सर्वगुण सम्पन्ना थी उसकी अच्छी रानी,
सफल राज्य मे सींच रही थी वह करुणा का पानी,
लहराती थी प्रजा जनो की मनोवाञ्छाये यो—
इन्द्रलोक मे देव-गणो की सब आकाक्षाये, ज्यो ।

४९

सब ओरो से पर्वत माला घेरे थी जन-पद को,
माता के समान, रखती थी दूर सदा कुविपद को,
शुभ्र हेम-हिम से आच्छादित उसकी शिखरे सारी,
नवल उषा उन पर मोहित हो, जाती थी बलिहारी ।

५०

स्वर्ण छटा से जब आलोकित होती पर्वत श्रेणी,
तब मानो रवि किरण गूँथती थी उसकी शुभ वेणी,
पर्वत माला अपने हिय का हिम पिघला-पिघला कर,
सूर्य देव को जलार्घ्य देती थी हिय को विकसा कर ।

५१

गा कल-कल-विभास-स्वर झरने सब दौडे फिरते थे,
एक दूसरे के अङ्को मे हो प्रसन्न गिरते थे,
उस पार्वत्य प्रदेश-भूमि मे नित ऐसी लीलाये,–
नृत्य सदा करती थी होकर अति क्रीडा शीलाये ।

५२

रंगमञ्च गान्धार देश था चिर नर्तकी प्रकृति का,
जहाँ खेल होता रहता था प्रकृति नटी की कृति का,
दुर्गम छोटे-छोटे पर्वत-मार्ग अनेक खचित थे–
मानो भूधर के ललाट पर चिन्ता-चिन्ह रचित थे ।

५३

पर्वत पादस्था उपत्यका शोभित यो होती थी–
आरोहण की लय अवरोहण मे मानो सोती थी,
पर्वत की शुभ्रता और भू की कालिमा निराली,–
मानो श्वेत कृष्ण केशो की बनी हुई थी जाली ।

५४

ऊपर से झरने गाते थे, नीचे से सब पक्षी,
मानो लगा रहे थे प्राणो के पण आन विपक्षी,
आँख फाड कर देख क्या रही हो, ऊर्म्मिला सलोनी ?
कथा सुन रही हो कि नही, री, तुम छोटी सी छौनी?"

५५

"जीजी, दो-दो काम कहो मै कैसे करूँ ? बताओ ?
कथा सुनूँ ? या शोभा देखूँ ? यह मुझ को समझाओ,
ऐसी-ऐसी बडी-बडी ये बाते तुम ने जानी ?
जीजी, तुम तो बन बैठी हो बस पूरी गुर्वाणी !

५६

जब तुम झरने, फूल, पक्षियो की बाते करती थी,–
जब तुम पर्वत-शोभा कह कर मेरा मन हरती थी,–
तब मै समझ रही थी मानो तात चले आये है–
कह-कह कर ये बाते मेरे मन को उलझाये हे ।"

५७

"मै जब अच्छी कथा कह रही होती हूँ तब तुम यो–
सदा, ऊर्म्मिले, बीच-बीच मे बकती जाती हो क्यो ?
मै क्या करूँ ? तात ने जैसी बाते मुझे बताई –
वे सब मम हिय मे चित्रित हो आज उभर कर आई ।

५८

अब न बीच मे गडबड करना, तुम अब सुनती रहना–
प्यारी-प्यारी यह छोटी सी सारी गाथा, बहना !
हॉ, तो मै क्या कहती थी ? हॉ, हॉ, गान्धार नगर मे–
राज्य कर रहा था नृसिह इक राजा उस प्रान्तर मे ।

५९

उस राजा के एक कुँवर था, और एक थी कुँवरी,
सुनती हो?"–"हॉ,एक कुँवर था और एक थी कुँवरी।"
"राजा शिक्षाये देता था शास्त्र शस्त्र की उनको,
दी थी गुरु ने निर्म्मल दीक्षा कई अस्त्र की उनको ।

६०

वे॰ दोनो राजा रानी के, जीवन के तारे थ,
कई उन्होने अपने ऐहिक सुख उन पर वारे थे,
माँ की प्यारी गोदी मे जब दोनो छुप जाते थे—
स्नेह-भाव रानी के उस क्षण अद्भुत सुख पाते थे।"

६१

"जीजी, क्या ही अच्छा होता यदि तुम-हम वे होते,
मै भगिनी, तुम तात चरण के होते बस इकलोते,
हम तुम दोनो खूब देखते पर्वत की शोभा को,
दीप्तिमान शिखरो की सारी आभा मन-लोभा को।"

६२

"फिर बोली तुम?"—"अच्छा, अच्छा अब न कभी बोलूँगी
कहे चलो तुम, कभी न अपनी अब जिह्वा खोलूँगी।"
"अच्छा, फिर बस इसी तरह कुछ बरस कट गये उनके,
दोनो भाई-बहन, सुनो, आगार हो गये गुन के।

६३

राजा की उस प्यारी बेटी की सुकान्ति कमनीया—
चमक-चमक कर दिग्दिगन्त मे व्याप्त हुई रमणीया,
वह पार्वत्य प्रदेश हुआ अति मुखरित उस की छबि से—
ज्यो प्रातर्वेला होती है मुखरित आगत रवि से।

६४

प्रबल प्रतापी राजकुँवर वह आर्य्य मुकुट का मणि था,
वह था नर शार्दूल, दस्युओ का दल करि-करिणी था,
उसके सन्निधान मे बैरी कभी न टिक पाते थ,—
उसके बाण, दस्यु-तम, रवि-कर-सदृश काट आते थे।

६५

उसी राज्य के निकट अनार्य्यो का राजा बसता था—
जो गान्धार देश के राजा से लडता रहता था,
कई बार उस ने परास्त होकर हा-हा खाये थे
आर्य्यो की उदारता से फिर स्वाधिकार पाये थे ।

६६

उसी देश के उस य कश्चित् राजा ने जब देखा—
सिह-शावकी आर्य्य सुन्दरी को, जब उसने पेखा,—
तब वह फिर से युद्धोद्यत हो गया और यो बोला—
कृतघ्नता का दुष्ट भाव ज्यो जगती मे हो डोला ।

६७

मेरी पुत्रवधू होगी यह आर्य्य सुन्दरी लौनी,
अथवा भेरी बजा चलेगी फिर मेरी अक्षौणी,
कर दूँगा गान्धार देश का गर्व चूर्ण मै क्षण मे,
अब की बार मिलाऊँगा मै उस नगरी को कण मे ।

६८

आर्य्य नृपति गान्धार देश के यह सुन क्रुद्ध हुए यो—
दिनमणि अपने विस्तृत नभ-पथ मे अवरुद्ध हुए ज्यो,
भौहो मे बल पडे, आँख से निकले अग्नि-अँगारे,
असि खनकी, धनु तने, बज गये भेरी और नगारे ।

६९

हिम मण्डित गान्धार देश की श्यामल घाटी-घाटी—
हुई निनादित, वीरो ने निज तन से वह सब पाटी,
उमड चली शोणित की सरिता, आर्यवीर सब कडके !
ढेर लग गए मुण्ड-झुण्ड के और सहस्रो धड के ।

७०

राजकुमार अनार्य्य दलो मे ऐसे टूट पडा था,—
पूर्वकाल मे इन्द्र वृत्र पर जैसे टूट पडा था।
किन्तु बहन ऊर्म्मिले, अरी कुछ बात हो गई ऐसे—
बैरी की कौटिल्यमयी कुछ घात हो गई ऐसे—

७१

नर शार्दूल नृपति को, नरवर राजपुत्र को, प्यारी,
दुष्ट वैरियो ने छल-बल से बन्धन युक्त किया, री,
इसे देख कर आर्य्य वीर दल सब हत-बुद्ध हुआ, री,
प्रत्यचाएँ ठिठकी, धीमा-सा कुछ युद्ध हुआ, री।

७२

सुनती हो ऊर्म्मिले?"—'कहे जाओ तुम, मै सुनती हूँ,
बहुत ध्यान से, जीजी, मै सारी बाते गुनती हूँ,
फिर क्या हुआ बताओ जल्दी, कहाँ गई सुकुमारी?
आर्यो के, गान्धार देश की थी जो परम दुलारी?"

७३

"सुनो, बात जब यह पहुँची उस सुन्दर राज-भवन मे,
लगी आग तब राजकुमारी के कोमल, मृदु तन मे,
तमक उठी वह, कस कर बाँधी उस ने अपनी वेणी,
कटि बाँधी, तूणीर कसा, फिर बोली वह पिक बैनी,—

७४

'आर्य्यो की बेटी हूँ, माँ, मै इस खल को समझूँगी,
तेरा दूध पिया है मैने, अब रण मे जूझूँगी।
हूँ गान्धार देश की बाला, देखूँगी इस शठ को,
ठोकर मार चूर्ण कर दूँगी इसके कच्चे घट को।

७५

यह कृतघ्न निज दर्प-मृत्तिका का कच्चा घट लाकर,–
आर्यों की मेदिनी-शिला से टकराता है आकर ?
विश्व देख ले आज कि किसको आर्य-सुता कहते है,
यह भी देखे विश्व कि किसको अग्नि-हुता कहते है ।

७६

फूल उठी माता सुन उसके विकट वीर वचनो को,
अपनी प्यारी पुत्री के उन निपट धीर वचनों को,
वह बोली––मै धन्य हुई हूँ, मेरी बेटी प्यारी,
चलो आज हम चले जूझने की करके तैयारी ।

७७

दासी, अश्वो को लाओ, मम शस्त्रो को भी लाओ,
आज राज-महिषी के सारे युद्ध-वस्त्र ले आओ ।
यो कह वीर राजरानी जब खडी हुई सज्जित हो,–
तब कोमलता वीर सरोवर मे आई मज्जित हो ।

७८

उछल तुरगो पर वे बैठी तेज-पुञ्ज ज्वालाएँ,
राजमार्ग मे दीप्त हो उठी यथा अग्नि-मालाएँ ।
तब सारे गान्धार नगर मे उमडा एक उदधि था,–
छोड रहा वीरत्व उछल कर निज सीमान्त-परिधि था ।

७९

तब श्यामल घन-गर्जन-स्वर से बोली राजकुमारी,
मानो बिजली कडक-कडक कर दूर करे अँधियारी,
'सुनो वीर, गान्धार देश की वीरागना, सुनो तुम–
जल्दी साजो अपनी अपनी तुरगागना, सुनो तुम ।

८०

आई अति भारी विपत्ति है आज देश पर अपने,
नीच अनार्य्य शशक आया है सिह देश में खपने,
मेरे पिता और भाई को उस ने छल के बल से,
बन्धन-युक्त किया है, आओ हम जूझे उस खल से ।

८१

भाई, पिता, पुत्र जो अपने करने युद्ध गये है–
वे नरपति के पकडे जाने से हत-बुद्धि हुए है,
चलो, आज इस पूर्ण यज्ञ मे बहनो, आहुति डालो,
अपने-अपने तीर धनुष को तुम सब आज सँभालो ।

८२

कहे न कोई––आर्य-देश की ललनाएँ कायर है,
दिखला दो तुम हृदय तुम्हारे मृदु है पर पत्थर है ।
कस लो बेणी, कटि-पट बाँधो, लेलो धन्वा, भाले,
चलो, करो ऐसे प्रहार जो अरि के हिय मे शाले ।

८३

आर्य्य देश के वृद्ध पितामह, आप सभी है ज्ञानी,
भेजे आप सुताएँ , वधुएँ, दे निज आशीर्वाणी ,
अपने शोणित को देकर निज देश स्वतन्त्र करे वे,–
निष्फल अरि की कुटिल नीति का यह कटु मत्र कर वे ।

८४

आज आग लग जाए ऐसी, धुआँ उठे चहुँ ओर ।
आर्य पुत्रिया, रणचण्डी बन थामे निज धनु-डोर ।
अरि के कलुषित हृदय-देश को बेधे, कर दे क्षीण ।
आज दिखा दे वे अपने असि-धनु के हाथ प्रवीण ।

८५

स्वर्गादपि गरीयसी प्यारी, जन्मभूमि का पल्ला—
खीचा है दुष्टो ने, बोला है स्वदेश पर हल्ला,
कौन हृदय है जो कि न उबले निज समाज की क्षति मे ?
कौन आँख है देख सके जो माँ को इस दुर्गति मे ?

८६

आज लहलहाती उपत्यका रक्त धार से सीचो !
रोष कँपा दे तुम्हे, कोष से खर तलवारे खींचो !
भूखी सिंहिनियो के सम बस टूट पडो तुम रण मे !
कर दो प्यारी मातृभूमि की व्यथा दूर तुम क्षण मे !'

८७

क्रोधित राजकुमारी के सुन उन वचनागारो को—
थर्रा गई मेदिनी, सुन कर धनु की टकारो को !
उछल पडा बल्लियो हृदय का रोष, कृपाणे चमकी,
डोल उठे दिग्गज मतवाले, और दिशाएँ दमकी ।

८८

वृद्ध नागरिक बोल उठे,—सुन बेटी, राजदुलारी,—
इन्ही भुजाओ ने तो की थी मातृभूमि-रखवारी ?
खड्ग थाम सकती है, यद्यपि अब कुछ निबल पडी है,
हृदयो मे प्राणो की धारा अब भी प्रबल बडी है ।

८९

यह धारा जब बह निकलेगी तब अरि दल काँपेगा,
कण्ठ हमारा कडखे का स्वर फिर से आलापेगा !
चले आज हम, और हमारी बहुएँ सग चलेगी,
आज हमारी ये तलवारे अरि का झुण्ड दलेगी ।

९०

फिर तो, मेरी विमल ऊर्म्मिले, चली अनोखी सेना,
अश्व हिनहिनाए, कुँवरी का चमका भाला पैना !
आगे वृद्ध वीर थे, पीछे थी गान्धारी नारी,—
विजय-भावना ने ज्यो मति का शुभ अनुगमन किया, री।

९१

रणोन्मत्त वृद्धो ने अपनी सुध-बुध सब बिसराई,
मानो अश्वो पर आ बैठी मूर्तिमती ठकुराई,
शुभ्र केश दाढी के मारुत मे यो लहराते थे—
विजय निशान आर्यगण के वे मानो फहराते थे ।

९२

जिन कर मे भाले थे, वे थे वृद्ध किन्तु बलशाली,
उन पर पड कर नाच रही थी रवि-किरणे मतवाली ,
उन बूढे हाथो मे शोभित होते थे यो भाले,—
मानो स्थविर सँपेरे लाये विषधर काले-काले ।

९३

थी वधूटियाँ अति कठोर धनु-धारण-क्षमता-शाली,
अरि-दल के कलुषित हृदयो मे तीर बेधने वाली ,
उनकी कृष्ण वेणिया सुन्दर पट से यो आवृत थी,
यज्ञ-धूम्र-कुण्डलियाँ मानो वेदी से परिवृत थी ।

९४

चाप-मौर्वी ने उन कोमल स्कन्धो को घेरा था,
कोमलता के घर कठोरता ने डाला डेरा था,
वह कोमल सुस्कन्ध देश औ' वह कठोर प्रत्यञ्चा,—
रण देवी से आर्य्य-विजय की करती थी शुभ याञ्चा ।

९५

घिरी मेखला से कटियाँ, थी लटक रही तलवारे,
उद्गीरित होती थी कण्ठो से जय की ललकारे,
रण मे रग खेलने चल दी थी ये सब पार्वतियाँ,
चल दी थो गान्धार देश की लज्जा रखने सतियाँ ।

९६

ये बालाएँ पहुँच गई क्षण भर मे युद्ध-स्थल मे,
नये प्राण आए योद्धाओ के विशृङ्खल दल मे,
मा, बहनो, पुत्री, नारी को देख बढे हिय उन के,
फिर क्या था ? वे लगे बेधने अरि-दल को चुन-चुन के ।

९७

क्षण भर मे गान्धार दश की अक्षौहिणी बढी यो,—
सहसाऽक्रमण कारिणी सरिणी की हो धार चढी ज्यो ।
योद्धाओ की हुकारो से दिशा गूँज उट्ठी सब,—
गिरि-गिरिसे प्रति-गर्जनकी ध्वनि घहर-घहर उट्ठी तब।

९८

परशु परशु से लडा, भिड पडी आपस मे करवाले,
गदा गदा से जुटी, झन-झनाए भालो से भाले,
धन्वा से उड चले बाण, वे बरसी तीखी बरछी,
करने लगे प्रहार वीर सब लिये कटारे तिरछी ।

९९

रण-चण्डी-सम जूझ उठी वह राजसुता सुकुमारी,
उसकी आँखो मे छाई थी रण की एक खुमारी,
उस कृतघ्न राजा की छाती मे था उस ने साधा,—
अपना तीर, और फिर उसको खूब जकड कर बाँधा ।

१००

बस, फिर तो अनार्य-दल भागा पीठ दिखाँकर ऐसे,—
भाग खडे होते है मृग सब देख सिह को जैसे,
आर्य्य नृपति नरवर कुमार हो मुक्त आ गए दोनो,
देख दृश्य, वे निज आँखो का सुफल पा गए दोनो।

१०१

राजा ने सब ललना-गण को दण्ड प्रणाम किया तब
अपने लोचन के पानी से सबको अर्घ्य दिया तब,
हो प्रसन्न भाई ने चूमा निज भगिनी के शिर को,—
ज्यो हेमन्त चूम लेता है अपनी बहिन शिशिर को।

१०२

मेरी कथा समाप्त हुई है, अब तेरी बारी है,—
क्यो न ऊर्म्मिले ? तू तो मेरी नन्ही-सी प्यारी है,
माँ ने तुझे कहानी जो थी कही, उसे तू कहना,
देख कही पागलपन कर के चुप बैठी मत रहना।"

१०३

"सीता जीजी, सकुचाती हूँ अब मै वह कहने मे,
भला समझती हूँ मै अपना बस अब चुप रहने मे,
की है श्रवण तुम्हारे मुख से यह सुन्दर-सी गाथा—
जिस मे वर्णित अद्भुत बल उस आर्य सुन्दरी का था।

१०४

मेरी कथा बहुत छोटी-सी है, क्या उसे सुनाऊँ ?
उसको कह कर के, जीजी, मै कैसे तुम्हे लुभाऊँ ?
रहने दो , वह मेरी गाथा तुम्हे नही भाएगी,
मम गाथा, तव गाथा-पटु मन नही लुभा पाएगी।"

१०५

यह सुन सीता रूठ गई, कुछ होकर तनी-तनी-सी,
कहने लगी ऊर्म्मिला से वह कुछ-कुछ रोष-सनी-सी,
'मुझसे कभी कहलवाना अब तुम कुछ नई कहानी–
तब मैं जानूँगी, हाँ, हो तुम नटखट और सयानी।"

१०६

देखो, मैं तुम से अब, जाओ, कभी नही बोलूँगी
आज अकेली ही मै सारे उपवन मे डोलूँगी,
मा से कह दूँगी कि तुम्हारी छोटी बेटी प्यारी–
खूब भूल जाती है कहकर निज की बाते सारी।"

१०७

"बात बात मे रूठ बैठना, तुम ने कब से सीखा ?
मेरी जीजी बनी मानिनी मुझ को अब यह दीखा।
तनिक-तनिक-सी बातो पर क्या मुझ से मुँह मोडोगी?
अपनी बहिन ऊर्म्मिला को क्या जीजी, यो छोडोगी ?"

१०८

यह सुन सीता हँसकर उससे लिपट गई प्रमुदित हो–
ज्यो गिरिजा से आ लिपटी हो नव शशि-कला उदित हो,
फिर धीरे से बोली, "प्यारी बहिन ऊर्म्मिला मेरी,–
कहो कहानी जल्दी से, क्यो लगा रही हो देरी ?

१०९

देखो, मैने तुम्हे सुनाई कैसी सुघर कहानी,
अब तुम क्यो सकोच-जाल मे बैठी हो अरुझानी ?
मुँह तो खोलो रच, करे हम-तुम बाते घुल-घुल के–
कहो कहानी अपनी, फिर, हम चुने फूल मिल-जुलके।

११०

लो, माँ बैठी, हम दोनो की बाट जोहती होगी,
सूची सूत्र लिये, मालिन-सी, सुघर सोहती होगी,
अपनी आख्यायिका कहो तुम, यो सकुचाती क्यो हो ?
छुई-मुई-सी आज कहो तो तुम मुरझाती क्यो हो ?"

१११

"अच्छा जीजी, वही कहानी मै हूँ तुम्हे सुनाती,
है छोटी सी तो भी वह है मुझ को बहुत सुहाती,
मेरी गाथा मे न मिलेगी वह शोभा पर्वत की,
फिर भी, सुनो, है नही इस मे यदपि चमक मर्कत की।

११२

किसी एक जगल मे रहता झुण्ड कपोतो का था,
हो स्वतन्त्र उस वन-प्रदेश मे वह विचरा करता था,
फैला कर अपने पखो को वे घूमा करते थे,
वन की निर्जनता को अपने कूजन से हरते थे ।

११३

बडे-बडे वृक्षो से पूरित शोभित था वह वन यो,–
वृद्धिगत पुण्यो से होता शोभित नर का मन ज्यो,
वे विशाल पादप पृथ्वी के प्यारे वक्षस्थल पर–
शिशु-क्रीडा करते थे नित प्रति हिल-डुल मचल-मचल कर ।

११४

अखिल निम्न भूभाग जिस समय सोता था निदिया मे,-
अन्धकार का राज जिस समय रहता था दुनियाँ मे,–
उस अवसर मे प्रात समीरण आकर हलके हलके–
जागृत करता था वृक्षो को धीरे-धीरे चल के ।

११५

वृक्षो की लहलही डालियाँ, ऊँची-ऊँची उठ कर–
अपरस्परवेष्टिता , नृत्य वे नित करती थी जुट कर,
पत्ते भू पर इधर उधर गिर कर मारे फिरते थे,–
मानो नृत्य-तरंगित-भुज से कनक वलय गिरते थे ।

११६

प्रात काल स्वर्णमय डाले नित्य हिला करती थी,
आतुर-सी वे बाल सूर्य्य के गले मिला करती थी,
तब कपोत समुदाय, फडफडा कर अपने पखो को,
कर तल ध्वनि कर, रवि-कर-अर्पित करता था अगो को।

११७

जब रवि अपने प्रखर करो मे ज्वाला ले आता था,–
झुलसाने को पृथ्वी जब वह क्रोधित हो जाता था,–
तब वे सघन वृक्ष उस भू की करते थे रखवारी,
ज्यो सपूत बालक करता है रक्षित, निज महतारी ।

११८

छन-छन कर वृक्षो से आती थी सूरज की किरणे -
वसुन्धरा के ललाट से जल मुक्ताओ को बिनने,
मानमर्दिता आततायिनी मानो लडते-लडते–
धीरे से चल दी हो हा हा खाने डरते-डरते ।

११९

अपने-अपने नीडो मे नित सब कपोत मतवाले–
कूजन करते थे पी-पी कर तोष-सुरस के प्याले,
वे प्रमुदित हो सदा चिढाते थे निदाघ की ज्वाला
शान्तिरूपिणी उन के नीडो की थी मजुल माला।

१२०

सध्या को अन्तिम प्रणाम जब रवि करता था वन को–
तब कुकुम से नहला देता था निलयो के तृण को
गुटुर-गुटुर कर सब कपोत गण धन्यवाद देते थे,
फिर उस विस्तृत नैशाञ्चल को आप ओढ लेते थे ।

१२१

अरी ऊर्म्मिले !" "हाँ," "क्या मेरी वे बाते थी ऐसी–
जिन को सुनते-सुनते तुम अति चकित हुई थी वैसी ?"
'हाँ जीजी," "चल पगली, भूल न जाओ तुम अपने को
सुन तव बाते लगी देखने मै चित्रित सपने को ।

१२२

आज तुम्हारे मुख से यह वन-वर्णन सुनकर रानी,–
मैने सोचा, आज आ गई वन-देवी कल्याणी ।"
"जीजी, यो न बनाओ, माँ की बाते यदि तुम सुनती–
तब मेरी बातो को मन मे यो न कभी तुम गुनती ।

१२३

हा, तो सुनो, निरापद वन मे सब कपोत रहते थे,
नत्य निपट नि शक कपोती-सग उडा करते थे,
एक नीड मे एक प्रफुल्लित कबूतरी बसती थी–
निज कपोत की गुटुर-गुटुर सुन वह प्रसन्न हँसती थी ।

१२४

एक दिवस वह शुभ्र कबूतर कबूतरी से बोला–
सुन प्यारी कबूतरी, मेरा मन है कुछ-कुछ डोला,
आज दूर उड कर जाऊँगा मै अति निर्जन वन मे,
और बिताऊगा अपना कुछ काल आत्म-चितन मे ।

१२५

सूख गई चिन्ता से, उसके सुन ये वचन, कपोती,
ढलक पडे उसकी आँखो से आतुरता के मोती,
सूख गया कल कण्ठ, रुक गई गुटुर-गुटुर की ताने,—
तडप उठा हिय, मानो मारा बाण खीच व्याधा ने।

१२६

उसकी दशा देख पारावत व्यग्र हो गया हिय मे,
देख आँसुओ की धारा को दुखित हुआ वह जिय मे,
उस ने बडे प्यार से पोछी उस की आँखे गीली,
सवेदन की धारा उमडी हिय-तल बीच रसीली ।

१२७

फिर बोला, 'हे प्रिय कबूतरी मेरी, क्यो रोती हो ?
वृथा, हृदय मे शोक-अग्नि से क्यो विदग्ध होती हो ?
मै जल्दी ही आ जाऊँगा उस निर्जन कानन से,
क्षण भर भी न भुलाऊँगा मै तुमको अपने मन से।'

१२८

यह सुन, हिय पर पत्थर रख कर कबूतरी वह बोली,—
अपनी हृदय-नीवियाँ उसने धीरे-धीरे खोली,
मानो शान्त नीड मे धधकी दावानल की ज्वाला,
अथबा नेह-कमल-सर मे पड गया निराशा-पाला ।

१२९

हे कपोत, उट्ठी कैसी यह हिय मे विकृता लय है ?
किन हाथो ने, हाय, उजाडा मेरा सुखद निलय है ?
तुम यह क्या कहते हो ? मै कुछ समझ नही पाती हूँ,
सुन ये वचन, दुख-सागर मे मै तो उतराती हूँ ।

१३०

तुम यदि जाओगे तो मै भी सग चलूँगी, प्यारे !
मैं कैसे निकाल सकती हूँ निज आँखो के तारे ?
वन की निर्जनता मे तुम को मै न कष्ट कुछ दूँगी,
मधुर तुम्हारी गुटुर-गुटुर को सुन मै मस्त रहूँगी ।

१३१

खूब आत्मचितन तुम करना, मै तुम को ध्याऊँगी,
यो आत्मोन्नति-पराकाष्ठा को मे, प्रिय, पाऊँगी,
किन्तु छोड कर मुझे न जाना तुम कपोत, हे मेरे !
मेरी नैश जीवनावधि के हो तुम सुभग सवेरे ।'

१३२

"फिर क्या हुआ ऊर्म्मिले ?" "सुन ये रसमय वचनावलियाँ—
व्याकुल हुआ देखकर अर्पित चिर सनेह की कलियाँ,
फिर धीरे से निज कबूतरी से पारावत बोला—
मानो प्रेम भाव को उन ने त्याग भाव से तोला

१३३

'हे चचले, वृथा शोकाकुल इतनी तुम होती हो—
नेह-पाश मे बँधी हुई तुम क्यो धीरज खोती हो ?
मै जल्दी ही आ जाऊँगा, करो न यो तुम चिन्ता,
रहो नीड मे सौख्य शान्ति से कुछ दिन हो निश्चिन्ता ।'

१३४

अन्य कपोतो के नीडो मे उड-उड कर तुम जाना—
यो अपनी वियोग की घडियाँ सुख से, अहो, बिताना,
कभी बुला लेना निज गृह मे अन्य कपोती-गण को,
कभी निमन्त्रण देना अपनी उस गिलहरी बहन को ।

१३५

नन्हे-नन्हे कबूतरो की सुनना गुटुर-कहानी,
प्यारी, अर्द्धस्फुटिता, तुतली उनकी बाते, रानी,
कभी डालियो पर प्रमुदित हो उड कर बैठी रहना,
कभी-कभी सखियो से तुम सब अपनी बाते कहना।

१३६

जल्दी से वियोग की घडियाँ कट जाएँगी सारी,
मै आ जाऊँगा जल्दी तब सुखद नीड मे, प्यारी,
मेरी अनुपस्थिति मे तुम नित धीरज धारे रहना,
रहो यही, मेरी कबूतरी, मानो मेरा कहना।

१३७

यती कबूतर ने, कबूतरी को यो बाते कह कर—
हिय से लगा लिया उत्सुक हो स्नेह-धार मे बह कर,
उडा कबूतर फिर, वह उसके अश्रु-सिक्त पत्रो से—
कानन मे बरसी फुहियाँ, जल-सिञ्चित सुपतत्रो से।

१३८

आह बिचारी वह कबूतरी बेठी-बैठी-बैठी—
रोती रही, शोक-सागर मे पैठी-पैठी-पैठी,"
"अरी ऊर्म्मिले, तव कबूतरी ऐसी थी क्यो पगली ?
अपने प्रिय कपोत के सँग वह क्यो न विपिन मे निकली ?

१३९

यदि कबूतरी मै होती तो कभी न रहती घर मे,
साथ-साथ मै उडती फिरती वन मे और नगर मे,
कभी न उसका सग छोडती चाहे जो हो जाता,
चाहे वह कपोत कितने ही मेरे हा-हा खाता।"

१४०

"सीता जीजी, कह सकती हो तुम ये बाते कैसे ?
हठ धर्मी कैसे कर सकती तुम कपोत से ऐसे ?
वह कबूतरी बडी मृदुल थी वह हठ कैसे करती ?
इन बातो पर वह कपोत से, बोलो, कैसे लडती ?

१४१

अस्तु, कबूतर उडा और वह बैठी रही कपोती,
अटवी मे अपनी आहो को नित रहती थी खोती ,
पल बीते, घटिकाएँ बीती, युग की बारी आई,
क्षण-क्षण उसके जीवन-पथ मे घन अँधियारी छाई ।

१४२

बाट जोहती रही प्रति दिवस, पर, न कबूतर आया,
दाना खाना छोडा उसने, छोडी जग की माया,
छोटी-छोटी सब कपोतियाँ उसको समझाती थी,
बडी-बडी सब सखियाँ उसका तन मन बहलाती थी ।

१४३

पर उसके जीवन मे धक-धक-धक जलती थी ज्वाला,
एक धुआँ मँडराया करता था वह काला-काला,
एक दिवस जब अस्ताचल से रवि की किरणे आई ,
तब उन किरणो ने कबूतरी प्राणहीन थी पाई ।

१४४

अब तुम क्यो चुप बैठी हो ? है यही कहानी मेरी,
क्यो उदास हो देख रही हो जीजी, रानी मेरी ?"
"सुनो, बहन ऊर्म्मिले, मुझे अब ऐसी कथा न कहना ।
रोने-धोने की बातो से अच्छा है चुप रहना ।"

१४५

'अच्छा, अच्छा, चलो चले अब फूल तोडने को हम,
माँ की पूजा-सामग्री को चले जोडने को हम,
देखो, कैसी खडी हुई है फूली सुघर चमेली,
क्या सूरज ने आकर इससे आँखमिचौनी खेली ?"

१४६

आहा! उठ कर चल दी दोनो ये बालिका सलौनी,—
मानो वायु उडा लाई हो दो मालिका सलौनी,
प्रति डाली से, प्रति पत्ती से, प्रति अधखिली कली से—
"आओ, आओ!" का रव गूँजा प्रति मृदु कुज-गली से।

१४७

"देखो जीजी, मैंने कैसी अच्छी कलियाँ तोडी।"
"अरी ऊर्म्मिले, मै ने तेरे लिए जुही है छोडी,"
"जीजी, देखो, यह गुलाब है कैसा अभिमानी-सा,—
खडा-खडा दे रहा दान है यह तामस दानी-सा।"

१४८

"यह केतकी, ऊर्म्मिले, है सब कञ्जूसो की नानी।
काँटो से अपनी कलियो को है ढँक रही सयानी।"
"देखो जीजी, छिन्न मुकुल ये पडे क्यो यहाँ पथ मे ?"
"इनको पौधो ने बिखराया है तेरे स्वागत मे।"

१४९

"जीजी, तुम्हे याद है फूलो की कुछ कथा-कहानी ?"
"पूछो किसी कपोती से, हो कपोतियो की रानी!"
"क्या गान्धार देश की बाला तुम से कुछ न कहेगी ?"
"बक-बक करती जाएगी या तू अब मौन गहेगी ?"

१५०

"ओहो ! जीजी ! डॉट-डपटन। कब से तुम को आया ?
किस गुर्वाणी ने तुमको यह नव गुरुमन्त्र पढाया ?"
"नट-खटपन करती जाओगी या तुम फूल चुनोगी ?
माँ बिगडेगी यदि तुम मेरी बातो को न सुनोगी ।"

१५१

जो प्रासादोद्यान स्वनित था होता इस मृदु स्वर से,—
जहाँ तरंगित होता मारुत था इस स्वर हिय-हर से,—
वहाँ एक क्षण तू रह पाता यदि हे रंक, भिखारी,—
तो फिर, वह निर्वाण-मधुरता तुझ को लगती खारी ।

१५२

यो हँसती, क्रीडाएँ करती, दोनो जनक-दुलारी,—
पुष्प-चयन कर, चली हर्म्य को दोनो नवल कुमारी,
भुज लतावलम्बित करण्डको के प्रसून हँसते थे,
विमल भक्ति के भाव कुसुम की पँखुरी मे फँसते थे ।

१५३

धीरे-धीरे जब वे दोनो पहुँची जनकालय मे,
तब मानो उद्यानो से उड आए विहग निलय मे,
सीता और ऊर्म्मिला दोनो लिपट गई माता से,—
मानो दो बछडियाँ गाय की चिपट गई माता से ।

१५४

"सीते, तुम हो बडी अनोखी, मै बैठी हूँ कब से ?
मार्ग देखती रही तुम्हारी, अरी ऊर्म्मिले, तब से ।
इतनी देर लगाई क्यो तुम दोनो ने उपवन मे ?
भला कही, होता विलम्ब है इतना पुष्प-चयन मे ?

१५५
क्या तुम करने लगी वहाँ पर, कहो, ऊर्म्मिले मेरी ?
क्या नव तात चरण उपवन मे तुम्हे आ मिले थे, री ?"
"ना, माँ, मे सीता जीजी से कहने लगी कहानी,
वही कहानी, मा, जिसमे थी कबूतरी बिलखानी ।"

१५६
"और सुनाई थी मैंने उसे पुण्य देश की गाथा,—
जिसमे बाला ने अनार्य्य का झुका दिया था माथा,
माँ, ऊर्म्मिला बडी रोनी-सी बात कह रही थी, री,
और मुझे सँग लिए दु ख मे आप बह रही थी, री ।

१५७
ऐसी-ऐसी बातो को तुम क्यो कहती हो, री माँ,
तुम क्या ऐसी बातो से भी सुख लहती हो, री, माँ ?"
"बेटी सीता, अच्छा होता है ये बाते सुनना,
एकाधिक तारो से जीवन-पट पडता है बुनना ।

१५८
किन्तु कहानी सुन कर मन मे तुम दुख क्यो करती हो ?
बातो से प्रेरित होकर क्यो आहे तुम भरती हो ?
आर्य बालिका है वह ही जो दुख के आ जाने पर—
पर्वत तुल्य अचल रहती है, घोर घटा छाने पर ।"

१५९
"मा, मै कुछ पूछू ?" यो उत्सुक विमल ऊर्म्मिला बोली,
"हँसना मत" यो कथन कर उठी उस की पृच्छा भोली,
"तुम हँस दी थी उस दिन पूछी वे बाते जब मैने,
भेद नही पाया है अब तक उन का माता, मैने ।"

१६०

"री, नन्ही ऊर्म्मिले, जानती हूँ सब बाते तेरी,
ऐसी पगली कहाँ मिलेगी जैसी तू है मेरी,"
"क्या है बात मुझे भी कह दो," सीता यो उठ बोली,
मूर्तिमती उत्सुकता ने ज्यो अपनी आँखे खोली ।

१६१

"सीता जीजी, बडी भुलक्कड हो, तुम भूल गई क्या ?
उपवन की वे बाते विस्मृति-सरिता-कूल गई क्या ?"
"क्या कपोत वाली बाते ? हूँ ! कहाँ उन्हे मै भूली,"
"जीजी, कपोतियो के पीछे डोल रही हो फूली ।"

१६२

"देखो, माँ इसकी बाते, तुम निज बेटी को देखो,—
अपनी नन्ही सरल ऊर्म्मिला के रँग-ढँग तो पेखो ?
स्पष्ट रूप से कहने मे तुम यो सकुचाती क्यो हो ?
यदि मै भूल गई हूँ तो फिर मुझे खिझाती क्यो हो ।"

१६३

"जीजी री, बिगडो मत, माला वाली बात वही है,
जो मैने उपवन मे तुम से पूछी, और नही है ।
तात चरण की ग्रीवा मे, माँ क्यो पहनाती माला ?
क्यो उनकी आँखो मे उस क्षण आता नव उजियाला ?"

१६४

"हाँ, हाँ, माँ, बतलाओ, री, तुम ऐसा क्यो करती हो ?
कभी मूँद कर आँखें किस का विमल ध्यान धरती हो ?
तात चरण जब आते है तब तुम क्यो हँस देती हो ?
अपनी माला उनको देकर फिर क्यो ले लेती हो ?"

१६५

"हाँ, हाँ, पूछी मुझसे इस ने ये बाते उपवन में,
मै क्या बतलाती ? मै भी कुछ समझ न पाई मन मे,
अब तुम बतलाओ, री माँ, तुम हो अच्छी माँ, मेरी ।"
बोल उठी दोनो नन्दिनियाँ यो जिज्ञासा-प्रेरी ।

१६६

आन ऊर्म्मिला ने पीछे से अपनी दोनो बाहे,–
डाल गले मे दी,–मानो दो छोटी-छोटी चाहे,–
किसी वानप्रस्था की तन्मय विरत ग्रीव मे आ कर,–
झूल रही हो, उस ग्रीवा को पुद पर्य्य क बना कर ।

१६७

माँ का अञ्चल खीचा सीता ने गोदी मे गिर कर,
ढाका निज मुख ज्यो किचपलता क्षणिक शान्ति से घिरकर
सुख-आशा मे एक निमिष को स्तब्ध बैठ जाती है,
त्यो ही मेरी स्वप्निल आँखे सीता को पाती है ।

१६८

"नन्ही सी ऊर्म्मिले, और तुम सीते, हठ धरती हो,
मेरी छोटी-सी छायाओ, तुम यह क्या करती हो ?
माला मझे गूँथ लेने दो, न अब और बिलमाओ ।
सूची-सूत्र मुझे लाकर दो, उठो, दौड कर जाओ ।"

१६९

"परिचारिके, यहा आओ" यो बोली ऊर्म्मिल लौनी–
"माँ, अपने विचार को तुम अब रख न सकोगी मौनी,
मै गुर्वाणी बन बैठी हूँ, आज परीक्षा लूँगी
मै दीक्षित हूँ और आज मै तुम को दीक्षा दूँगी ।"

१७०

जनक-प्रिया ने ये बाते सुन कर अपने, हाथो से,
छोटी बेटी को थामा, बह चला नेह गातो से,
आँखो म उस मुग्ध भाव की छटा अनोखी छाई,
हृदय उल्लसित हुआ, कपोलो पर कुछ लाली आई।

१७१

बडे प्यार से गोरे गालो को रानी ने चूमा,—
ज्यो वात्सल्य-भाव षट्पद बन नव गुलाब पर झूमा.
सीता बजा उठी निज दोनो गौर करो से ताली,
मानो, नाच उठे नंद-गृह मे द्वापर के वनमाली।

१७२

"अच्छा बैठो मेरी नन्ही दोनो तुम गुर्वाणी,
आज सुनाऊँगी मैं तुम को अच्छी एक कहानी।'
"कथा कहानी कौन सुनेगा ? हम तो नही सुनेगी,
हम क्या करे कहानी सुनकर, हम नो वही सुनेगी।"

१७३

"देखो, सीना, तुम तो फूले-से प्रसून लाई हो,
और ऊर्म्मिले, तुम अच्छी-सी कलियाँ ले आई हो
कैसी माला गूँथूँ ? बोलो चपल ऊर्म्मिला रानी,
सेत मेत मे बन जाओगी क्या मेरी गुर्वाणी ?

१७४

तुम न बताओगी यदि मुझ को इस माला का गुम्फन,—
तो तुम को देने होगे दस-बारह मुझ को चुम्बन,
और सुनो, शिक्षिके, तुम्हारे कानो को खीचूँगी,
सुघर तुम्हारी आँखो को मे अञ्चल से मीचूँगी।

१७५

हाँ ! फिर अधी-सी हो करके खडी खडी तुम गाना,
और ऊर्म्मिले, हम देखेंगी वह तव मृदु मुसकाना,
यदि तुम चाहो जल्दी से इस कठिन दड से बचना,
तो रानी, मुझको बतलाओ इस माला की रचना ।"

१७६

"ओ माँ, देखो, मै तुमको अब सब कुछ बतलाती हूँ,–
अपनी माला-गुम्फन-विधि मै तुम को समझाती हूँ,
पहले एक गुलाब-कली इस धागे मे पहिनाओ,
फिर इस शीतभीरु को उसके तुम समीप ले जाओ ।

१७७

इस प्रकार तुम पूरी माला गूँथो औ' मुसकाओ
और साथ ही मेरे मन की बात सुनाती जाओ ।"
"माँ, उर्म्मिला, ठीक से माला-रचना नही बताती,
यो ही अपनी मनमानी कुछ की कुछ बकती जाती ।"

१७८

"मेरी बडकी मुन्नी, देखूँ तुम अब क्या कहती हो,
देखूँ ललित-कला-धारा मे तुम कैसे बहती हो ?
तुम भी मुझे बता दो अपनी हिय की सारी विधियाँ,
निज सुबुद्धि-मञ्जूषा की तुम प्रकट करो सब निधियाँ।"

१७९

"देखो माँ," यो कह उठ बोली नवल उल्लसित सीता,
मानो स्वर-भाजन को कर्णो मे करती हो रीता,
"कोमल पारिजात कलियाँ तुम प्रथम सूत्र मे डालो,
फिर मौलश्री के फूलो से अपनी माल सँभालो ।"

१८०

अपनी दोनो ललियो की सुन बाते प्यारी-प्यारी,
उस विदेह रानी ने अपनी सुध-बुध सभी बिसारी,
दोनो को दोनो हाथो से खीच लिया गोदी मे,
दोनो ने मिलकर जननी का नेह पिया गोदी मे ।

१८१

जनक सुगृहिणी उन दोनो से बोली उत्फुल्लित हो,—
लाड-प्यार के पारिजात से गिरे कुसुम मुकुलित हो,
"तुम दोनो तो माला-गुम्फन मुझे बता न सकी हो,
दौडा-दौडा बुद्धि-अश्व निज तुम तो आज थकी हो ।

१८२

तुम्हे बताती हूँ, देखो, इन सब फूलो को अब मै,—
साथ-साथ, बारी-बारी से लो, गूँथूँगी जब मै,—
तब नवरत्नो की-सी माला सुन्दर बन जाएगी,
आर्यपुत्र के वक्षस्थल पर यह शोभा पाएगी ।"

१८३

माता मिथिला-साम्राज्ञी ने सूची ली यो कह के,—
लगी गूँथने प्रेम-पाश वे धीरे से, रह-रह के,—
मानो विश्व-मोहिनी माया, ले सुराग-फूलो को,
छिटका जीवन-पथ मे, हरती हो विराग-शूलो को ।

१८४

तीक्ष्ण कण्टको मे जीवन जब उलझ-उलझ जाता है,
तब ऐसे ही पुष्पो मे वह प्राणो को पाता है,
महा तपस्वी जनक देव के राग-रहित उपवन मे,
फूल रहे है ये सासारिक मधुर पुष्प उस मन मे ।

१८५
इसीलिए द्वापर मे प्रभु ने निज पुण्या वाणी से–
कर्मवीर की तुलना की है जनक देव ज्ञानी से,*
स्थितप्रज्ञ के सब गुण अकित है इनके जीवन मे,
इन ने ऐक्य-भाव पाया है घर मे, निर्जन वन मे ।

१८६
शीत, उष्ण, सुख, दु ख आदि इन सस्पर्शज भावो मे,–
प्रतिकूला, अनुकूला स्थिति मे, सब दैहिक चावो मे,–
विकट कर्मयोगी ने स्थापित किया साम्य-भावो को,
सह सकते है निश्चलता से ये तीखे घावो को ।

१८७
माता को चुप चाप गूँथते देख ऊर्म्मिला बोली-
ध्यान भग करने आई हो ज्यो चञ्चलता भोली,
"कैसे गूँथ रही हो चुपके-से तुम अपनी माला ?
किसने तुम पर, री माँ, मोहन मूक मत्र यह डाला ?

१८८
कब से पूछ रही हूँ मै, पर तुम तो चुपके-चुपके–
टाल रही हो, आँखमिचौनी खेल रही हो छुप के,
यदि न बताना हो तो माँ, फिर वैसा ही तुम कह दो,
जाओ कभी न पूछूँगी यदि ऐसा ही तुम कह दो ।"

१८९
अपनी छोटी-सी को मा ने स्वप्निल नयन उठाकर–
नख से शिख तक देखा धीरे-धीरे से मुसका कर,
उसकी आँखो मे अनमनपन-सा कुछ-कुछ छाया था,
कमल विनिन्दित मुख पर कुछ-कुछ रोष-भाव आया था।

---

*कर्मणैवहि ससिद्धिमास्थिता जनकादय
—गीता अ॰ ३ श्लोक २०

१६०

तब माता सीता से बोली—"सीते, बेटी प्यारी,
तुमने कभी रुदन की कोई मूर्ति लखी है क्या, री ?"
"ना, माँ, मैंने उसकी मूरत कभी नही देखी है,
क्या तुम ने अपने जीवन मे कभी उसे पेखी है ?'

१६१

"हाँ, सीते, अब एक चित्रपट तुम्हे दिखाऊँगी म,
रोनी सूरत देख चीन्हना तुम्ह सिखाऊँगी मे,
मेरे सन्निधान मे रोदन मूर्ति रखी है, देखो
लो, इसकी प्रति चर्या को तुम अपने हिय मे लेखो।'

१६२

माता ने यो कहा ऊर्म्मिला को जब इगित करके
हास्य-उदधि तब उछला अपनी सीमा लघित करके,
उठी खिलखिला सीय जनकजा, औ' रानी मुस्काई,
विहँस ऊर्म्मिला ने गोदो मे अपनी ज्योति छिपाई।

१६३

"लली ऊर्म्मिले, मुझे बताओ पहला प्रश्न तुम्हारा,
जिसके कारण चचल मन है आज सतृष्ण तुम्हारा,
सच्ची गुर्वाणी के सम तुम एक-एक पृच्छा को,
पूछ-पूछ कर सुनती जाओ, तृप्त करो इच्छा को।"

१६४

"वाह, अरी मेरी माँ, कैसी अच्छी माँ तुम हो, री,
मेरी एक-एक बातो को अब तुम बतलाओ, री,
तात चरण के आने पर तुम क्यो मुस्काती हो, मा ?
मुख पर क्यो लाली आती है, यह तुम बतलाओ, माँ ?"

१९५

"बेटी, तुमने कभी, सवेरे ऊषा को देखा है ?
कभी रक्तवर्णा प्राची दिशि को क्या अवलोका है ?
रवि की प्रखर किरण से जल को क्या खिचते देखा है ?
घन मेघो से भू-हृत्तल को क्या सिचते देखा है ?

१९६

जिन नियमो से अग्नि-शिखा मे लाली आ जाती है,
जिन नियमो से प्राची, सुन्दर अरुणाभा पाती है,
उसी नियम से, जनक देव से मे याँ आन मिली हूँ,
उसी नियम से उनके उपवन मे मै आन खिली हूँ।

१९७

अब तुम समझी ? जैसे प्राची मे लाली आती है,—
त्यो तव तात चरण के आते लाली छा जाती है,—
मेरे मुख पर, मेरी बेटी, और कहूँ क्या तुझको ?
तू नन्ही-सी ही है, इस क्षण किमि समझेगी मुझको ?"

१९८

"माँ, मै समझी हूँ कुछ-कुछ वह यह कि पिता भी मेरे—
सूर्य सदृश, तुम-सी प्राची को, हाँ, रहते है घेरे,
अब तुम यह बतलाओ, माँ, तुम माला क्यो देती हो ?
क्यो उनकी ग्रीवा से तुम फिर उसको ले लेती हो ?"

१९९

"अरी ऊर्म्मिले, तूने निशि मे देखा है वह चन्दा,
अखिल तारिकाये जिसके मन मे डाले है फन्दा ?
तेरे तात चरण को मै यह भक्ति-पाश देती हूँ,
उसके बदले मे मै उन से नेह-पाश लेती हूँ।

२००

जब तुम बडी लली हो जाओ तब तुम भी यह करना,
अपने पति के वक्ष स्थल मे प्रेम-पाश यो धरना ,
देखो, री ऊर्म्मिले, तुम्हारी सीता जीजी बैठी,–
चुपके चुपके सुनती जाती है यह मेरी बेटी ।"

२०१

सीता बोली–"पति,यह क्या है? यह तो तुम बतलाओ?
क्यो विवाह करते है ? यह सब तुम मुझको जतलाओ,
इतने ही मे सन्निधान मे दासी आ राज्ञी के–
बोली––"श्रीराजाधिराज गृह आये सम्राज्ञी के ।"

२०२

सीता और ऊर्म्मिला यह सुन नाँच उठी प्रमुदित हो–
जैसे नभ मे मिथुन राशि है करती नृत्य उदित हो,
सीता फिर बैठी माता की वत्सल गोदी आ कर,
और ऊर्म्मिला माँ के कन्धे लिपट गई हरषा कर ।

२०३

"सती, मन्त्रणागार बना है क्या यह भवन तुम्हारा ?
ये दोनो क्या आज कर रही है शुभ स्तवन तुम्हारा ?
किसी सुगूढ विषय की बाते आज हो रही है क्या ?
कोई प्रश्न छिड गया है यह आज भोर ही से क्या ?"

२०४

प्राणनाथ के इन वचनो को सुनकर जनक प्रिया ने–
सीता को अवलोका, पुलकित होकर सुता सिया ने–
कहा––"तात, ऊर्म्मिला आज कुछ माँ से पूछ रही हे,
माता ने भी हम से सुन्दर सुन्दर बात कही है ।"

२०५

मिथिला-राज्ञी मन्द विहँस कर बोली उत्फुल्लित हो,—
ज्यो दाम्पत्य-भावना आई मुखरित औ' मुकुलित हो,—
"ये दोनो बहने बन बैठी है मेरी गुर्वाणी—
आज परीक्षा, अहो, ले रही है ये दोनो ज्ञानी ।

२०६

मुझको घेर रही है सन्तत पूछ-पूछ कर बाते,
आप स्वय आकर के इन को क्यो न यहाँ समझाते ?
सीता पूछ रही है, माता ब्याह किसे कहते है ?
सब समाज मे पति-पत्नी के जोडे क्यो रहते है ?

२०७

तृप्त कीजिए आप सलोनी सीता की इच्छा को,
शान्त कीजिये मम गुर्वाणी की अबोध पृच्छा को,
मै उत्तर दे चुकी ऊर्म्मिला की प्यारी बातो के,
है ऊर्म्मिला तुष्ट सुन उत्तर उन सारी बातो के ।"

२०८

यो कह प्रमुदित हो रानी ने पहिनाई वह माला ।
मिथिला-पति धीरे से बोले—"मोह-पाश क्यो डाला—
तुम ने मुझे बाँध रखने को, इस कच्चे धागे मे ?
कर्म-युक्त हूँ बँधा तुम्हारे भावो के आगे मै ।"

२०९

"प्रिय, जगदीश्वर की ग्रीवा मे प्रकृति प्रिया ने डाला—
उन्ही ईश के नियमो का यह पाश अमित गुण वाला ।
मैने भी गूँथी है माला उन प्यारी कलियो से,—
चुनी गई है जो त्वदीय इन दो प्यारी ललियो से ।"

२१०
धीरे से यो वचन निवेदित कर रानी मुसकाई,
उस सुस्मिति पर मै ऊषा की वारूँ ललित निकाई,
उपमे ! तुम अब कहाँ छिपी हो यो बन लज्जाशीला ?
जनक-प्रिया की सुस्मिति-रेखा की देखो यह लीला।

२११
पितृदेव के अक-स्थित हो विमल ऊर्म्मिला बोली,—
ज्यो, कुहुकिनी कोकिला ने स्वर की मञ्जूषा खोली,
"तात, आप कहिए वे बाते, पूछी जो जीजी ने,
क्यो कोई माता से उसकी प्यारी पुत्री छीने ?"

२१२
"हाँ,बेटी ऊर्म्मिले, तुम्हे मै यह सब समझाऊँगा,
पर, तुम समझ सकोगी तुम को मै जब समझाऊँगा ?
देखो, बडी-बडी नदियाँ ये सब बहती जाती है,
विस्तृत पथ के इस प्रवाह-श्रम को सहती जाती है।

२१३
क्या तुम मुझे बता सकती हो कोई कारण इसका ?
प्रेरित करता है इन सबको आधिपत्य वह किसका ?
इस विशाल सरणी की धारा की गति है सागर मे,
इसीलिए यह चली जा रही है निज गहरे घर मे।

२१४
और सुनो, देखो, सजीव ये पक्षीगण है जग मे,
कैसे साथ चले जाते है ये निज जीवन-मग मे !
है कपोत के सग कपोती-गण क्रीडा शीलाएँ,
देखो, ये सब मिल-जुल करती है अनेक लीलाएँ।

स्वय ईश से उनकी मुग्धा माया लिपटानी है,
उसने जग के इस मस्तक पर यह चद्दर तानी है,
इसी न्याय से नर समाज मे आन मिली है नारी,
इसी न्याय से माँ से बेटी छिन जाती है प्यारी ।

२१६

समझी सीते, जाओ अब तुम गुर्वाणी के गृह मे,
तुम सब पहुँचोगी कुछ दिन मे इन प्रश्नो की तह मे,
देखे, आज कौन जल्दी से सूत्र-पाट करती है,
क्यो ऊर्म्मिले ?" "तात, हम पाठो से कभी न डरती है।"

२१७

यो कह कर दोनो धीरे से चल दी शिक्षालय को,
एक दूसरी के सँग पहुँची वे शुभ दीक्षालय को ।
"तुम कुछ समझी तात चरण की सब, जीजी,वे बाते?"
"अरी ऊर्म्मिले, ब्रह्म सूत्र की सोचो तुम अब बाते ।"

२१८

इधर नृपति राज्ञी से बोले—"सुनो, अहो कल्याणी,
क्या-क्या बाते पूछ रही थी ये दोनो गुर्वाणी ?"
"पूछ रही थी, पितृदेव के आते ही यह लाली
आन बिछा देती है क्यो तव मुख पर सुन्दर जाली ?

२१९

और पूछती थी कि मालिका क्यो उनको देती हो ?
फिर उस मे से एक माल क्यो उन से ले लेती हो ?
पूछ-पूछ कर ऐसी ही कुछ बाते, ये कलिकाये—
पुलक-पुलक कर विकसित होती थी ये नव ललिताएँ।"

२२०

रानी के कोमल कर अपने दृढ़ हाथो मे लेकर,–
बोले वचन नृपति, कान्ता को अपनी माला देकर–
"सुनो, सुनयने, मुझे ऊर्म्मिला-सीता के जीवन मे,–
अति द्रुत परिवर्तन दृग्गोचर होता है क्षण-क्षण मे।

२२१

इन के भावी पथ को निश्चित करने की तैयारी,–
इसी समय से करना कैसा तुम समझोगी, प्यारी ?"
"आर्यपुत्र, मेरी नन्ही-सी दोनो है बालाये,
उनको उलझाए है मेरी गोद और शालायें।

२२२

सम्प्रति बन्धन मे न डालिए इस लौनी लघुता को,
यो न निमन्त्रित करिए,इन के मृदु शिर पर गुरुता को,"
"तुम मेरे सारे भावो को, प्रिये, न समझ सकी हो,
इसीलिए तुम इस आशका मे आकर अटकी हो।

२२३

मै अपनी प्यारी कन्याओ के प्रवास के पथ म–
डालूँगा न कुबाधा उनके भावी जीवन-रथ मे।
मेरी केवल यह इच्छा है,–ये दोनो मम तारे–
दो आर्यो के शुभ्र वक्ष-नभ मे खिल जाएँ प्यारे।

२२४

इसीलिए बस इसी समय से एक यज्ञ के मिस से,–
आर्य सिहगण के छौनो को मै देखूँगा, जिस से,–
कुछ दिन मे कोई सुयोग्य नर वीर-द्वय मिल जावे,
जो मम अन्तस्तल की छाया को पा कर सुख पावे।

२२५

इस मे तुम क्या कहती हो ? हे प्रिये, तुम्हारे मन म,–
यदि ऐसा प्रस्ताव ठीक हो लगता, तो गुणिगण मे–
जाकर इसकी विमल वार्ता करूँ समय पाकर मै,
देखू, तुम क्या कहती हो मम प्रश्नो के उत्तर मे।"

२२६

"देव, आपकी सम्मति मे ही मेरी भी सम्मति है,
अहो, आपकी शुद्ध बुद्धि मे मेरी सारी गति है।
किन्तु माण्डवी का भी रखिये ध्यान आप, हे प्यारे,
और सुघड श्रुतिकीर्ति लली को भी मत आप बिसारे।"

२२७

हे मेरी कल्पने बता दे मुझे करेगी अब क्या ?
धनुर्यज्ञ का वर्णन कर तू सकुचाएगी तब क्या ?
पूजनीय ऋषि वाल्मीकि ने करके उस वर्णन को–
अरी कल्पने, धन्य किया है अपने कवि जीवन को।

२२८

जिसको, री, अपनी माला मे कालिदास कविवर ने
गूँथा है,–ज्यो दिन की माला गूँथी है रविकर ने,
ऐसे कुशल फूल माली के स्वकर, ग्रथित हारो मे–
उस विवाह-वर्णन मे तू फँस जाएगी तारो मे।

२२९

देख, आदि कवि के उन शब्दो को ही पढते-पढते–
मन जाता विवाह-वेदी ढिग क्रमश चढते-चढते,–
जिस से त्रेतायुग मे उठकर धूम्र-यज्ञ ने जगको,–
प्रेमादर्श दिखाया करके पावन जीवन मग को।

२३०

तद्वत् कालिदास की गतिमय तीव्र कल्पना-धारा—
परशुराम के प्रखर परशु का तेज दिखाती सारा,
अब तू फिर क्या जाएगी उस अति चित्रित उपवन मे ?
क्या तू स्वाद, अरी, पाएगी इस चर्वित चर्वण मे ?

२३१

पूजनीय श्री तुलसी ने भी निज अन्तर्दर्शन से—
मनोहारिणी छटा दिखाई है भावाकर्षण से—
वह बगिया की सैन-बैन, वह गौरी का मृदु पूजन,—
तुच्छ, सुना क्या तू सकती है वैसा कोई कूजन ?

२३२

इसीलिए तू कर प्रणाम उन प्यारे मृदु चरणो मे—
किंकिणि-रव के क्वणित,प्रवाहित,नादित कल झरणो मे।
जीवन की कालिमा मेट तू लगा चरण-रज-चन्दन,
आ, ऊर्म्मिला कुमारी के पद-पद्मो मे कर वन्दन ।

२३३

पट-परिवर्तन होते ही वह लक्ष्मण-रानी होगी,
अपनो को ऊर्म्मिला तजेगी और बिरानी होगी ,
श्वशुरालय मे देवि सुमित्रा उस पर बलि जाएँगी,
वह माता कौशल्या का मृदु लाड प्यार पाएगी ।

२३४

कुछ वर्षो मे गाढ प्रणय का हार ग्रथित होवेगा,
अचल प्रेम मन्दिर से हिय का सिन्धु मथित होवेगा ।
मान-मनौवल की अनेक शत प्रिय लहरे लहराकर,—
लाएगी स्मितियुत सम्भाषण के शत-शत रत्नाकर ।

२३५

पूज्या श्वश्रू की सिखवन की मीठी-मीठी बातें—
जब-तब श्री ऊर्म्मिला सुनेगी, गृह मे आते-जाते,
जब शत्रुघ्न कहेंगे "भाभी !" तब वह पुलक उठेगी,
सखियो के सुगूढ वचनो को सुन वह किलक उठेगी।

२३६

अपने बाके प्रिय की प्यारी उस बाकी-सी छवि पर,—
दिन मे सौ-सौ बार करेगी अपने को न्यौछावर,
ननँदी के तीखे कटाक्ष को सुन वह खीझ उठेगी,
लक्ष्मण की वीरता-कहानी सुन-सुन रीझ उठेगी।

२३७

अरी कल्पने, कुछ वर्षो मे यह सब हो जाएगा,
यदि तेरा सुदूर दर्शन कुछ-कुछ नव बल पाएगा,—
तो तू करना इन सब बातो का वर्णन, हे बौरी,
तब स्वामिनी तुझे न रखेगी निज करुणा से कोरी।

२३८

अब तू चल साकेत नगर को इस पुनीत नगरी से,
वहाँ उदधि को तू उलीचना छोटी-सी गगरी से,
जब तक हे शिथिले, पहुँचेगी तू कोशलपुर वर मे,
श्री ऊर्म्मिला पहुँच जायेगी तब तक पति के घर मे।

२३९

किन्तु, ठहर तो तनिक उधर को तू चल धीरे-धीरे,—
जिधर ऊर्म्मिला, माता के सँग, कमल-सरोवर-तीरे,—
आकस्मिक तैयारी की हलचल से आकर्षित हो—
फुल्ल कमल को लजा रही है आँखो से, विस्मित हो।

२४०

इन-विस्मित विस्फारित ऑखो की छबि को तू हिय मे,–
हलके-हलके धर ले, चित्रित कर ले, छोटे जिय मे ।
यह निश्चिन्त भाव, च चलता यह, यह उच्छृ खलता,–
बन जायेगी–चिन्ता गहरी गम्भीरता, विकलता ।

इति श्री प्रथम सर्ग

श्री लक्ष्मणार्पणमस्तु

अथ श्री द्वितीय सर्ग

(१)

सखि कल्पने, देख तो यह आनन्द और उल्लास महा।
किस आकर्षण से खिच आया, क्यो यह सहसा उमड रहा ?
राग-रग यह क्यो छाया है ?
यह कैसा प्रवाह आया है ?
परम-प्रतीक्षा-सरिता का तट,-
कहो, आज क्यो सरसाया है ?
अवधपुरी के द्वार-द्वार पर बँधे हुए है बन्दनवार।
कौन आ गई है जिन के हित आज सजे ये नन्दन द्वार ?

(२)

गगन विचुम्बित नर-पति गृह के सिह-द्वार खुले है आज,
चतुर शिल्पियो की चतुराई सर्व दिशा मे रही विराज।
राज-भवन का कोना-कोना-
चमक रहा ज्यो निर्मल सोना,
चेतन तो क्या ? जड भी प्रमुदित-
स्वागतार्थ है बना सलोना।
सखि, कुछ तो कह, यह सब क्या है, कौन शुभ घडी आई है ?
आज किस लिए कोशलपुर की गली-गली हुलसाई है ?

(३)

शहनाई बज रही, नगाडो का रव गूँज रहा सब ओर,
मानो मूर्त्तिमान हर्ष-ध्वनि गगन भेदने चली अथोर ।
लक्ष-लक्ष पुरजन आए है,
दशरथ नृप के गृह छाए है,
अपना भक्ति-भाव लाए है,
प्रेम-मुदित है, हरषाए है ।
इन्हे कौन-सा कोष मिला है ? क्यो य हर्षोन्मत्त हुए ?
वृद्ध अवध-पति के लोचन क्यो आज नेह से सिक्त हुए ?

(४)

सुनो राजगृह मे गाती है गणिका मधुर-मधुर कडिया,
प्रीति-काव्य की गूँथ रही है चतुरा सुखद स्निग्ध लडियाँ,
सुनो उठ रही वह स्वर-लहरी—
स्वागत गीतो की रह-रह, री,
उसको सुने और हम जाने,
क्यो उमडी हर्ष-ध्वनि गहरी ।
त्रेता के कोशलपुर वासी क्यो यह हर्ष मनाते है ?
तब हम जानेगे किस कारण ये इतने इठलाते है ?

(५)

कौशलेन्द्र दशरथ बैठे है राजसभा म मस्त हुए ।
मनवाछित फल पाकर उनके पूरित है श्री हस्त हुए ।
इधर राम-लक्ष्मण के श्री मुख—
वृद्ध पिता का हरत हे दुख,
उधर भरत-शत्रुघ्न विराजे,
सरसा तात-हिए मे नव सुख,
नरपति के दाएँ-बाएँ मे खिले पुरातन उपवन फूल,
हुए अकुरित वृद्ध विटप मे अथवा नव पल्लव सुख मूल ।

(६)

'एक बार सूखा जाता था एक बृहन्नद किसी प्रकार,
पर चारो दिशि से बह आए सोते चार–मिले मँझधार ,
फिर तो सुनद लगा घहराने,
लहरे उठी, लगी लहराने,
नाम नाश का त्रास मिटा यो,
ज्यो तम, रवि कर जब फहराने ,
अवध नृपति आनद मग्न है, मन मे अमित सिहाए है,
अपने चारो ओर देख निज नूतन रूप लुभाए है ।

(७)

बहुत दिनो तक धारण की जो रघुकुल-यश पताका थी–
अपने ही कन्धो पर हिय मे चुभती दुख शलाका थी ,
उस को कौन सँभालेगा अब ?
कौन सुदृढ कर थामेगा अब ?
रघु का धनुष-बाण क्या होगा ?
किमि अरि-हिय मे शालेगा अब ?
इसी प्रकार सोचते थे नृप, इतने ही मे बहा समीर,–
अग्निकुड से अष्ट भुजाये उठी सँभाल धनुष-तूणीर ।

(८)

सचिव, अमात्य, सुमन्त्र मन्त्रियो से आवृत वे रघुकुल वीर–
राज सभा मे अति शोभित है , बैठी महाजनो की भीर ,
लोल विलोचन अति मुकुलित है,
सब के रोम-रोम पुलकित है,
नव प्रसन्नता की रेखा से
ओष्ठ सुसम्पुट मृदु विकसित है ।
मधुर-मधुर गाती गणिकाये जन-मन की अब थाह नही,
सखि कल्पने, लगा तू डुबकी , और दूसरी राह नही ।

(६)

कई सहस्र वर्ष पहिले का रम्य गीत वह गा दे,
भूतकाल के उदधि-गर्भ मे सीप शख कुछ ला दे।

(राज-सभा मे गणिकाओ का गीत)

री सखि, आज अयोध्या नगरी—उमडी आज अयोध्या नगरी,
चार जुगुल जोडी न कर दी, आठ दिशाये ये जगमग, री,
उमडी आज अयोध्या नगरी ।

विकसित है नभ-कुज, विहगम गाते मगल गीत सुहावन
अरी अवध क्या ? फुल्ल कुसुम से सजी हुई ह नभ की डगरी,
उमडी आज अयोध्या नगरी ।

चिरकालीन, जन्म जन्मान्तर का यह योगायोग निहारा,—
चारो स्रोतस्विनी बही, आई निज-निज सागर के ढिग, री,
उमडी आज अयोध्या नगरी ।

नाम रूप नदियो ने खोया, जब से मिली उदधि मे धारा,
सीता-राम ऊर्म्मिला-लक्ष्मण, हुई एक गति उनकी सगरी,
उमडी आज अयोध्या नगरी ।

चारो राजकुमारो से लघु मन विदेह-ललियो का हारा,
हमरे कुँअर बडे हे रसिया, बडे पुराने है ये ठग, री,
उमडी आज अयोध्या नगरी ।

यो गायन समाप्त होता है, हम को भी अब ज्ञात हुआ —
राम, भरत, रिपुसूदन, लक्ष्मण का यह नवल प्रभात हुआ,
राम और मिथिलेश बँधे है—
एक रज्जु मे, खूब सधे है,
मानो अपनी दुहिता दे कर
हर से मुदित हिमेश बँधे है ;
इसीलिए यह रम्य अवधपुर आज अनूप सजाया है—
कुशल शिल्पियो ने मिल मानो स्वर्गिक साज लजाया है ।

(१०)

चारो भ्राताओ ने उठ कर सब जन-गण को किया प्रणाम,
तब नरपति बोले प्रमुदित हो वचनावलियाँ यो अभिराम,—
"सभ्य-वृन्द, आर्यो के प्रतिनिधि,
है लीलामय की यह गति-विधि,
कि है पधारे आज आप सब,
लहरा रहा स्नेह-क्षीरोदधि,
बडे भाग्य है जो सुत-वधुएँ हम ने ऐसी पाई है,
मिथिला की लक्ष्मियाँ स्वय ये अवधपुरी म आई है ।

(११)

आर्य-धर्म-पालन अति दुर्गम यह क्षुरस्य धारा सम है,
रघुकुल राजदण्ड का धारण अति कठोर कारा सम है,
सुख की इन शीतल घडियो मे—
इन विलासिता की लडियो मे—
मोह पूर्ण अति तरल क्षणो मे
कुसुमो की इन नय छडियो मे
आज धर्म का स्मरण, सुगुम्फन शूलयुक्त सम्मिलन महान—
हम सब को करना होगा, हम कर्मनिष्ठ है धर्म-प्राण ।

(१२)

राजकुमारो से हम कहते है—अब आप सम्हल जाएँ,
धर्माचरण रहे सम्मुख,—ये भौहे कही न बल खाएँ,
जागरूकता जीवन-धन है,
सत्याचरण आत्मचिन्तन है,
निश्छल हो कर, जगज्जनो की
सेवा ही, प्रभु का वन्दन है,
न्याय-तुला के दोनो पलडे आठो याम समान रहे,
बहिर्जगत मे, अन्तरतर मे ऐक्य भाव का ध्यान रहे ।

(१३)

पुरजन, सदा काल से हम पर आप कृपा करत आए,
सदा हमारी राज-काज की चिन्ताएँ हरते आए,
लाए आज नेह-अजलियाँ,
एतदर्थ ये रोमावलियाँ—
है कृतज्ञ, पुलकित, आह्लादित,
और—कहाँ है शब्दावलियाँ ?
आप सज्जनो से हम क्या अब कहे ?—स्वय है आप बडे,
रघुकुल के शुभचिन्तक हैं—है राज्यासन के स्तम्भ खडे।

(१४)

आर्य धर्म मे यह वैवाहिक बन्धन परम धर्ममय है,
दो आत्माओ का मिश्रण है,—अभिन्नत्व की जय-जय है,
एक दूसरे से रल-मिल कर,—
जैसे दो कलिकाएँ खिल कर,—
ईश चरण मे ढुल जाना है,
या फिर जीवन है पकिल सर,
मेरे पौर जानपद के गृह पारस्परिक प्रेम सपूर्ण—
सदा रहे, अनमिलता की ये ककरियाँ हो जावे चूर्ण।"

(१५)

यो कह नरपति जयोद्घोष के मध्य शान्त हो मूक हुए,
पौरजनो के लोचन-मुक्ता ढरक-ढरक दो टूक हुए,
आँखो को कुछ-कुछ समझाते,
अरुझी वाणी को सुरझाते,
नरपति के भाषण से विगलित—
स्नेह-सिन्धु मे थे उतराते,
उठे एक प्रतिनिधि अपने हिय के प्रसून बिथराने को,
नवल दुलहिनो के चरणो मे निज अजलि ढरकाने को।

(१६)

"राजन, अहोभाग्य है हम सब के, कि आप सरताज हुए,
हम हैं धन्य, अवध धन्या, चर अचर धन्य तव राज हुए,
काम-मोक्ष की, धर्म-अर्थ की,
अथवा नरपति से अनर्थ की,
तव शासन मे, हे शासक वर,
हमे न चिन्ता हुई व्यर्थ की,
अब तो चतुष्फलो की चिन्ता हुई और भी -दूर घनी,
क्योंकि सदेह आज प्रकटे है, चारो फल, हे अवध धनी!

(१७)

कौशलेश क पुण्यराज्य म ऋद्धि-सिद्धि की कब थी चाह?
फिर भी आप प्रजा वत्सल है, उन्हे घेर लाए, नरनाह!
सीता और ऊर्म्मिला आई,
राम-लखन पर बलि-बलि जाही,
श्रुनि कीरति माण्डवी सलोनी—
बनी अन्य दो की परछाही,
अब तो हैं सिद्धियाँ अनुचरा अवध कुमारो की सारी,
आप धन्य है, हमे दिखाया यह सुख मुद मगलकारी।

(१८)

आज हमारे घर आई है ऋद्धि-सिद्धि देवियाँ सभी,
मृदुता, कला, सौख्य, सुषमा जो थी विदेह गृह अभी-अभी,
वे मिथिला वासी क्या जाने?
सुषमा को वे क्या पहचाने?
ऐसी इन ललिताओ मे ये—
अवधकुमार जाय अरुझाने।
अब हम चारो युगल जोडियाँ पूजागृह मे रक्खेगे,
नृपति, आपकी कृपा कि हम सब वत्सलता-रस चक्खेगे।"

(१९)

राजसभा की लीला कब तक तू देखेगी, अरी सखी,
चल अलबेली, सरयू तट से छोडे हम निज तरी, सखी !
एक-एक उत्ताल लहर मे—
भँवरो के गँभीर गह्वर मे—
देखे हम तुम नवोल्लास यह,
जो छाया है प्रकृति अचर मे ।
इधर उधर नैया डुलने दे डाँड हाथ से छोड , सखी,
उसे आज सरयू-प्रवाह से बद लेने दे होड, सखी !

(२०)

इठलाती है सरयू, लहरे उसकी ये बल खाती हे
एक-एक मे गुँथी नेह का फेना ये छलकाती है ,
तटवर्त्ती वृक्षो की डाली—
चूम रही है ये मतवाली ,
अवधि-हीन आनन्द समाया,
कँपी पल्लवो की हरियाली ,
बाँके लक्ष्मण, सुघड उर्म्मिला की गाथाएँ गाती है,
नव-विवाह उत्सव के कारण लहरे हर्ष मनाती हे ।

(२१)

दिनमणि ने नभ मे निज कर से छिटकाया आलोक नया,
फैला सौरभ, भूतल रीझा, प्रकृति हँसी, तम-शोक गया,
उडे विहगम छोड नीड ये,
हुए आज है विगत-पीड ये,
खुला राग का कनक-करण्डक,
मुखरित हुई विभास-मीड ये ।
कण्ठ नही, अणु-अणु गाता है, दिग्-दिगन्त है कम्पित आज,
विश्व गा रहा—अहा रही है लखन हिये ऊर्म्मिला विराज ।

(२२)

अवधपुरी की सदन-लक्ष्मियाँ स्नान हेतु सब आई हैं,
'शिव सकल्पमस्तु' की ध्वनियाँ सरयू के तट छाई है,
वेद ऋचाओ का कल गायन,
सुन पडता अति मगल पावन,
चली, बह चली तरी उधर ही—
जिधर उठा यह स्वर मन-भावन,
सुनो कल्पने, क्या कहती है ये सब स्नानाक्षिणियाँ,
सुनो मधुर झकार रही है उनकी ककण-किकिणियाँ।

(२३)

मै सुमन्त गृहिणी के सँग कल राजभवन मे गई, सखी,
पुलकित हो सुमन्त-रानी की यो उठ बोली नई सखी—
बडे नेह से, बडे चाव से,
मुझे बिठाया हाव-भाव से,
पटरानी ने। फिर बोली वे—
"वधुओ के दर्शनाभाव से—
तुम्हे लौट जाना होगा।" मै यह सुन कर कुछ सहम गई,
वे कहती ही गई—'हमारी सब वधुएँ अब अगम भई।"

(२४)

कुछ न समझ पाई मै, आली, सोचा यह कैसा व्यापार?
पटरानी मेरे प्रति यो क्यो रूठी बैठी है इस बार?
मृदु उपहास न समझ सकी मै,
खो बैठी सुध-बुध निज की मै,
साम्राज्ञी के उस श्रीमुख पर—
गभीरता देख झिझकी मै,
तब तो सौम्य सुमित्रा माता किलक उठी उल्लास भरी,
मै भी सम्हल गई—हो आई वधु-दर्शन की हौस हरी।

(२५)

"अवध बासिनी ललनाये है, सुत-बधुओं की चोर बडी,
अपनी आँखो मे ले जाती, उन्हे उठा कर खडी-खडी,
इसीलिए वधुओ का दर्शन—
उत्सुक नयनो का आकर्षण—
तुम्हे न होगा, जाओ निज गृह,
मानो कहा, बन्द है दर्शन ।"
यो लक्ष्मण जननी ने बोले विहँस वचन, मै धन्य हुई,
नवल दुलहिनो के दर्शन की इच्छा और अनन्य हुई ।

(२६)

मै बोली कि 'अवध बालाएँ चोर, पुरुष सब डाकू है,
दूर-दूर की निधियाँ लूटे, ऐसे बडे लडाकू है,
अब विदेह की निधि दिखलाएँ—
आप उन्हे झटपट ले आएँ,
आँखे तरस रही है, देखूँ,
कैसी है वे नव कलिकाएँ ।'
रानी कौशल्या यह सुन कर मुसका के चुप साध रही,
मात सुमित्रा ने धीरे से मेरी कोमल बाँह गही ।

(२७)

किए दरस सीता के, वे है गौरव की गँभीर-सी मूर्त्ति,
उन्हे देख मन मे कुछ भय, कुछ आदर की होती है स्फूर्ति,
सचमुच वे विदेह ललना है,
गुरुता से उनकी तुलना है,
मुख प्रखर-द्युति से आलोकित,
आँखो मे असि की छलना है,
किन्तु, अहा ! लक्ष्मण-रानी को जब आँखो भर के देखा,
तब तो नेत्र उमड आये यो, ज्यो बरसी हो अश्लेखा ।"

(२८)

"क्यो क्या हुआ ?" एक ने पूछा, वृद्धा दूजी बोल उठी—
"अरी, पूछती क्या हो ? वृद्धा मै भी नृप-गृह बीच लुटी ,
बहू ऊर्म्मिला मे जब अटकी,
सहसा ढरक गई दधि-मटकी,
स्निग्ध-नेह बह चला अचानक,
सँभल-सँभल, फिर-फिर मै लटकी,
क्या जानूँ, क्यो उसे देखते सहसा ही उमडाय हिया,
५ मिथिला की जादूगरनी है, देख न क्यो अकुलाय हिया ?

(२९)

मँझली रानी पूछ उठी—क्या है इस नन्ही दुलहिन मे ?
आँखे पोछ कहा तब मैने—'यह मन्तर करती छिन मे !'
अहा ! बहू है या कि खिलौना,
मिथिला का नवनीत सलौना,
कौन ब्रह्म मे हो विदेह रत,
लाए यह प्रसाद का दौना ?
अब जब जनकपुरी जाऊँगी तो यह उन से पूछूगी।"
"पूछ क्या करोगी ? बूढी हो,"—"लली, तुझे समझा दूँगी।"

(३०)

मैने भी लक्ष्मण की रानी, देखी है" तीजी बोली,
'कितना सुन्दर मुख, क्या लोचन, औ' कैसी मीठी बोली !
सुकुमारता अवध आई है,
अथवा विधि की चतुराई है,
आँखो मे वह क्या है ? देखूँ ?
अहा ! अतल की गहराई है !
उसे देखते ही यह अनुभव होता—मानो यह मै हूँ,
कई करोड बरस आगे जो दौड गई हूँ क्षण मे, हूँ।

(३१)

यही भाव, यह अपनेपन का अति विशुद्धतम रूप निहार—
सब पागल-सी हो जाती हे देख सुमित्रा की मनुहार,
बडे भाग लक्ष्मण लाला के—
हाथ आ गए इस बाला के,
छोड धनुष वे अब विचरेगे
बने कुसुम उस की माला के,
आर्य—देश की कुल-ललनाएँ हुलस उसे अपनाएँगी,
उसको अपने पूजागृह मे वे आदर्श मनाएँगी ।

(३२)

वह लज्जा की मूर्त्ति, उर्म्मिला बहू सौम्य-सुठि की प्रतिमा,
आत्म-निवेदन की छोटी सी मूरत है वह गुण-गरिमा,
वीर सुधन्वा लखन-चरण मे—
ढरक रही है वह क्षण-क्षण मे,
मानो चिर वियोग के आँसू,—
प्रिय-पादाम्बुज के रज-कण मे,
नारी की निष्ठा का ऐसा उज्ज्वल उन्नत रूप कहाँ ?
नेह सुधा के मधुर रसो का उमड रहा है कूप यहाँ ।

(३३)

आँखो को देखो—रामानुज-नेह-जाल मे फँसी हुई,
मिथिला-सर से युगल मछलियाँ आ पहुँची है गँसी हुई,
क्षण मे ये मचले चचल-सी,—
लखन नाम सुन के, निश्छल-सी,
क्षण में ये नीरव हो जावे—
प्रकृत नटी के जड अचल सी,
सच मानो ऊर्म्मिला, मुरलिका के सुदूर निक्क्वण-सी है,
अथवा विस्मृत निज स्वरूप के सहसा पुनर्स्मरण-सी है ।

(३४)

अहो ! अभी नन्ही है, फिर भी बरबस जिया चुराती है,
खीच हमारे प्राण, न जाने चतुरा कहाँ दुराती है ?"
यह सुन एक सखी यो बोली—
"ज्ञात न तुम्हे ? बडी हो भोली !
चोरी मे आधा-साझा है,
तुम तो हो उसकी हमजोली ।
जहाँ चरा कर चित्त हमारे विमल उर्म्मिला धर आई
रच बता दो ठौर वही, सखि, मै बलि गई, परौ पाई ।"

(३५)

"आर्ये, मेरे भाग कहाँ जो मै उसकी सगिनि होऊँ,
चरण-धूलि भी यदि पा जाऊँ तो अति बडभागिनी होऊँ,
मै तो उसके हाथ बिकानी,
प्रथम दरस ही मे अरुझानी,
हृदय-खड हिम-खड बना था,—
हुआ आज यह पानी-पानी ,"
यो कहते-कहते उस ललना के दो लोचन छलक गए,
ज्यो सन्ध्या वन्दन के जल से तुलसी के दल पुलक गए ।

(३६)

अब तक तरुणी एक ध्यान से सुनती थी चुपके-चुपके,
वह आगे बढ कर बोली—"मै सुनती रही तुम्हे छुपके,
किन्तु निरी हो गौएँ तुम सब,
वधुओ के मुख-दर्शन की ढब—
तुम्हे न आई सपने मे भी ,
अब सुन लो कुछ मेरे कर्तब ,
तुम तो गई, बलैयाँ ले ली बहुत हुआ शर चूम लिया,
यह क्या ? जब तक हो न ठठोली तब तक हो क्यो शान्त हिया ?

(३७)

मै पहले सीता से सस्मित बोली पर, कुछ डर, मन मे,
'बतलाओ, क्या ललित सम्मिलन रहता गहन वेणु-वन मे ?'
यह सुनते ही वे कुछ हिचकी,
कुछ गभीर हुई, कुछ झिझकी,
फिर गौरव से आँख उठाकर–
'यह मर्याद आपकी निज की
कि यो प्रथम परिचय मे स्वागत करती है उपहासो से,
या कि अवध मे स्वागत होता है यो सूखे बाँसो से ?'

(३८)

क्षमा याचना कर मै पहुँची माण्डवि, श्रुतिकीरति के पास,
वे है सीधी-सादी मानो भोलेपन की हो उच्छ्वास,
सब को देख अन्त मे जा कर,
देखा वह मुख-कमल उजागर,
जिसकी मौन-मूर्ति की तुम सब–
मुखरित होती हो, पूजा कर,
उसे देख फिर से उद्‌गीरित वे ही वचन हुए क्षण मे ,
'बतलाओ, क्या ललित सम्मिलन रहता गहन वेणु-वन मे ?'

(३९)

'मानवता से दूर, मिलन का नीड बना यदि निर्जन मे,–
तो फिर अवध-वास छोडो तुम जाओ आर्ये ! घन वन मे,'
यो बोली हँस हँस वे बोली,
जनक लली उर्म्मिला सलोनी,
मानो मम विनोद भिक्षा की–
उन ने हँस कर भर दी झोली,
मै उन पर हो गई निछावर, सुघड लली ने खीची डोर
मोद-चग चढ गई गगन मे गूँजा मन मृदग का घोर ।"

(४०)

सुन-सुन यह विनोद वर्णन, सब नव बालाएँ वृद्धाएँ,
हरख उठी ज्यो हरि-कीर्तन से विकसित होती श्रद्धाएँ,
सरयू का रमणीय तीर वह—
जहाँ जुडी कोकिला-भीर वह—
मुखरित हुआ, समीर डुल उठा,
तरल ताल दे उठा नीर वह,
मेरी मृदु कल्पने, छोड तू अब कागद की यह नैया,
स्नान करेगी अब ये त्रेता के युग की आर्या मैया।

(४१)

चलो देखने नृप दशरथ का वैभव पूर्ण भव्य प्रासाद,
अन्त पुर मे चारो वधुएं हरती जहाँ समस्त विषाद,
ये सब वधुएँ नई नवेली,
सग लिए निज सखी-सहेली,
कौन खेल वे खेल रही है ?
किधर ढुरकती है अलबेली ?
माँ कौशल्या और सुमित्रा को किस भाति रिझाती है ?
रच देख ले, श्वसुर-सदन मे कैसे काल बिताती है ?

(४२)

पर चलने के पूर्व यहाँ से कर ले तू वन्दन अभिराम—
इस सरयू सरिता का, जिसकी बालू मे खेले है राम,
रघु ने जहाँ तपस्या करके,—
आर्य-धर्म पाला जी भर के,
जहाँ दिलीप सुधन्वा विचरे—
राजदण्ड शुभ कर मे धर के,
आर्य सभ्यता के प्रकाश का एक अश जिन कूलो से—
फैला, वही चढा दे अजलि तू आँखो के फूलो से।

(४३)

सिकता के कण-कण मे सौ-सौ निहित हुई है सुस्मृतियाँ,
अणु-अणु मे है अश्वमेध की छिपी हुई शत-शत कृतियाँ ,
जहाँ भानुकुल उदित हुआ है,
जहाँ न्याय कुल मुदित हुआ है,
सरयू का वह तीर सुहावन—
आज नेह-निर्झरित हुआ है ,
रजकण, जलकण, बालू के अणु स्वनित वायु मे मिले, अहो,—
उडे जा रहे नभ वक्षस्थल करने क्या स्नेहार्द्र, कहो ?

(४४)

सदा काल से तुम बहती हो सीधी, स्रोतस्विनि, सरयू,
आज बहा दो उलटी धारा, मानो हे स्वामिनि, सरयू,
तनिक देर उलटी बह जाओ,
वर्तमान को दूर हटाओ,
देश काल का तोड कुबन्धन—
उस अतीत के गर्भ समाओ,
मम कल्पना, लेखनी मेरी तनिक लिए जाओ तुम साथ,
कुछ बटोर लाएँगी जो कुछ आ जायेगा इनके हाथ ।

(४५)

किन्तु, नही, जाने दो, यह तो भ्रान्त चित्त की बिनती है,
अलि, अतीत के अन्तस्तल मे मेरी क्या कुछ गिनती है ?
मेरी यह कल्पना यही पर—
विचरे त्रेता युग के भीतर,
हरिश्चन्द्र-रघुकुल सरिता यह—
वेगवती, है वह अति दुस्तर ,
मुझ को यही ऊर्म्मिला-लक्ष्मण के चरणो मे रहने दो,
ललित व्याह की लजवती इस कालिदी मे बहने दो ।

(४६)

हे तटवर्त्ती विटप-अवलियो, क्या न सुना वह स्नेहालाप ?
तुम न भूलना ललनाओ का वह रसमय वात्सल्य-मिलाप ,
रखना याद अनोखा यह दिन,
गॉठ बॉध लेना तुम गिन-गिन ,
भला-भटका मै जब आकर,
यह सब पूछूँगा मै जिस दिन,—
उसी समय, उस दिन, हे पादप ! जो पीते हो सरयू नीर,
तुम्हे सभी कुछ कहना होगा डुला-डुला कर किसलय-चीर ।

(४७)

नीडो मे तुम बैठ रहे हो मौन हुए जो चुपके से,
हे सब गगन बिहारी द्विजगण, क्यो बैठे हो दुबके से ?
अवधपुरी की बालाओ ने—
त्रेता की गृह-ललनाओ ने—
पूज्य ऊर्म्मिला के सुनाम की—
उन श्रद्धायुत मालाओ ने
लक्ष्मण की प्रियतमा वधू का सुन्दर नाम स्मरण किया,
उसे कभी न भूलना, रख लो विस्फारित कर मृदुल हिया ।

(४८)

एक बार आऊँगा मै जब दिन-मणि होता होगा अस्त
जब तुम बैठे होगे दिन के कर्मो को करके सन्यस्त ,
उस क्षण तुम सब हो कर नीरव,
किए शान्त कलरव का विप्लव,
मुझे सुनाना इस प्रभात के—
मुदमय सम्भाषण का गौरव
तुम्हे आज निज पख-पत्र मे यह गाथा है लिख लेनी,
जो कुछ कहती है ये स्नानातुरा रमणियाँ पिकबैनी ।

(४९)

ऋौर तुम्हे क्या कहूँ उल्लसित सरयू कीं चपला धारा,
युग युग लौ उडेलती जाग्रो तुम यह तरल प्रेम सारा ,
ग्रवधपुरी की नेह-पाश हो,
रघुकुल की तुम गलित श्वास हो,
शतियो की इतिहास लेखिका—
प्रिय ग्रतीत का शुभ-प्रकाश हो ,
बनी करधन्नी, कौशल जन-पद की तुम सब कुछ जानो हो,
वर्तमान का मधुर स्वाद यह ग्रनुभव से पहचानो हो ।

(५०)

श्री ऊर्म्मिला-कीर्त्ति-गाथा यह तुम ने सुन ली मन देकर,
मुझे बताना जब मै ग्राऊँ ग्रपना दुखित हृदय लेकर ,
ग्रपने जन को भूल न जाना,
मुझे कहाँ है ग्रौर ठिकाना ?
इधर-उधर से फिर-फिर कर के—
यही खिचेगा मन दीवाना ,
शोक-तप्त, लौकिकता-ज्वर से पीडित यह ग्रपना माथा,
जब ला रखूँ गोद मे, तब तुम कहना यह ग्रतीत गाथा ।

(५१)

ग्रौर तुम्हारी गाथा होगी—यही ऊर्म्मिला की बतियाँ,
कह-सुन जिन्हे पसीजी ग्रखियाँ, धक-धक धरक उठी छतियाँ,
प्रात वायु मे डोल उठी जो,—
दशरथ के गृह जाय लुटी जो,—
करके दरस लखन-जाया के,—
सिहर उठी ज्यो पर्ण कुटी जो,—
उन ललनाग्रो ने, सरयू, तव विमल कूल मे जो गाया,
ग्राज सवेरे, वही गान हो गया हिये की लघु माया ।

(५२)

चलो देखने अब दशरथ का भव्य विशाल, सुखद प्रासाद
जहाँ चार वधुएँ अन्त पुर म छिटकाती हैं आह्लाद,
वे सब वधुएँ नई नवेली,
सग लिए निज सखी सहेली,
कौन खेल वे खेल रही है ?
किधर छुप रही है अलबेली ?
माँ कौशल्या और सुमित्रा को किस भाति रिझाती है ?
रच देख ले, श्वसुर-सदन मे कैसे काल बिताती है ।

(५३)

अन्त पुर की द्वार देहली पे बाहर रुक जाना तू,
चरण चिन्ह ऊर्म्मिला बहू के देख, सम्हल पग धरना तू,
इधर उधर मत फिरती रहना,
अपने मुख से कुछ मत कहना,
हृदय-पटल पर धीरे-धीरे—
लिखती रहना, भोली बहना,
री कल्पने ! द्वार पे रुकना और सम्हल जाना, चतुरा !
लखन-उर्म्मिला की पद-रेखा तनिक चूम लेना, विधुरा !

(५४)

भावी की, अतीत की, विस्मृत-पट की, विस्मारक तट की,—
जीवन-वट की, मन-मर्कट की, विषाद की श्यामा लट की,—
सब की याद भूल कर जाना,
रग चढे तुझ पर मस्ताना,
इधर-उधर से चित्त हटा कर—
नवल वधू के चरण लगाना,
ले आना उनकी क्रीडा के, कुछ विकसित, कुछ मुकुलित फूल,
उन्हे सजा देना हिन्दी-सरयू-सरिता-कविता के कूल ॥

राज प्रासाद में

(५५)

एक बार जिन को देखा था जनक राज के मजु सदन मे,
उन्हे आज चल देखे, आली, दशरथ नृप के भव्य भवन मे,
ललित ऊर्म्मिला, सुरभित सीता आ पहुँची है अपने घर मे,
एक छोर से दूजे तक ज्यो सौदामिनी गई अम्बर मे ।

(५६)

सासो की गोदी मे, माँ का मृदु उत्सग छोड उठ आई,
अथवा उत्तर दिन की किरणे वर्तमान दिन मे जुट आई,
फैला वत्सलता-प्रवाह वे युग तट श्वश्रू-सरिताओ के–
पूरित थे । हिय मे उफान आ गया नेह-पय-भरिताओ के ।

(५७)

एक ओर प्रासाद कक्ष मे लक्ष्मण-प्रिया विराज रही है,
अथवा फलकासन पर सस्मित कुसुम-राशि मृदु भ्राज रही है,
पीछे खडे हुए रिपुसूदन मुसकाते से देख रहे है,
अपनी भाभी के स्कन्धो के ऊपर से झुक , पेख रहे है ।

(५८)

तन्मय-सी, नीरव-सी बैठी सम्मुख मुग्ध सुमित्रा माता,
हर्ष और सन्तोष भाव यह मुख पर रँग अपना छलकाता ,
झलक रही है चिर कृतज्ञता उन जगती के स्वामी के प्रति,
जिनके कृपा-कटाक्ष मात्र से फूली यह फुलवारी सम्प्रति ।

(५९)

निज पति का औदास्य-भाव वह वे अब सहसा भूल गई है,
क्षीर-दान की बेला का वह दुख गया । अब शूल नही है ।
अब आई बहार,—वृद्धा की सूनी कुटिया आज खिल उठी,
उड बैठी उर्म्मिला कोकिला, हिय की डाली आज हिल उठी ।

(६०)

एक ओर यह प्रकृति, दूसरी ओर प्रकृति की माया बैठी,
अथवा दूजी ओर प्रकृति के गुण, लक्ष्मण की छाया बैठी,
उनके पीछे सस्मित से ये लघु सौमित्र देखते है यो,
निश्छल भाव मनुज तन धर के आया हो कुसुमित हो कर ज्यो ।

(६१)

एक ओर वृद्धा ऋतु रानी फूली-फली विराज रही है,
और दूसरी ओर यह कली सुख की थाली साज रही है,
लाज समाई इन आँखो मे—उन मे है सन्तोष समाया,
इधर शुत्रसूदन-नयनो मे मृदु उपहास हास्य-रस लाया ।

(६२)

आज सुमित्रा माँ का मानस—दिङ्-मडल गत-शोक हुआ है,
छाया, धूप, वायु, बादल, सब शान्त हुए । आलोक हुआ है ।
उनकी प्राची दिशि मे दो-दो चन्द्र उदित है आज सुखारे,
जिन की विमल चन्द्रिकाएं ये हरती है उनके दुख सारे ।

(६३)

अरे, वेदना कहाँ ? सुमित्रा माँ के मन की हूक कहाँ है ?
उस मँडराती विकला चकई की निशीथ की कूक कहाँ है ?
कहाँ ? कहाँ वह गई वेदना ? कहाँ क्लेश की चरम यातना ?
धन्य चिरतन तप की प्रतिमे, धन्य सुमित्रे ! धन्य भावना ।

(६४)

हे माँ, झूला आज डाल दो, निज रसाल की एक डाल पे,
अथवा ग्रीवा से आदोलित अपनी इस आलम्ब-माल पे ,
बैठाओ ऊर्म्मिला बहू को और लखन भी आन विराजे,
धीरे-धीरे तुम झोटे दो—खडी-खडी वत्सलता लाजे ।

(६५)

इस धन को, हे चिर भिखारिणी माँ, किस गृह से ले आई हो?
यदि प्रतिपण का सौदा है तो बदले मे क्या दे आई हो ?
आदान—प्रतिदानो के या विनिमय के उन पुण्य-गृहो मे—
मिलता है यह ? या मुनियो के तप से पूत अरण्य-गृहो मे ?

(६६)

खूब जतन से इसे जोहना, देवि सुमित्रे , धन्य भाग है ,
आज तुम्हारे द्वारे आ कर खुल खेले ये रग-राग है ।
झर-झर पिचकारी उडने दो, गूँज उठे मीठी स्वर-लहरी ,
तन रँग जाय, हृदय भी डूबे, पुलक उठे हम सब रह-रह, री।

(६७)

यह झिलमिल प्रकाश आलोकित कर दे सारे जगतीतल को,
मा, यह पुण्य-प्रसाद तुम्हारा करे विमल सब के हीतल को,
सर्व दिशाएँ गूँज उठे अब लक्ष्मण के उस धनु दुर्धर से,
और ऊर्म्मिला उन की कीर्त्ति गा उठे अपने स्वर हिय-हर से ।

(६८)

नव-प्रभात की बेला, अथवा सान्ध्य-किरण के गुथित जाल मे,
जब चाहो अकित कर देना, माँ, चुम्बन इस शुभ्र भाल मे,
मम कम्पित कल्पना रहेगी खडी मूक-सी एक कक्ष मे,
जब तुम इस दुलहिन को, माता,छिपा रखोगी स्फुरित वक्ष मे।

(६९)

विगत् विषाद-वज्र रेखा के जो अकन तव हृदय-पटल के,
आज ऊर्म्मिला उन्हे पोछती अपने कर से हलके-हलके ,
माँ, पुँछ जाने दो उन सब को, रहे न कुछ भी चिन्ह शेष अब,
कब की बात ? बहुत दिन बीते । उनका क्या लवलेश-क्लेश अब ?

(७०)

तुम ने कब अपनी पीडा का स्रवित अरुष जग को दिखलाया ?
द्रवित क्षणो की सस्मृतियो को सदा भूलना ही सिखलाया ;
अच्छी माँ, इस सुख के क्षण मे आज तुम्हे पल्लवित देख कर,
यह कल्पना जा रही क्यो तव विगत दु ख की मलिन रेख धर ?

(७१)

जाने दो कत्पन, निरी तुम मूर्खा हो, लौटो, आओ री,
गई कहाँ थी और कहाँ जा पहुँची ? पगली हो, आओ री,
देखो इधर सुमित्रा बैठी और सामने ऊर्म्मिला बहू
उनके पीछे रिपुसूदन है, कैसे वर्णन करूँ, क्या कहूँ ?

(७२)

प्राची-दिशा बधूटी के सम श्री ऊर्म्मिला बधू के लोचन,—
कुछ-कुछ उन्मीलित है, उन मे छाए है लक्ष्मण-रवि-रोचन,
अभी आँख के ओझल है वे, यथा प्रात से पूर्व दिवाकर,
आ पहुँचा आलोक ऊर्म्मिला के कपोल के फुल्ल कमल-सर ।

(७३)

रिपुसूदन उनके पीछे स्मित हास्य कर रहे है विकसित यो,
अरुण-किरण से प्राच्य क्षितिज मे मेघ खड होता बिलसित ज्यो,
ये बैठी सामने सुमित्रा देख रही क्रीडा मन भावन,
विश्वेश्वर की नियम-शृ खला मानो विश्व घुमाती पावन ।

(७४)

झुकी हुई है वधू ऊर्म्मिला इक आलिखित चित्र के ऊपर,
कर सरोज मे लिए तूलिका , है गुनगुना रही मीठे स्वर ,
कुछ पूरा, कुछ रहा अधूरा, रखा सामने एक चित्र-पट,
मुख-अरविन्द समझ मँडारने लगी एक लोलुप भ्रमरी-लट।

(७५)

मानो अर्ध सृष्टि रचना कर आदि-कल्पना बैठ रही हो,
कुछ-कुछ श्रमित और कुछ विस्मित मन ने मानो बॉह गही हो,
झलक रही है कुशल तूलिका मे अनेक रगो की झाँई,
मानो पॅचरगी साडी की पडी लोचनो मे परछाई ।

(७६)

"भाभी, क्या नव मृगया-प्रेमी की छवि चित्रार्पित यह की है ?"
यो बोले शत्रुघ्न कि मानो जिज्ञासा-कलिका महकी है ,
'हॉ लल्ला, पर रहो देखते चुपके-चुपके मेरी लीला,"
यो धीरे से प्रत्युत्तर मे बोली श्री ऊर्म्मिला सुशीला ।

(७७)

"मॉ" बोले रिपुसूदन अपनी जननी को सम्बोधित कर के,
मानो बाल-कीर बोला हो निज वाणी सशोधित कर के ;
"मॉ, भाभी ने मृगया-प्रेमी अश्व रहित है, अहो, बनाया,
क्या मिथिला की चित्रकला ने अप्राकृतिकता को अपनाया ?

(७८)

बडा शिकारी यह भाभी का, पादत्राण-विहीन खडा है,
अश्व-रहित, तूणीर-रिक्त, है, धनुष भग्न, फिर भी अकडा है,
कैसी चित्रकला है, मैंने इसका कुछ भी भेद न जाना,
भाभी रानी, बतलाओ यह आखेटक का कैसा बाना ?

(७९)

यदि शिकार को निकला था, तो अच्छा एक धनुष लेना था,
और एक बलवान तुरगम भी तो उसको दे देना था ?
पर तुम ने तो यह सब कुछ भी नही दिखाया अपनी कृति मे,
माँ, तुम ही कुछ कहो, सुन रही हो डूबी-सी तुम विस्मृति मे ।"

(८०)

पुलक सुमित्रा बोली लख कर रिपुसूदन को यो अकुलाते,
"सुनती हो कल्याणी, अपने देवर की भोली-सी बाते ?
देखूँ, लाओ इधर चित्रपट, क्या विचित्रता तुमने भर दी,
क्या अस्वाभाविकता चित्रित इन रेखाओ मे है कर दी ?"

(८१)

दिया ऊर्म्मिला ने उनको वह चित्र बिहँस कुछ, कुछ लज्जित हो,
ज्यो लज्जा आज्ञानुवर्त्तिनी हो, चिर नियमो से सज्जित हो,
मग्न हुई जब माँ ने देखा निज लाडिली बहू का चित्रण,
मानो सहसा याद आ गया गत जीवन का कोई लक्षण ।

(८२)

फिर बोली "यह मृगया प्रेमी, बहू, कहाँ से तुम ने पाया ?
इतना सुन्दर रूप-निरूपण ! यह तुमको किसने सिखलाया ?
इस चिर आखेटक का मुख तो लक्ष्मण के मुख के समान है,
अपने आदर्शो के पीछे खो बैठा यह स्मृति-ज्ञान है ।

(८३)

मै बलि गई बताओ, किस ने तुम्हे सिखाई चित्रकला यह ?
रेखाओ की सायोगिक अति ललिता अभिव्यक्ति कुशला यह ?
सच कह दो, लक्ष्मण को, तुम ने कैसे समझा कि वह शिकारी–
अपने निश्चय का पक्का है ? बोलो रानी, मै बलिहारी ।।

(८४)

लघु सौमित्र हुए कुछ विस्मित, कुछ शर्माए, कुछ सकुचाए,
माँ के वचनो को सुन फिर से चित्र देखने दौडे आए ,
उत्सुक हो कर उन ने फिर से ललित चित्रपट को अवलोका,
कुण्ठित बुद्धि सम्हल जाती हो मानो खा कर कुछ -कुछ धोका ।

(८५)

पर, बोले, "माँ, लगी बोलने तुम भी भाभी की सी बाते,
दोनो मिल कर मुझे बनाती हो, जानूँ मै ये सब घाते ,
मेरी शकाओ का कर दो निराकरण तुम, तब मै जानूँ,
ऐसा अस्त व्यस्त आखेटक कही बता दो तब म मानूँ ।

(८६)

इसके पहले मने देखा कही न ऐसा अजब शिकारी,
धनु टूटा काधे पे, मानो झोली डाले खडा भिखारी ,
माँ, तुम कहती हो भैया से मिलती है इसकी कुछ सूरत,
है प्रणाम, यदि यह भैया की, भाभी के मन की है मूरत ।

(८७)

क्यो भाभी, क्या इसी रूप मे उनका सतत ध्यान धरती हो ?
मेरे अपराजित दादा का यो ही सदा स्मरण करती हो ?"
"लल्ला ! तुम जल्पक हो ।" लज्जारुणावनता ऊर्म्मिला बोली,
"पगले, चुप हो !" तब जननी की यो आदेशागुलिया डोली ।

(८८)

"शिर आखो पर है तव आज्ञा, किन्तु मुझे, जननी, जतलाओ,
इस विचित्र भावाभिव्यक्ति का मुझको तनिक तत्त्व समझाओ ।"
"वत्स, समझ लो, तुम्हे समझना है जो कुछ अपनी भाभी से ,
बहू, खोल दो लल्ला के हिय-द्वार आज अपनी चाभी से ।"

(८९)

"जाती हू, कौशल्या जीजी बाट जोहती होगी मेरी,
सभा भवन मे जाने मे हो नरपति के न कही कुछ देरी,
दक्षिण जन-पद के शासक का निर्वाचन-निश्चय करना है,
किसी चतुर की नव-नियुक्ति से रिक्त स्थान आज भरना है ।"

(९०)

यो कह उठी सुमित्रा, बोले तब शत्रुघ्न शिरोमणि हँस कर,
"मा, मुझको नियुक्त करना, मै खूब करूँगा शासन कस कर,"
"लल्ला, पहले तो तुम मुझसे ले लो अभी कला की शिक्षा,
फिर अपनी झोली मे, मा से लेना शासक-पद की भिक्षा।"

(९१)

यो उपहास वचन भाभी के सुनकर श्री शत्रुघ्न लजाए,
फिर बोले "भाभी, भैया के ये क्या तुम ने साज सजाए?
तनिक चित्रपट देखो अपना, देखो और मुझे समझाओ,
क्या प्रेरणा हुई थी मन मे, उसकी गुत्थी तो सुलझाओ ।"

(९२)

"रिपुसूदन, मै क्या समझाऊ, एक हूक उठती है मन मे,
हिय मे एक बाण लगता है, स्पन्दन होता है कण-कण मे,
तन की सुध कुछ-कुछ सो जाती, ये आखे झँपने लगती है,
तब लोचन तल पे सपने की क्रीडाए कँपने लगती है ।

(९३)

बज उठती है हृदय-बाँसुरी, एक मद-अलसता छा जाती,
अति सुदूर, आदर्श चिरन्तन सुन्दर की झाँकी आ जाती,
अस्वाभाविक और प्राकृतिक, ये सब गिर पडते है बन्धन,
अपने आप हृदय की कोकिल कर उठती है अश्रुत क्रन्दन ।

(९४)

वन्दन की शत श्रद्धाजलिया अलख-चरण मे चढ जाती है,
कढ आती है एक आह, औ' अर्चन-सरिता बढ आती है,
कुछ भावाभिव्यक्ति बरबस ही ऐसी घडियो मे हो जाती,
अतिपूरित जलराशि यथा, बन सरिता, सागर मे खो जाती।

(९५)

अपने आप हाथ चलते है और तूलिका पन्थ दिखाती,
मदमाती आँखे प्रेरित हो चित्रकला का सूत्र सिखाती,
एक-एक रेखा म तत्मय अर्पण-रस घुलने लगता है।
जगता है सुषुप्त अभिव्यजन, हिय बरबस डुलने लगता है।

(९६)

हुआ अनिल-आन्दोलन एक कि नचने लगती पत्ती-पत्ती,
हुआ हृदय व्याकुल कि जल उठी नव आरती-दीप की बत्ती,
भावोन्मेष न कह कर आता है, लल्ला, हृद्धाम तुम्हारे,
ना जाने, कब, किस क्षण आकर वह कर देता वारे-न्यारे।

(९७)

नाच-नाच उठते है पागल-से ये कवि गण ताली देकर,
मानो आत्मार्पण को जाते है ये हिय की डाली ले कर,
खोते है अपना अस्तित्व, न भौतिकता की चाह उन्हे है,
वह क्या है? तुम तनिक कहो, किस अग्नि-शिखा का दाह उन्हे है?

(९८)

चाह कौन सी उनके हिय मे? कौन लगन लग रही उन्हे वह?
रह, रह, लल्ला, कौन नचाती है उनको पागल-सा अह-रह?
मूर्त्तिकार कैसा जादूगर जो प्रस्तर मे प्राण फूँक दे?
वह क्या है जो जीवित कर दे शिलाखण्ड को, एक हूक दे?

(९९)

ऐसा महाप्राण दानी, जो जड को भी चैतन्य बना दे,
ऐसा नीरव गायक, जो जड शब्दो को भी धन्य बना दे,
वन्य प्रान्त मे, गृह-आँगन मे जिसकी गति सब देश-काल मे,
वह है कौन ? कला का पूजक ! अमृत-पुष्प परमेश-माल मे।

(१००)

ललित कला? मै क्या जानूँ सत्-चित्-सुन्दर-स्वरूप-अभिव्यजन ?
अणु-अणु मे, रज के कण-कण मे, रमा हुआ है अलख निरजन।"
"भाभी," कम्पित, तन्मय, पगले रिपुसूदन बोले स्नेहादृत—
"तुमने कला-ज्ञान की सीमा को भी किया विशेष अनादृत।"

(१०१)

"लल्ला, पगले भी उतने हो, जितने हो तुम बडे सलौने,
ऐसी बाते करते हो तुम जैसी करते है लघु छौने,
क्या है कला ? आध्यात्मिकता की है वह समाधि-तन्मयता,
वह है एक ऊर्ध्व गति, वह है इस मृण्मयता की चिन्मयता।

(१०२)

कविता कब उद्गीरित होती ? कब चलती कठिनी बरबस-सी ?
कब तूलिका नाच उठती है, मानो कठपुतली परवश-सी ?
मुझे बताओ, रिपुसूदन, क्या सदा भाव-सकेत तुम्हारे—
बिना बुलाए, अतिथि सदृश, आ जाते नही हृदय के द्वारे ?

(१०३)

कवि कब कहता है ? केवल तब जब साधनालीन होता है,
एक जाल मे बिधा हुआ जब स्पदित एक मीन होता है,
प्राण सिमिट, मिट, निठुर लेखनी की जिह्वा मे आ जाते है,
मसि-भाजन मे अहकार घुल जाता, भाव निखर आते है।

(१०४)

इसी अचानक-से प्रवाह का नाम मजु, मृदु ललित कला है,
यह प्रवाह—जो बिना नियन्त्रण के सब काल, सदा निकला है,
किन्तु कदाचित तुम पूछोगे अन्तिम ध्येय कला का, देवर,
तो सामजस्य-स्थापन का बना हुआ है कला-कलेवर ।

(१०५)

बहिर्जगत मे, अन्तरतर मे निर्मलता का ध्यान रहे नित,
तात चरण ने, प्रथम दिवस ही यह शिक्षा दी हम सबके हित,
समता-सस्थापन, जीवन का उसी दिशा मे सतताकर्षण—
जहाँ जगत्पति का सिहासन—यही कला का अन्तिम दर्शन ।

(१०६)

अब तुम पूछोगे कि तुम्हारे अग्रज का यह कैसा चित्रण ?
मैने उनको जैसा पाया, तद्वत् ही हे यह चित्राकण,
आर्यपुत्र मेरे जीवन के है आदर्श शिकारी, देवर,
जो व्रत-पालन को उद्यत हे करके सब सर्वस्व निछावर ।

(१०७)

थोडे से सहवास-काल मे मे यह जान सकी हूँ अब तक—
कि वे महायोगी, वे इन्द्रिय-जित्, वे गुडाकेश, वे अपलक,
यही सुदृढता, यही तुम्हारे अग्रज की भामिनि का निर्णय,
मेने उन्हे किया है चित्रित इसी लिए हो कर यो तन्मय ।

(१०८)

यह तो उनके पुण्य-चित्र का लौकिक अर्थ बताया मैने,
किन्तु अलौकिक भाव लिए है यह जो चित्र बनाया मैने,
उनको भी सुन लो, रिपुसूदन, यह है अरण्यको की वाणी"
'कहो पुण्यदा मेरी भाभी, कहो कहो रानी कल्याणी ।"

(१०९)

'आय-धर्म के आचार्यो ने सृष्टि तत्व है खोज निकाला,
एक सूत्र मे उन ने गूँथा है सुगूढ वह तत्व निराला –
मै हू एक, किन्तु प्रजनन के हेतु अनेको रूप बना हूँ,
अमित विरोधाभासो का मै अद्भुत पुज अनूप बना हूँ।

(११०)

इसी दशा की पुन प्राप्ति की उत्सुक आकाक्षा अकित है,
अत समझते हो तुम, इसको कि यह प्राकृतिकता-वचित है,
त्रेतायुग के सभी शिकारी घोडे पर चढ कर जाते है,
पर मम क्रीडात्सुक निस्साधन विचरण मे ही सुख पाते है।

(१११)

साधन हीन, स्वप्न से जागृत, जीवात्मा की यह यात्रा है,
इस मे स्वामी के–उस मृग के–दर्शन की उत्सुक मात्रा है,
इसीलिए, देवर, इनका है टूटा धनुष, रिक्त है तरकस,
इन का जीवन ढरक रहा है उन अलक्ष्य चरणो मे बरबस।"

(११२)

यो कह सती ऊर्म्मिला चुप हो रही कुहुकिनी नव कोकिल-सी,
और, लक्ष्मणानुज की आँखो मे झलकी लडियाँ झिलमिल-सी,
उन ने उठ कर, भक्ति-प्रेम से आर्द्र हृदय की झारी लेकर,——
ढरका दी चरणो मे। शिर पर छुए उर्म्मिला-ऊषा के कर।

(११३)

इतने ही मे सस्मित-वदना शान्ता देवी भीतर आई,
रिपुसूदन को देख उर्म्मिला-चरणो मे कुछ समझ न पाई,
बोली–"जाने क्या जादू है इन बालाओ मे मिथिला की ?
रघुकुल के लालो को क्षण मे बाँध, बुद्धि उनकी शिथिला की ?"

(११४)

श्री ऊर्म्मिला उमँग कर बोली—"ननदी जीजी, तुम हो भोली,
पहले से तुम तो आचार्यों के सँग करती रही ठठोली ,
ब्राह्मण ये क्या जाने ? जादू क्या होता है ? कैसे चलता ?
व तो तभी समझ पाते है जब वह उनको सहसा छलता ।

(११५)

यज्ञ कराने के मिस आये भोले एक ब्राह्मण कोरे,
यहा दाशरथिनी ने उनके ऊपर डाले अपने डोरे,
अब तो मेरी जीजी को बस मन्तर-जन्तर सूझ रहा है,
क्यो, है ठीक बात मेरी यह ? लो, कुछ अनुचित नही कहा है ।"

(११६)

"दुलहिन रानी, तत्वज्ञानी श्री विदेह की सब कन्याये—
कैसे सीख सकी चतुराई, बोलो तो ये सब धन्याए ?
क्या विदेह रानी ने कोई पाल रखा है, अहो, चतुर नर ?
जो इन सब को कुशल कला की दीक्षा देता रहा निरन्तर ?"

(११७)

"शान्ते, जीजी, विदेह के घर, द्वार बुहारे है चतुराई,
अपनी चिन्ता करो, न पूछो कि यह चतुरता कैसे पाई,
कई वेदवित् बैठे रहते उनकी द्वार-देहली पर नित,
नँनदोई भी वही न पहुँचे हो कर तुम से कही उपेक्षित ?"

(११८)

यो भावज की और नँनँद की मीठी-मीठी बाते प्यारी—
होने लगी । हरी हो आई वाक्य-चतुरता की नव क्यारी !
पूर्ण विश्व की मृदु वत्सलता और सुघडता, अहा, सिहाई,
आई वह दशरथ के घर मे, सम्भाषण म रही समाई ।

(११९)

शान्ता रिपुसूदन क अभिमुख हो कर बोली यो सकुचा कर,
"भाभी से तुम बहुत कर चुके बात, क्यो न ? अब जाओ बाहर,
मै भी तनिक देर इन से कुछ कर लू श्रुतिकीरति की बाते,
रिपुसूदन भागो, सुन उसकी बाते तुम हो सकुचा जाते ।"

(१२०)

तब दोनो ने घुल-घुल अपने-अपने मन की गाँठे खोली,
भौजाई—नँनँदी के धीमे स्वर की गूँज उठी मृदु टोली,
बोली शान्ता "अये, ऊर्म्मिले, तुम ने तो दो दिन के भीतर,
अपनी मृदुता से प्लावित कर दिया हमारा यह सुन्दर घर ।

(१२१)

मातु सुनयना की गोदी मे बोलो, क्या कुछ आकर्षण है ?
अथवा उन के पय मे होता क्या आत्मा का सघर्षण है ?
क्या है ? कुछ तो कहो,बताओ,क्या तुम सब को खीच रही हो ?
अपने नेह-सलिल से कैसे यो घर-घर को सीच रही हो ?

(१२२)

तव दर्शन कर अवध नारियो का मानस कृतकृत्य हुआ है,
उनके हिय मे वत्सलता का एक अनोखा नृत्य हुआ है,
मै सुन आई हूँ, घर-घर मे सब कर रही तुम्हारा गायन,
भाभी, तुम्हे देख क्यो सबकी आँखो से बरसे है सावन ?"

(१२३)

सुन कर अपनी नँनँदी के ये वचन, ऊर्म्मिला सकुच गई यो,
नव दुलही प्रिय-दरस-परस से हो जाती है छुई-मुई ज्यो,
इस कोमल सकोच-भाव पर हुई निछावर शान्ता देवी,
विमल सलज्ज भाव बन कर आ गया मृदुल चरणो का सेवी ।

(१२४)

धीरे से, लज्जित रसना को कुछ प्रस्फुटित और विकसित कर,
बोली श्री ऊर्म्मिला, शान्ता ननँदी को अति आह्लादित कर,
"मै क्या तुम्हे बताऊ ? जीजी, मुझ मे क्या है, मै क्या जानू ?
जो तुम बाते कहती हो वे सब मै निरी सत्य क्यो मानू ?

(१२५)

हा इतना मै जान सकी हू कि तुम कृपा करती हो मुझ पर,
वत्सलता के वशीभूत हो अमृत-पाणि धरती हो मुझ पर,
अवधपुरी की माताए भी बडे लाड से, बडे चाव से,
मुझ अबोध बाला को अहनिशि ढँक देती है प्रेम-भाव से ।"

(१२६)

"नही,' शान्ता बोली, "भाभी, यह रहस्य तुम सुलझाओ, री,
इस वत्सलता के प्रवाह का क्या कारण है, समझाओ, री,
मुझे न टालो तुम बातो मे । कुछ निगूढता है इस सब म,
पिड पडूँगी, औ' समझूँगी यह अति गुह्य भावना अब मै ।"

(१२७)

यो कह श्री शान्ता देवी ने उनका मृदु कर-पल्लव थामा,
उत्सुकता से लगी पूछने इस रहस्य का कारण वामा,
लक्ष्मण रानी ने अपना मुख छिपा लिया गोदी मे उनकी,
यथा छिप गया हो अपने से जीव स्वय गोदी मे गुण की ।

(१२८)

फिर कुछ ध्यान-मग्न सी होकर, कुछ धीरे-से, मीठे स्वर से,
कहने लगी ऊर्म्मिला, मानो बही वचन-सुरसरि अम्बर से,
"तुम ने ठीक कहा,—है मेरी माता के पय मे सघर्षण,
उस नवनीत मधुर का मुझ मे आन समाया है आकर्षण ।

(१२९)

यदि कुछ है तो केवल माँ का ही प्रतिबिम्ब समाया मुझ मे,
उनके पुण्य आत्ममथन का रचमात्र कण आया मुझ मे,
मेरी जननी वत्सलता की पुण्य मूर्ति है, शान्ते जीजी,
मेरे तात चरण ही उनकी पूर्णा गति है, शान्ते जीजी।

(१३०)

मातृ-धर्म के मन्त्र मनोहर हमे सिखाये थे माता ने,
विश्वेश्वर के अटल नियम के रूप दिखाये थे माता ने,
पूर्ण मुक्ति की ओर विश्व को ले जाना है काम हमारा,
जगती को तद्रूप बनाने मे देना है हमे सहारा।

(१३१)

पूर्ण सत्य की ओर विश्व का चक्र घुमाएँ माताएँ मिल,
अपने स्तन की शुद्ध-धार से दूर करे वसुधा का पंकिल,
मेरी माँ की यही भावना मुझ मे कुछ-कुछ आय समानी,
इसी लिए तुम मुझे बढावा देती हो, नँनँदी कल्याणी।"

(१३२)

सखी, कल्पने, अब देखेगी क्या ? तू कहा चलेगी, कह दे ?
पद-विन्यास ऊर्म्मिला के लख क्या तू अब मचलेगी, कह दे ?
अभी देखना है लक्ष्मण का मन-मधुकर मँडराते, सजनी,
बीत न जाये जीवन-घटिका, आ जाये न अन्त की रजनी।

(१३३)

अरी, देखना अभी-अभी तो वे आई है अपने घर मे,
दो दिन मे ही उन ने घर कर लिया सभी के अन्तर तर मे,
किस प्रकार लक्ष्मण-उपवन मे हुलस खिलेगी औ' फूलेगी ?
लक्ष्मण-शाखा पर वे कैसे झूम-झूम झुक-झुक झूलेगी ?

(१३४)

अरी तुझे तो अभी देखना है यह सब स्वर्गीय दृश्य, री,
तेरे उर मे अंकित होगे लक्ष्मणोर्म्मिला पदस्पृश्य, री,
उनकी झाकी को तू दरसा देना हिन्दी माँ के द्वारे,
तब तू होगी धन्य और तब तव गृह होगे वारे-न्यारे।

(१३५)

सास बहू का मृदु-दुलार कुछ कुछ तू देख चुकी है, आली,
तू ने सुन ली नॅनॅद शान्ता की चुटकियाँ मधुर रस वाली,
रिपुसूदन को कला-पाठ भी पढते तू ने देख लिया है,
और भक्ति-सर मे उतराते तूने उनको पेख लिया है।

(१३६)

अन्त पुर को छोड चले री, अब आ चले हर्म्य के बाहर,
चले जहा, श्री राम-लखन की फैली अभिनव कीर्ति उजागर,
टल जाने दे बरस चार छ यो ही इधर उधर विचरण मे,
छुप जाने दे तनिक ऊर्म्मिला-लक्ष्मण को सुख-पटावरण मे।

(१३७)

स्नेह-रज्जु यह बटी जा रही है, इसको तू बट जाने दे,
प्रथम-मिलन की अरुण झिझक को,अरी,तनिक-सी हट जाने दे,
फिर तू आकर इन दोनो की मधुर ललित नित लीला लखना,
जितने चयन कर सके उतने तू प्रसून अचल मे रखना।

(१३८)

लेखनी,थक गई हो,तनिक देर विश्राम कर लो न विश्रान्ति-गृह मे,
प्यार वर्णन करो लखन का,किन्तु सुस्नान करलो न निर्भ्रान्ति-दह मे?
नवल शृङ्गार रस अमित उमडे, सखी, किन्तु वेला उदधि की न टूटे,
मुक्त रसना तुम्हारी लुटावे सुखद प्यार के पुष्प ससार लूटे।

(१३९)

नेह के गगन मे जब चढेगी विमल चङ्ग, तब डोर तू थाम लेना,
ऊर्म्मिला के लखन धनुर्धर वीर है। तू सदा युगल का नाम लेना,
वायु मे डोल कर,गगन को चूम कर,चङ्ग सकुशल सलौनी उडेगी,
खीचना डोर जब चाहना। गगन मे देख झटके य' आँखे जुडेगी।

(१४०)

आखे दो थी — अब चार हुई,
मन मे मन की — गुञ्जार हुई,
ऊर्म्मिला-लखन की — होड बदी,
दोनो जीते — पर हार हुई ।

———

मुकुलित-कुसुम-दर्शन

(१)

सखी कल्पने चितेरी बनो,
और लेखनी, बनो तूलिका,
उमगो के रगो मे रँगो,
करो चित्रित छवि सुख-मूलिका,

कलम की बारीकी की छटा—
उभर आए रेखा के बीच,
रग की स्निग्ध लालिमा खिले
कल्पना-पट को देवे सीच,

रग रेखा के बीचोबीच
खीच दो विमल ऊर्म्मिलाऽकाश,
जहा लक्ष्मण-से पूर्ण शशाक
विलस करते हो मदु उपहास।

(२)

आठ-दस बरस बीत ये गए,
भरा आकण्ठ प्यार का सार,
अनेको वैसारिणि के वृन्द
दे रहे है कौतुक-उपहार,

ऊर्म्मिला के हिय लक्ष्मण बसे,
लखन के हिय ऊर्म्मिला-निवास,
रग यह अब चोखा चढ गया,
तनिक देखे उनका उल्लास,

वासना का न कही है लेश,
न रहा कदापि कलह का क्लेश,
जब कभी बाकी जोडी गई,
रह गया सदा नेह अवशेष।

(३)

बह चली है तटिनी भरपूर,
दूर तक फैली जल की राशि
नही है उत्कण्ठा-उत्क्रोश,
मूक हो गई हिये की श्वासि ,

एक-दूजे मे ओत-प्रोत—
स्रोत दोनो ये एक समान ,
एक धारा हो कर बह रहे,
देह दो, किन्तु एक है प्राण,

मान का दान और प्रतिदान,
हास का पाश और सुविलास,
ऊर्म्मिला के आँगन मे, सखी,
कर रहे है मन्द स्मित रास ।

(४)

लेखनी, यह सयोग निहार,
करो कुछ ऐसा वर्णन आज ,
बहे शृङ्गार-सुरस की नदी,
न दीखे तट-वर्त्तिनी सुलाज ,

आज कुछ ऐसी हो उन्मत्त-
करो विचरण—विचरण के हेतु,
नदी को पार करो, री दीन,
कहाँ की नाव, कहाँ का सेतु ?

लखन, ऊर्म्मिला निभावे तुझे,
बनी कागद की तेरी नाव,
कही यदि वह विगलित हो गई,
अमरता धोयेगी तव पाँव ।

(५)

"सुनो, माँ, मेरी भी कुछ सुनो,–
या कि वे ही सब सच कह रहे ?"
सुमित्रा से यो प्रार्थी बने,
ऊर्म्मिला के लोचन डहडहे ,

खेलता था उन मे आह्लाद,
और क्रीडा का लोलुप भाव ,
किन्तु लक्ष्मण का मृदु सामीप्य–
लगाता था लज्जा के दाव,

इस तरह नेत्रो को नत किए,
किन्तु दरसाती कुछ-कुछ खीझ,–
सुमित्रा माता के पार्श्व मे,
ऊर्म्मिला खडी हुई थी रीझ ।

(६)

क्वणित परिहास-शीलता लिए,–
हिलाते मा का अचल छोर,–
लोचनो से कौतुक की वृष्टि–
कर रहे थे लक्ष्मण उस ओर ,

सुमित्रा उन दोनो के बीच-
हो रही थी पर्य ासीन ,
कि मानो दो मध्यान्हो मध्य–
हो रही अरुणा सन्ध्या-लीन ,

एक क्षण लक्ष्मण को वे देख,
दूसरे क्षण ऊर्म्मिला निहार,
सोचती थी–"अब इस पे, या
उस पे, मै हो जाऊँ बलिहार ?"

(७)

र रहे थे लक्ष्मण—"मा, तुम्हे—
दाचित होगा कम विश्वास,
किन्तु सुन लो, ऐसी है बात—
म्हारी पुत्र बधू की खास,"

सुमित्रा बोली उन से, "लखन—
कह रहे श्रुतकीरति की बात ?"
"नही, मा, इनकी, ये जो खडी—
तुम्हारे आगे हो नत माथ,

ह रही थी कि अयोध्यावास,
झे है असहनीय अब और,
योकि मा श्वश्रू के वात्सल्य—
ोर का मैंने पाया छोर ।"

(८)

लखन के सुन ये बचन समोद,
पाणि-पल्लव से अपने खीच,—
सुमित्रा ने सस्मित ली बिठा
ऊर्म्मिला को गोदी के बीच,

ख उनके ओष्ठो की रेख,
हा थी लज्जा कुछ, कुछ कोप,
मित्रा बोली हँस कर, किन्तु,
खन लाला पर कर आरोप,

"बडे हो तुम धनुधारी वीर,
खडे हो लेकर मेरी ओट,
और मम सुत-कान्ता पर आज
कर रहे हो यो कर्कश चोट ।

(९)

ऊर्म्मिले, बेटी, है क्या बात ?
कहो तो, देखूँ, चुपके कहो ।"
उधर लक्ष्मण ने अंगुलि उठा,
किया संकेत कि "अच्छा रहो–

देख लूंगा ।" पर, मा के नेत्र
ऊर्म्मिला ने फेरे उस ओर,–
जिधर चुपके-चुपके से डरा
रहा था सुभग ऊर्म्मिला-चोर ।

पकड़ जाते अपने को देख
रच खिसियाए लक्ष्मण, अहा ।
किन्तु फिर अट्टहास का स्रोत
महल के वातायन से बहा ।

(१०)

"कहो तो, रानी, है क्या बात ?"
सुमित्रा बोली, हुलसे प्राण,
मन्द मुसकान बिलसने लगी,
जुट गया सुषमा का सामान ,

ऊर्म्मिला ने धीरे से, ओह,
बहुत धीरे से अपने अधर–
डुलाए, लाज निछावर हुई,
उठी यह मधुरा वाणी निखर–

"कुछ समय से ये यह प्रस्ताव
कर रहे हैं मुझ से दिन-रात,
चलें विन्ध्याद्रि-दरस के हेतु
आपको ले कर अपने साथ ।

(११)

सताती है इनको, मा, देवि,
आप से कहने मे कुछ लाज,
इसी से मुझे बीच मे डाल
कर रहे थे ये अपना काज ,"

ऊर्म्मिला के सुन कर ये बैन
सुमित्रा माता हुई निहाल,
और लक्ष्मण से कहने लगी,
"बात इतनी ही थी, क्यो लाल ?

वृथा फिर तुमने कौशल और
नीति से लेना चाहा काम,
ऊर्म्मिला का ले कर यो नाम
कर रहे क्यो उस को बदनाम ?"

(१२)

"क्योकि तुम मझसे भी कुछ अधिक
चाहती हो इन को, हे जननि,
इन्ही के सुख-पौधो से शस्य–
श्यामला है तव मानस-अवनि,

इन्ही के नव विराग का राग–
इसी से मैने छेड़ा आन,
किन्तु तुम दोनो ने मिल मुझे
छकाया खूब, किया हैरान ,

बात यह है कि युद्ध औ' सैन्य
आदि की देख-रेख का काम
बहुत कर चुका—चाहता हूँ अब
कुछ दिन तक करना विश्राम ।"

(१३)

"लखन, तुमको होता है डाह,
ऊर्म्मिला के दुलार को देख ?
याद है तुम्हे ? चन्द्र से अधिक–
प्रियतरा होती उसकी रेख ,

बहू यह मेरी रानी बडी,
प्यार करने मे मुझे न लाज ,
द्वेष मत करो, सुनो, हे वत्स,
मूल धन से है प्यारा व्याज ।"

ऊर्म्मिला सुन श्वश्रू के वचन
लाज से गोदी में गड गई,
और व्रीडा की लोहित कान्ति
कपोलो पर आकर अड गई ।

(१४)

लड गई फिर अँखियाँ वे चार,
बचा कर मा के दोनो नैन ,
ओष्ठ दोनो के चारो हिले,–
किन्तु निकला न एक भी बैन ,

छके वृद्धा के लोचन युग्म,–
प्रणय का यह आवेग निहार ,
सुमित्रा हुई धन्य, अति धन्य,
देख लज्जा का पारावार ,

चुराकर, चुपके-चुपके, लखन-
नेत्र-षटपद् मँडराने लगे,
ऊर्म्मिला के कपोल अरविन्द,
मन्दगति से इतराने लगे ।

(१५)

"वत्स" माता के सुन ये बचन–
युगल जोडी कुछ चौकी । अहा–
हिडोले की मानो भरपूर–
पैग रुक गई,–जननि ने कहा–

"वत्स, वन-यात्रा की यह बात
तुम्हारी, मुझको है स्वीकार,
तुम्ही दोनो जाओ मुदमान
क्योकि मम गमन कठिन इस बार,

पूछ लूँगी नरपति से आज
तुम्हारे जाने मे क्या देर ?
दास-दासी सब है तैयार
सुनो तुम वन-विहँगो की टेर ।

(१६)

डालियो पर बैठे है विहँग,
कर रहे है कुछ बाते आज,
आ गए वन-विहार के हेतु,
ऊर्म्मिला रानी, लक्ष्मण राज,

फूल कहता 'मै फूला मुदित,
कली, तू भी खिल जाना, अये,
अवध के कुसुम, कली के सहित,
हमारी अटवी मे है छये ।'

गा उठो पक्षी स्वागत गीत,
छिटक जाए स्वागत का रग,
ऊर्म्मिला-लक्ष्मण का नव मोद,
देख लज्जित हो उठे अनग ।

(१७)

कुरगम कूदो, खेलो खेल,
हरिणियो, नाचो अपना नाच ,
देखती हो क्या कौतुक-भरी—
ऊर्म्मिला के लोचन नाराच ?

करो तुम मत कुछ चिन्ता, अरी,
न होगी तुम अब उन से बिद्ध ,
सुलक्ष्मण को कर के आबद्ध,
हो गया उनका जादू सिद्ध ,

विशिख वे बडे तीक्ष्ण है,
किन्तु,लक्ष्य तो है उनका उस ओर,—
जहाँ धनुधारी लक्ष्मण वीर
बाँधते है निज धनु की डोर ।

(१८)

कोकिले, नव वसन्त आ गया,
हो रहा वृक्षो मे रस रास ,
छेड दो कुहू-कुहू की तान,
फैल जाए वन मे उल्लास ,

होड बद जाय, इधर ऊर्म्मिला,
उधर कोयल तू, बोली बोल ,
आज अम्बर से गगा बहे,
अरी, सुस्वर की मिश्री घोल ,

श्रवण जुड जाँयँ, नयन उड जाँयँ,
तान का तारतम्य बँध जाय,
लखन की हिय डाली पे आज
ऊर्म्मिला कोकिल-सी सध जाय ।

(१९)

आज यह गगन नृत्य कर रहा,
थिरकती है अवनी मोहिता,
नृत्य के क्रम से होकर थकित,
दिशाएँ है आठो लोहिता,
हिलोरे लेता है आनन्द,
रास क्रीडा अद्भुत हो रही,
नृत्य-कम्पन से कम्पित हुई—
रजकणो की जडता खो गई,
वसतागम को सँग-सँग लिए,
आ गए लक्ष्मण उपवन-गेह,
वन-श्री को हुलसाती आज
ऊर्म्मिला आई है सस्नेह ।

(२०)

देह धारण कर राग सुहाग—
विचरता है । वन की वीथियाँ—
फुल्ल कुसुमो से सज्जित हुई,
नेह की दरसाती रीतियाँ,
नीतियाँ मोड-मोड मुख चली,
प्रेम की नीति धरे सिर ताज—
आज वन मे विचरण कर रही,
एक छत्रा करती है राज,
टूट गिर पडे लाज के दाम,
काम का हुआ न किन्तु प्रसार,
पचशर कर क्या सकता वहा
जहा है लखन-ऊर्म्मिलाऽगार ।

(२१)

विश्व मे छाया नूतन लास्य,
नृत्य-क्रीडा का अभिनव रास,
रास या महा रास का दृश्य ?
उपस्थित था ससृति का हास,
चराचर चहक रहे थे मुदित,
उदित थी नेह-चन्द्र की कोर,
दिवस मे भी वह फैली हुई
लुभाने लगी अनेक चकोर,
अरी ऊर्म्मिले, ताल दे उठो,
नचा दो लक्ष्मण के पद-पद्म,
महल की पाली हुई कपोति,
हुआ वन आज तुम्हारा सद्म ।

(२२)

चन्द्र को, रवि ने निज रथ रोक,
किया आमन्त्रित अपने पास,
दिशाये ताली दे-दे उठी,
काँपने लगा शुभ्र आकाश,
गगन ने नीली चादर बिछा,
सजाया रगमच को खूब,
चाद-सूरज का हुआ सुनृत्य,
एक मे एक गए वे डूब,
चरण-विन्यासो से कुछ सिकुड,
फट गया वह अम्बर का छोर,
प्रलय होते-होते बच गया,
ऊर्म्मिला ने की करुणा-कोर ।

(२३)

फुल्ल कुसुमो ने भेजे पत्र,
पक्षियो के नीडो के द्वार,
और लिख भेजा उनको कि है—
आज रसिको का रास–विहार,
चिटक कलिकाएँ कहने लगी—
"रास हम भी देखेगी आज,
न होगी किन्तु सम्मिलित अभी,
क्योकि लगती है हमको लाज,"
कुसुम फूला सा बोला एक,
ठठोली करता—'भोली कली,
तनिक खिल के खुल खेलो खेल—
यहा है लखन, जनक की लली।'

(२४)

उतर आए कोष्ठो से भ्रमर,
गुनगुनाते नीचे उड चले
फुल्ल कुसुमो के ले दल-पाणि,
मडलाकृति हो कर जुड चले,
नेत्र थिरके, थिरक सब पख,
हुआ वह खेल, हुआ वह रास,
कुसुम काँपे, सब दल हिल उठे,
उमड आया मृदु राग विभास,
झूमने लगे मत्त-से लखन
देख यह प्रकृति-नटी का रास,
ऊर्म्मिला प्रिय-ग्रीवा से लटक,
कर उठी कम्पित-सा उपहास।

(२५)

पवन डगमग पग धरती बही,
सकुचित कलियाँ कुछ हिल उठी,
हृदय मे धारे रेणु पराग,
ऋतुमती के रज-सी खिल उठी,
चहकने लगे विहगम वृद,
महक उट्ठे नव कलिका-गुच्छ,
दहकने लगी हृदय की आग
भस्म हो चला काम वह तुच्छ,
स्वच्छता की आँधी चल पडी,
दक्षता उमडी चारो ओर,
रच गया महा रास का साज,
ऊर्म्मिला का नाचा मन मोर ।

(२६)

घोर रव का आवाहन-मन्त्र—
प्रकृति के कण्ठ द्वार पर रुका,
मन्द्र स्वर का सोता गम्भीर —
बहा । नीरवता के ढिग झुका,
बसन्ती घडियो मे बह उठा,
पर्ण-कण्ठो से मर्मर राग,
फाग छाई नभ मे । जग बीच,
नीद का छाया राग विहाग,
जागना रास-चक्र मे कहा ?
यहा उल्लास, विलास, सुरास,
ऊर्म्मिला ने हँस कर दी डाल
सुलक्ष्मण की ग्रीवा मे पाश ।

(२७)

गूँज उट्ठा नव-जीवन-गीत,
बहा नवरस कण-कण मे आज,
कोपले फूटी, अडज मुदित,
नई ससृति का जुडा समाज,
राज मधु का छाया चहुँ ओर,
डोर बँध गई नेह की नवल,
सबल लक्ष्मण-भुज मे बँध गई—
ऊर्म्मिला। बहा स्रोत अति प्रबल,
प्यार की सरिता उमडी और
तरंगित हुआ हृदय–कल्लोल,
लोल लोचन सकुचाये और
चुम्बनो से सज गए कपोल।

(२८)

बेच दी अपनी जडता आज—
प्रकृति ने नव चेतन के हाथ,
बिक गई ज्यो हीरे की कनी,
किसी पारखी चतुर के साथ,
लगन लग गई, मगन हो गई--
विमल ऊर्म्मिला हो गई धन्य,
लखन का नव उपवन खिल उठा,
नेह हो गया नितान्त अनन्य,
सैन्य उमडी मनोज की। खिले
हिये मे चिर सँजोग के फूल,
ऊर्म्मिला का दुकूल हिल उठा,
हर्ष फैला सरिता के कूल।

(२६)

अरे, सब दिङ् मण्डल का नही—
चराचर का यह रास-विलास,
दिशाओ का सचालन और—
चेतनामय जग का उल्लास,—

गुँथ गया जड के कण-कण बीच,
और चेतन के स्पन्दन मध्य,—
उठी सब ओर नई-सी लहर,
मिल गया गद्य और नव पद्य,

सचेतनता जडता मे मिली,
अँधेरा नव प्रकाश मे मग्न,
छा गया नव-किरणो का राज्य,
हुई ससृति सु-रास-सलग्न ।

(३०)

धमनियो मे दौडा नव रक्त,
भक्तगण भूले निज भगवान
हो गए अपने ही मे लीन,
अहम् के छूटे तीखे बाण,

प्राण-सचालन की नव-क्रिया—
कर चली पैदा कुछ उन्माद,
नशा-सा छाया चारो ओर,
वसन्तागम का नवल प्रसाद,

याद भूली अन्तर की,—बाह्य
रूप मे हुए जीव सब मुग्ध,
मदिर रस मे परिणत हो गया
नव्य ससृति का निर्मल दुग्ध ।

(३१)

क्षुब्धता भगी, जगी नव-प्रीति,
रीति रति की परिचालित हुई ,
पुराने पत्ते सब गिर गए,
नई कोपल से कलिया चुई ,
हुई वे रग–राग मे मस्त,
ठगी-सी जो थी अब तक म्लान ,
सारिका अभिसारिकानुकूल–
गा उठी नव सँजोग का गान ,
तान पर तान छिडी सब ओर,
निराशा का निशान्त हो गया,
ऊर्म्मिला लक्ष्मण का सब कष्ट
मृदुल वन–विहार मे खो गया ।

(३२)

कल्पने, जब यह सुन्दर रास,
छा रहा था वन मे सब ओर ,
तभी ऊर्म्मिला वधू के नैन,
बन गए लक्ष्मण के चित-चोर ,
बहुत धीरे-धीरे से, किन्तु,
बहुत चतुराई से वे चले–
चुराने पिय के हिय की राशि
सजग से बे लोचन अति भले ,
कुटी उनकी हो गई निहाल,
किया दोनो ने उपवन–वास,
चलो, कल्पने, देख ले उन्हे,
मिटे जीवन का दारुण त्रास ।

(३३)

बडी-सी उटज एक यह बनी,
तन रहा उस पर कुसुम-वितान,
हरित पल्लव की साडी पहिन,
कुटी गा रही मिलन का गान ,

आज उसके भीतर दो हृदय,
एक लय-अनुगत हो मिल रहे ,
एक ही ताल-स्वरो मे बँधे,
एक सुस्पन्दन से हिल रहे,

कुटी के शून्य कक्ष मे, अये,
कल्पने, लक्ष्मणोर्म्मिला मिले,
पर्ण कुटिया रोमाञ्चित हुई,
नेत्र-वातायन उसके खुले ।

(३४)

ऊर्म्मिला बैठी थी,——सौमित्र–
तनिक अलसाये-से, कुछ क्लान्त–
सामने बैठे थे । ज्यो पथिक–
प्रवासान्ते होता विश्रान्त ,

कई शत वर्षो के उपरान्त,
पथिक पा गया ईप्सित स्थान ,
लालसा मिटी, दरस मिल गए,
हुए लक्ष्मण मन मे मुदमान ,

मिली ऊर्म्मिला उन्हे । वे मिले
ऊर्म्मिला को । क्या योगायोग ?
तपस्या का फल आया द्वार,
प्रतीक्षित पूर्ण हुआ सयोग ।

(३५)

विजृम्भण से लक्ष्मण का वदन–
हुआ धीरे से पुलकित । अहा–
कहा अँगडाई ने, "ऊर्म्मिले,
नीद का नूपुर यह बज रहा ।"

रखा लक्ष्मण ने मस्तक आन–
ऊर्म्मिला की जघा पर । और–
मूँद कर नेत्र बढा दी भुजा,
प्रियतमा की ग्रीवा की ओर,

डोर अरुझी व्रीडा की । रम्य
रमण के सुरझ गए सब तार,
थकित क्रीडा ऐसे झुक रही––
मेघ ज्यो झुक आये दो-चार ।

(३६)

ऊर्म्मिला ने धीरे से कहा–
"आ रहा है निदिया का सैन्य
विजित करने, अपराजित, तुम्हे,–
दिखाओ हो क्यो अपना दैन्य ?

बडे हो युद्ध-कुशल तुम आर्य,
छेड तो दो निद्रा से युद्ध,
तनिक देखूँ–ये कैसे निपट–
मृदुल आँखे हो जाती क्रुद्ध,

रुद्ध कैसे होती है श्वास,
युद्ध-लक्षण दिखला दो सभी,
कहो तो ले आऊँ धनु-बाण,
या कहो असि ले आऊँ अभी ।"

(३७)

"ऊर्म्मिले" यो अलसाने बैन
सुलक्ष्मण बोल उठे तत्काल,
"ऊर्म्मिले, तुम हो मेरा धनुष,
तुम्ही हो मेरी असि विकराल,

तुम्ही तो खीच रही हो मुझे
नीद के रग महल मे आज,
तनिक मुसका दो, रानी, और,
जागरण की तुम रख लो लाज,

नेत्र मीलित है मेरे, किन्तु,
तुम्हारे मन्दस्मित की रेख,—
समा जाएगी नैनो बीच,
बिधेगा निद्रा का अविवेक।"

(३८)

ऊर्म्मिला बिहँस उठी, जब सुनी—
लखन की प्यार पगी यह बात,
हो गए कुछ आरक्त कपोल,
लाज से सकुच गए सब गात,

देख ली उनकी लज्जा-छटा,
सुमित्रा-सुत ने, आखे खोल,
और बोले—"क्या युद्धोत्साह—
किये है रजित युग्म कपोल ?

थक गई होगी करते युद्ध
नीद से—आओ मेरे फूल।"
ऊर्म्मिला के कपोल से सरक
गया उनका वह विरल दुकूल।

(३९)

कहूँ आगे की मै क्या बात ?
ऊर्म्मिला-चरणो का मै भक्त,
स्वामिनी है मेरी वे देवि,
लखन रहते उन मे अनुरक्त,
हमारे सदृश पाप के पुञ्ज
कुटी मे कैसे करे प्रवेश ?
पूर्ण शुचिता छाई है उधर,
इधर है निन्द्य वासना शेष ;
चरण-रज के प्रसाद से जब कि
बनेगे निर्मल मेरे प्राण,
तभी गाऊगा मै निर्द्वन्द
भाव से रति-क्रीडा के गान ।

(४०)

अभी तो चलो, कल्पने, चले,
लखन की आज्ञा लेकर आज ;
नवल कुटिया की सुन्दर द्वार—
देहली पे बैठो सज . साज ;
सजगता से सब बाते सुनो,
हृदय मे लिख लो उनको, अये,
भक्ति के सूत्र, नेह के रूप,
सभी कुछ बिखरेगे नित नये,
हमारे आर्य-धर्म के विमल
ध्वजा धारी, ये, शुचिता-ओक,
ऊर्म्मिला-लक्ष्मण वन के बीच,
विचरते है होकर गत शोक ।

(४१)

"कहो तो एक बात मे आज,
पूँछ लूँ तुम से प्रिय," यों कहा—
ऊर्म्मिला ने । जिज्ञासा ने कि—
ज्ञान का शुभ कर-पल्लव गहा ,

"कहो, क्या है वह ऐसी बात
कि तुम भूमिका बाँधने चली ?
सुनो टुक, मै हूँ सैनिक एक
और तुम हो विदेह की लली ,

लोक, परलोक, अण्ड, ब्रह्माण्ड,
जीव, माया—यह मुझे न ज्ञात,
न जाने क्या तुम पूछो, देवि,
कहो फिर भी, क्या है वह बात ?"

(४२)

"हास-उपहास भाव के इन्द्र,
सुनो मेरी परिपृच्छा दीन ,
मिटाओ सशय, हे वागीन्द्र,
सुनो टुक तुम हो कर तल्लीन ,

प्रेम के शुद्ध रूप मे, कहो,
सम्मिलन है प्रधान, या गौण ?
कौन ऊँचा है ? भावोद्रेक ?
या कि नत आत्मनिवेदन मौन ?

मिलन—यह सासारिक सयोग,
पार्थिव भाव—है न यदि पूत,
कहो तो, फिर सम्मिलनोल्लास
हुआ क्यो मनुज-प्रकृति-सभूत ?"

(४३)

ऊर्म्मिला की सुनते ही बात,
उठ पडे सहसा लक्ष्मण वीर,
जाग उठता है जैसे पथिक,
उषा जब देती नभ को चीर,

ऊर्म्मिला को भुज भर के उठा,
बिठाया निजोत्सग के मध्य,
और उनके मुख पर दी गाड
दृष्टि निज स्वप्निल, निर्मल, सद्य,

तथा-"ऊर्म्मिले देवि ऊ र्म्मि ले!"
कढे लक्ष्मण के अस्फुट बैन,
और उतराने लगे प्रशान्त
महासागर मे उनके नैन ।

(४४)

"रच मेरी गोदी म बैठ,
रच आतुर-सी हो कर रहो,
रच वैसी ही झिझको, देवि,
रच फिर से प्रश्नावलि कहो,

ऊर्म्मिले, तुम रानी ऊर्म्मिले,
लगाओ फिर प्रश्नो की झडी,
अपार्थिव औ' पार्थिव सयोग–
समस्या की फिर गूँथो लडी,

ऊर्म्मिले, प्रश्न नही है,–प्राण-
तक्र का यह है नव नवनीत,
करू कैसे विश्लेषित इसे ?
जगा दी तुम ने सुरति अतीत ।"

(४५)

भाव के भूखे वे सौमित्र,
कर उठे जब यो सहसा कथन ,
ऊर्म्मिला सहम गई तत्काल,
न निकले उसके मुख से वचन ,
लजीली रसना चुप हो रही,
कण्ठ का द्वार हुआ अवरुद्ध,
ओष्ठ का सुस्पन्दन थम गया,
हुआ चचल मन कुछ हत बुद्ध ,
शुद्ध वचनावलियो ने किया
नम्र दैन्याश्रम मे विश्राम,
राम के अनुज निछावर हुए,
निरख यह मौन–मूर्त्ति अभिराम ।

(४६)

और फिर बोले हो गभीर–
"प्रश्न क्या है ? कि प्रेम मे,–अहा,
सम्मिलन है प्रधान या गौण ?
चिर विरह का आसन है कहा ?
सुनो ऊर्म्मिले, तुम्हारी बात–
बडी गहरी है । कही न थाह,
कहूँ जो कुछ, उस मे मै यहा,
कदाचित् गुथ जाऊँगा, आह ,
किन्तु अपनी पृच्छा का, देवि,
तनिक विस्तृत–सा उत्तर सुनो,
जनक की तनये, रुचि अनुरूप
कटकित यह प्रश्नोत्तर चुनो ।

(४७)

प्रेम के शुद्ध रूप मे कहो—
सम्मिलन हैं प्रधान या गौण ?
कौन ऊचा है ? भावोद्रेक ?
या कि नत आत्म-निवेदन मौन ?

मिलन—यह सासारिक सयोग,—
पार्थिव भाव—है न यदि पूत,
कहो तो फिर सम्मिलनोल्लास
हुआ क्यो मनुज-प्रकृति-सभूत ?

यही है प्रश्न, यही है प्रश्न,
बॅधा है धागे में यह प्रश्न
अरे कच्चे धागे का सिरा कहा ?
उठता यह रह-रह प्रश्न ?

(४८)

प्रेम क्या है ? रानी कुछ कहो,
क्षुधा क्या है यह अति विकराल ?
नीद क्या है निशीथ की घोर ?
आत्मरक्षा क्या यह सुविशाल ?

बनी यदि सृजन-भाव का हेतु
सतत जीवन-धारण-अभिलाष,
प्रश्न फिर भी है जीवन-लोभ
किस लिए डाल रहा है पाश ?

ऊर्म्मिले, कुछ विचार तो करो
कि कितनी गहराई के बीच,—
उतारा तुमने मुझको ? अरे,
कहा ले डाला मुझको खीच ?

(४६)

उस समय जब हम सब परमाणु,–
सृष्टि के आदिकाल के समय,–
एक मे एक, शक्ति से बिधे,
मचाते थे जडता का प्रलय ,–

उस समय प्राण-दान का खेल—
हुआ । हम सभी हुए उत्पन्न ।
तभी से श्रवण-रूप-रस-गन्ध–
व्याधि से है, हम सब आच्छन्न ,

अन्न मे आ कर अटके प्राण–
खिलाडी का है यह सब खेल,
वासनावृत है हम, हा,—किन्तु
मोक्ष की बढती जाती बेल ।

(५०)

बना यह पचभूत का कोष,
हुआ प्राणो का नव-सचार ,
छिद गए चेतनता के बाण,
खुले जीवन के बद्ध किवार ,

उत्क्रमण का विकास हो गया,
प्रसारित हुआ बोध, प्रतिबोध ,
युद्ध ठन गया–आग लग गई,
दिखाई दिया रक्त-प्रतिशोध ,

जीव ने करके जडता विजित
उठाई अपनी ग्रीवा उच्च,
अयुत वर्षो तक फिर भी रहा
वासना मे लिपटा वह तुच्छ ।

(५१)

आदि मे शिश्नोदर की व्याधि,
रही परिचालित करती उसे ,
किन्तु हिय मे जिज्ञासा-भाव,
छिपा था अन्तस्तल मे घुसे ,

बनो मे भूला भटका फिरा,
खोजता अपने पन का रूप ,
बना उन्मत्त,—बनाय्म और,
स्वय का अद्भुत रूप अनूप

क्रमिक गति से हृदयोत्पल खिला
खिल उठे नूतन भाव विकार,–
सहस्रो सकल्पो की लगा
गूँथने माला मालाकार ।

(५२)

सहस्रो नव जागृत रस राग–
फाग सी लगे खेलने, अहा ,
आदि की नव-प्रस्फुटिता शक्ति,
पूर्ण विकसित हो आई यहाँ ,

निरी कामुकता का वह रूप,—
प्रथम का वह प्रजनन का भाव,—
कहाँ है आज ? लोप हो रहा ।
यहाँ निग्रह की ओर भुकाव ,

शक्तियाँ धीरे-धीरे, किन्तु
हो रही है अवश्य उत्क्रान्त,
जीव का यात्रा-पथ विस्तीर्ण,
अभी वह कैसे होगा श्रान्त ?

(५३)

मानवेतर समाज मे, देवि,
राग-रस प्रकृति-सिद्ध है बने ,
वासना ही उनकी प्रेरणा,
वासना ही मे वे है सने ,
किन्तु मानवता का गल-हार,
बनी है यह विवेक-शृङ्खला
बेडिया इस ने डाली आन,
वासना बाधी उच्छृङ्खला ,
मेखला कटि मे अब बँध गई ।
प्राकृतिक स्फूर्ति हुई कुछ शान्त ,
विकस खिल उट्ठा ज्ञान अनूप,
भावना सँभली यह उद्भ्रान्त ।

(५४)

प्रथम युग का वह कामुक भाव,—
प्रेम मे अब परिणत हो गया ,
इन्द्रियो का भौतिक परितोष,
ज्ञान की गोदी मे सो गया ,
खो गया है वह अन्धावेश,
प्रेम आदर्श-रूप बन गया ,
सुसस्कृति ने खीची करवाल,
हृदय मे युद्ध आज ठन गया ,
मानसिक, शारीरिक, प्रक्रिया
हो रही भिन्न। उदित है भानु ,
तिमिर का अवगुठन फट रहा,
हुए आलोकित सब परमाणु ।

(५५)

मानसिक क्षितिज हुआ विस्तीर्ण,
हुआ आलोकित, द्युति से पूर्ण,
तमोगुण के भूधर के शिखर—
हो रहे है अब कुछ-कुछ चूर्ण,

पूर्ण स्वातन्त्र्य, पूर्ण विस्तार,
देह के गुण-बन्धन से मुक्ति,
हो रहा है मुक्ता का जन्म,
फट रही है सम्पुट-युत शुक्ति,

हमारे श्वशुर,——सदेह विदेह,——
पूर्णता के है शुचि आदर्श,
तपोबल से है निर्मित किया
उन्होने जीवन का नव वर्ष।

(५६)

जीव करता है मार्ग-क्रमण
प्रतिक्षण, प्रति मुहूर्त्त, प्रति घडी,
प्राकृतिक जडता की शृङ्खला
बनी भावोन्मेषो की लडी,

लगाती है वह झटका एक
जीव बरबस खिच आता, प्रिये,
तनिक सँभला, फिर झटका लगा,
पतन फिर हुआ पतन के लिए,

कई झटके लगते है, किन्तु
जीव बढता जाता है सदा,
अन्त मे जनक देव के सदृश
प्राप्त कर लेता है सम्पदा।

(५७)

प्रेम के शुद्ध रूप मे कहो,
कहाँ है पार्थिवता की चाह ?
उस अवस्था मे तो, हे देवि,
नही है कटु वियोग का दाह ,

वहा है चिरकालीन मिलाप,
मिला पट से ज्यो अचल छोर
नही है वहा दरस का मोह,
हिये मे बस जाता चित-चोर,

तुरीयावस्था म यह भेद-भाव
प्रेमी-प्रिय का है कहा ?
प्रेम, प्रेमी, प्रियतम सब लोप
एक मे एक हो रहे वहा ।

(५८)

वहाँ तक कैसे पहुँचा जाय ?
साधना कैसे साधी जाय ?
हृदय की सरिता की यह धार
बाँध मे कैसे बाँधी जाय ?

इसी आदर्श-प्राप्ति के लिए—
ऊर्म्मिले, मुझ मे तुम आ मिली
प्रेम की मृदु पूजा के हेतु,
कली-सी तुम इस हिय मे खिली,

तुम्हारे आलिगन से सिहर,—
आत्मा मेरी कँपती रहे,
तुम्हारे दरस-अमिय से मत्त
हुई मम आँखे झपती रहे ।

(५९)

जठर-पोषण से प्रेरित हुई,
निकल आई जैसे कृषि-कला,
स–इन्द्रिय भावो से त्यो, प्रिये,
निरिन्द्रिय प्रेम-विपट यह फला,

मिलूँ मै तुम मे । मुझ मे आन,
घुलो तुम, ज्यो कि सिता की कनी,
पल्लवित हो मम पादप-प्राण,
खिलो उस मे तुम कलिका बनी,

स्नेह का अलि मँडराने लगे,
चतुर्दिक मे गूँजे गुजार,
धार-सी अन्तरिक्ष मे बहे,
स्वरो का बँध जाए इक-तार ।

(६०)

प्यार,——जीवन का यह विस्तार,——
बने ससृति का गायन-भार,
तरगित करे हृदय-कासार,
सत्य-शिव-सुन्दर की मनुहार,

तुम्हारे मेरे का यह भेद,
स्वेद की कणिया बन-बन बहे,
न बहे कामलिप्सा का स्रोत,
दरस-आतुरता फिर भी रहे,

बाहु ये, कुच, यह वक्षस्थली,
लोल लोचन, मुख यह गम्भीर,
एक परिरम्भ–रज्जु मे बँधे——
छलक आए तन्मयता-नीर ।

(६१)

धीरता तिनके सी बह जाय,
हृदय मे आतुरता उठ आय,
एक त्रुटि युग-युग-सी खल उठे,
पलक का अन्तराय उठ जाय,
झिझक मिट जाय, नेत्र गड जाँयँ,
पुतलिया ये चारो अड जाँयँ,
ऊर्म्मिला का स्नेहाम्बुधि-नीर,
ऊर्म्मियो के मिस बढ-बढ आय,
प्यार का पारावार अपार
उमड आए, हम दोनो बहे,
प्रेम की पूर्ण-प्राप्ति की कथा–
कहानी दोनो कहते रहे।

(६२)

थाम लो तुम मेरी धनु-डोर,
थाम लू मै तव अचल-छोर
अग्रसर हो, उस पथ मे जहा–
उठ रहा पूर्ण-प्यार का रोर,
मोर-सा मम मन थिरके, देवि,
मोरनी-सी तुम डोलो पास,
एक मे एक बद्ध हो सदा,–
रहे करते हम दोनो रास,
उसी रति-गति से प्रेरित हुए
करे हम सब जीवन के कार्य,
अये, दिखला दे जग को आज
कि क्या है प्रेम और औदार्य।

(६३)

प्रेम क्या है ? जीवन की गाँठ,—
बँधी जिस से प्राणो की लडी,
हृदय-कम्पन जिस से सचलित,
थिरकता रहता है हर घडी,
सधा है उच्छ्वासो का नाट्य,
उसी के केन्द्र-बिन्दु फर सदा,
बँधी है उसके गुण मे, देवि,
आँख की चचलता-सम्पदा,
प्रेम क्या है ? तुम भी कुछ कहो,
न देखो यो अकुला कर मुझे,
तनिक हिय मे गड जाओ, प्रिये,
द्वैत की ज्वाल रच तो बुझे।

(६४)

फल उठे इष्ट-सिद्धि का विटप,
बनो तुम मै, मै तुम बन रहू,
धनुष तुम धारण कर लो, और
तुम्हारे लाज—वचन मै कहू,
ऊर्म्मिला का विभिन्न अस्तित्व,
अरे हाँ, भूतल से मिट जाय,
और लक्ष्मण का विरहित अह,
स्वप्न की चादर सा सिमिटाय,
एक मे एक रहे लवलीन,
बहे सुरसरि की पावन धार,
बहे हम उधर जहाँ है घहर
रहा प्रेमाम्बुधि गहर, अपार।

(६५)

अरी रानी क्यो ललचा रही ?
लाज से क्यो ठानी है रार ?
तनिक मुख तो कुछ ऊँचा करो,
रच कर लूँ नैनो को प्यार,

एक चुम्बन से नीवी एक,—
हिये मे पड जाती तत्काल,
सालती रहती है प्रति घडी,
कसक करती मुझको बेहाल,

बहुत हौले हौले से कई
ग्रथिया तुम ने की है ग्रथित,
नेह-दधि की ये गाठे, देवि,
आज हो जाने दो कुछ मथित ।

(६६)

मुक्ति की प्राप्ति जीव के लिए
प्रतीक्षा है लम्बी नित नई,
रिझाने को अपना प्रिय-पात्र,
साधनाएँ वह करता कई,

प्राणियो का यह भौतिक-प्रेम,
उसी आकर्षण का है अग,
तनिक सी ठोकर से, हे देवि,
छूट जाता छिलके का सग,

अण्ड मे हुआ प्राण निर्माण
तभी सहसा छिलका फट गया,
लगी भीतर से जागृत चोट,
तभी इन्द्रियावरण हट गया ।

(६७)

बनी हो आराधना-विभूति
ऊर्म्मिले, तुम मेरी इस बार,
अये, गड जाओ हिय मे इसी–
भाँति लज्जा-नौ की पतवार,
लाज की नैया डगमग हिले,
काँपती तुम मेरी पतवार,
लगाओ इसी रीति से पार,
बह रहे है हम-तुम मँझधार,
पार,–देखो वह सुन्दर, दूर,
झिलमिलाता, कँपता, वह पार
सुलोचनि, पहुँचा दो तुम वहाँ,
पूर्णता की बरसा दो धार ।"

(६८)

हो गए यो कह लक्ष्मण मौन,
नेत्र उनके कुछ-कुछ मिल गए,
ऊर्म्मिला के वे चुम्बित ओष्ठ,
लजाए-से कुछ-कुछ हिल गए,
मिल गए दो प्राणो के स्रोत,
हिल गए दो आबद्ध किवार,
खिल गए दो फूलो के गुच्छ,
मिल गए वीणा के दो तार,
ऊर्म्मिला के नयनो से बही
प्रेम-यमुना की गहरी धार,
लगे उतारने लक्ष्मण सुभट
थाम उनकी ग्रीवा का हार ।

(६६)

मूक शब्दावलिया हो गई,
हृदय का स्पन्दन कुछ रुक गया,
अपार्थिव नेह, धार कर देह,
ऊर्म्मिला के ऊपर झुक गया,

चुक गया शताब्दियो का व्याज,
न लेखा-ड्योढा बाकी रहा,
ऊर्म्मिला मे लक्ष्मण घुल गए,
अनोखी थी वह झाँकी, अहा !

द्वैत का सब झगडा मिट गया
कहो फिर कहा हिसाब-किताब ?
प्राण के सम्मिश्रण मे कौन—
पूछता, हुई हानि या लाभ ?

(७०)

नेत्र यो ही चारो झप गए,
चतुर्दिक नीरवता छा गई,
ऊर्म्मिला के उरोज पर झुके,
सुलक्ष्मण को निद्रा आ गई,

पच-शर-रति दोनो आक्लान्त,
हुए तन्मय-से कुछ सो रहे,
पुरुष औ' प्रकृति हुए निर्भ्रान्त,
मस्त अपनी लय मे हो रहे,

खुल गए जाग्रति के सब बन्ध,
"अह" के सारे बन्धन क्षीण,
ऊर्म्मिला-लक्ष्मण मानो आज
हो गए शुचि त्रिजत्व मे लीन ।

(७१)

ग्क की मृदु गोदी मे एक—
गुँथे से वे ऐसे हो रहे,—
त्रिवेणी का मानो आवेश,
उदधि मे मिलते ही सो रहे,

बह उठा उनका सयत प्यार,
पूर्णता का पाया चिर -सग,
ऊर्म्मिला की चादर पर आज,
चढा लक्ष्मण का चोखा रग,

बेध गए वे अनग-नाराच,
नडप उट्ठा मन का सुकुरग,
ज्ञान ने क्षत पर पट्टी बाँध
बढा दी सौम्य अमन्द उमग।

(७२)

हो गए हृदय शान्त, निस्तब्ध,
ललकते भाव हुए विश्रान्त,
ग्रन्थियाँ रस की घुल-घुल गई,
हुई उन्मत्ता तटिनी शान्त,

गहर गम्भीर नेह बह चला,
पुलिन-भेदन का रहा न त्रास,
रास-रस-रति मर्यादित हुई,
मिट गया उल्लघन-उच्छ्वास,

हुआ कुछ अभिनव सा उद्भूत
ऊर्म्मिला-लक्ष्मण का ससार,
प्रखर विप्लावन मे भी सतत,
हो रहा सयम का सचार।

(७३)

हृदय-मन्थन की मधुरी पीर,—
झिझकती हुई कसक की याद,—
सहमती हुई लजीली हँसी,—
अनमनी सी कुछ-कुछ फरियाद,—

छुप गई ये सब, हो कृतकृत्य,
पूर्णता के अन्तर में आज,
ऊर्म्मिला-लक्ष्मण के खुल गए—
द्वैत के सब गुण-बन्धन-साज,

लखन के धन्वा की टंकार—
ऊर्म्मिला की नूपुर-झंकार,
अवश उत्कम्पित करने लगी—
चिरन्तन "एकोऽहं" के तार।

(७४)

क्रमिक गति से जब मन्थन-दण्ड
प्रथम परिचालित होता जाय,
तभी तक मिलता गति-आभास,
कि जब तक गति धीमी, निरुपाय,

किन्तु जब मेरु दण्ड हो जाय—
महद्गति-उत्प्राणित गति-रूप,—
कौन तब कह न उठे—हा, यहा
अगति भी गति का है प्रतिरूप,

एक सीमा है—उसके पार,
स्थैर्य्य, गति, एक रूप बन रही,
एक सीमा है—उसके पार
न "तू" है कहीं, न "मैं" हूं कहीं।

(७५)

चरमता मे है निर्गुण सत्य,
विविधता का न वहा लवलेश,
एक है, वॉ अनेकता नही,
नही है काल, नही है देश,

चरमता है नितान्त निस्सीम,
कहो फिर किसको लॉघे कौन ?
नही हे वॉ आकाश ससीम,
न है वॉ शब्द, न है वॉ मौन,

पूर्णता वहॉ अनिर्वचनीय,
वहॉ है प्यार, अपार, अशेष,
द्वैत की दुविधा वहॉ न शेष,
विरह का वहॉ न क्लेश विशेष ।

(७६)

सगुण तुलना का फैला यहॉ,
चरमता के इस पार, प्रसार,
बडे झगडे दुलार, दुत्कार,
विचार , विकार, ससार, असार,

ऊर्म्मिला-लक्ष्मण इस के पार—
गए थामे सनेह-पतवार,
अविद्या से तर मृत्यु-विकार,
कर रहे है वे अमृत-विहार,

प्रबल हृदयान्दोलन का भाव,
बन गया स्थिरता का प्रतिरूप,
प्रगति बन आई अगति स्वरूप,
बन गई अचल अगति गति-रूप।

(७७)

प्रेम की पार्थिवता की परिधि–,
अपार्थिव केन्द्र-बिन्दु बन गई,
स्थूलता के स्वरूप की रेख,–
सूक्ष्म कण बन-बन, छन-छन गई,
व्यक्ति-गत मूर्त्त सनेह-स्वभाव,
सूक्ष्म बन अणु-अणु मे रम गया,
ऊर्म्मिला-लक्ष्मण का चिर नेह,
खिल उठा होकर अनुपम नया,
प्रम ही प्रेम अनन्त, अपार,
प्यार का उमडा पारावार,
हुआ उनके जीवन मे रुचिर
शान्ति, नीरवता का सचार ।

(७८)

प्रेम की आरम्भिक लघु सरणि,
बन गई सिन्धु अपार, अथाह,
न उस मे रहा प्रवाह-विकार,
न रही चलित गति की कुछ चाह,
एक गम्भीर प्रशान्त सुघोष,
एक गति निश्चल, स्थिरतामयी,
चण्ड बडवानल सयत हुआ,
मिली सामर्थ्य-गहनता नयी,
कभी यदि हुआ वीचि-विक्षोभ,
रहा फिर भी वह सयमबद्ध,
नही अतिलघित रेखा हुई,
छुट गए हृदय-विकार निषिद्ध ।

(७९)

सकल-विप्लावक उनकी शान्ति,
चराचर पोषक उनका स्नेह,
जगत्-तोषक उनका सुप्रसाद,
प्रणय उनका गम्भीर विदेह,

शिथिलता, परम तुष्टि की, लिए,—
निखिलता, चरम सिद्धि की, साथ,
ऊर्म्मिला-लक्ष्मण ने कर दिया—
प्रणय के प्रण को आज सनाथ,

समर्पण कुछ ऐसा हो गया—
चढी हिय की भेटें नित नई,
मगन-मन-दीप-शिखा जग गई,
लगन कुछ ऐसी ही लग गई।

(८०)

हिये आलोकित जगमग ज्योति,
'नेङ्गते सा उपमा सुस्मृता,'
हुआ मानस मडल निर्धूम,
दिशाये रही न मेघावृता,

हट गये, सशय के सब अभ्र—
फट गये, था निर्मल आकाश,
छँट गए छायामय सब विघ्न,
कट गए आत्म-दैन्य के पाश,

हुआ जीवन-मग मे आलोक,
राज-पथ सँकडी गलियाँ बनी,
ऊर्म्मिला को जीवन-पथ बीच
लिए जा रहे ऊर्म्मिला-धनी।

(८१)

झुट-पुटे क्षण चम–चम कर उठे,
पन्थ-रज-कणिया हुलसित हुई,
चतुर चरणो का पुण्य-प्रसाद
कि जीवन-गलिया पुलकित हुई,
लक्ष्मणोर्म्मिला चरण-विन्यास–
बन गया चतुष्फलो का रूप,
नेह उनका मँज कर बन गया–
सत्य, शिव, सुन्दर रूप-अनूप,
हुए यति-गति-रति-मति-पति लखन,
बनी अति गति-मति-यति ऊर्म्मिला,
बन गए लखन विदेह अनग–
बनी कल्पना-सुरति ऊर्म्मिला।

(८२)

हुए अन्तर-तर विमल विशुद्ध,
ज्ञान जग बैठा पूर्ण प्रबुद्ध,
मुकुर का मल पल मे हट गया,
भावना जगी धर्म अविरुद्ध,
हुआ आन्दोलित हिय-हिडोल,
पैग, समता की रह-रह बढी,
बढी, फिर बढी और फिर बढी,
अलख के सिहासन तक चढी,
ऊर्म्मिला-लक्ष्मण मय हो गई,—
हुए ऊर्म्मिला-रूप सौमित्र,
ऊर्म्मिला-हिय मे छाए लखन,—
लखन-मन बसा ऊर्म्मिला–चित्र।

(८३)

युगल जोडी के चारो नयन
परिष्कृत , निर्मल, पावन बने,
सतत ग्ररुणा-करुणा तल्लीन,
हो रहे वे मनभावन घने,
नयन, हिय के वातायन बने,–
दिखाते ग्रन्तस्तल की शान्ति,
परम विश्रान्ति, चरम निर्भ्रान्ति,
छा रही जहा साधना–कान्ति,
लखन के प्यार पगे वे नेत्र,
ऊर्म्मिला के वे सकरुण नैन,
साधना के वे गहर गवाह,
मौन के वे ग्रनबोले बैन ।

(८४)

लखन के तपो-तेजमय नेत्र–
ऊर्म्मिला को प्रतिबिम्बत किए,–
ऊर्म्मिला की स्वप्निल ग्रॅखडिया–
लखन–छवि को हृदयाकित किए,
विजित इनके यो चारो नयन,
बने मद माते, गहर, गभीर,–
लगे छलकाने चारो ग्रोर
परम जीवन का मधुमय नीर,
कुसासारिकता की मरु-भूमि,
पल्लवित बन मे परिणत हुई,
मुई तप्तता, चुई रसधार,
एकता बही, मिट गई दुई ।

(८५)

प्यास की हाहाकार पुकार,–
वासना का उत्तप्त बुखार,–
मोह, मद का वह मदिर खुमार,–
उपेक्षा का अति शीत तुषार,–
हुए लय ये सब एकाएक,
मिट गए मात्रास्पर्श अनेक,
छिड गई साम्य-गीत की टेक,
जग गया उनका विमल विवेक,
निम्नगा वृत्ति हुई म्रियमाण,
ऊर्ध्व-आकृष्ट हो गए प्राण,
हुए रज-तम के कुण्ठित वाण,
हो गया लखन-ऊर्म्मिला त्राण ।

(८६)

नही मृग-तृष्णा का आक्रोश,
नही लिप्सा की कोई चाह,
नही बलबले, न अन्धा जोश,
न दाह, न आह, न डाह अथाह,
न तडपन कोई बाकी रही,
न कोई वाछा रही अजान,
न कोई बात कही-अनकही,
न मान, न शान, न स्नेहाज्ञान,
लखन-उर मिली विमल ऊर्म्मिला,
ऊर्म्मिला-हिय लक्ष्मण मिल गए,
योग कुछ ऐसा आकर मिला
कि दोनो हिय मिल-मिल हिल गए ।

(८७)

नही थी भ्रान्त धारणा वहाॅ
नही था बुद्धि-भेद का त्रास,
मन-मलिनता का कैसे ? कहाॅ ?
वहा हो सकता है आवास ?

परस्पर सामंजस्य-विलास—
जहाॅ होता रहता है नित्य,
जहाॅ निशिदिन हिय में, सोल्लास,
चमकता रहता ज्ञानादित्य,

वहाॅ फिर कैसी सम्भ्रम-बुद्धि ?
न रहती भ्रान्त धारणा वहाॅ,
पूर्ण थी उनकी अन्त शुद्धि,
अमा की वहाॅ रजनियाॅ कहाॅ ?

(८८)

लखन-ऊर्म्मिला हृदय मे बसा—
परस्पर का निश्चल विश्वास,
भक्ति से नित उन्प्राणित हुआ,
लखन-ऊर्म्मिला श्वास-निश्वास,

आत्म-अर्पण-स्वीकृति का चिन्ह,
पूर्ण-विश्वास अपार, अखण्ड,
स्नेह की सुस्थिर धृति का चिन्ह,
परम विश्वास अमन्द प्रचण्ड,

क्षुद्रता का उस मे न विकार,
न सशय का उस मे कुछ लेश,
न क्लेश, न त्वेष, न ठेस अशेष,
मिले हृदयेश परम प्रेमेश ।

(८९)

न आँधी थी, न वहाँ तूफान,
न वायु प्रचण्ड, न झझावात,
नही था कोई वात्याचक्र,
कलह के न थे घात-प्रतिघात,

बना नभ-मण्डल नील निरभ्र,
गहनता उस मे भर-भर गई,
कही मानस दिक्शूल न रहा
अशुभ मात्राएँ झर-झर गई,

अकम्पित लखन-ऊर्म्मिलाकाश,
स्नेह-रवि-मण्डित, स्वच्छ, अनन्त,
सौम्य किरणो से पूर्ण दिगन्त,
चिरन्तन बसता जहाँ वसन्त।

(९०)

लखन की धनु-टकार प्रचड,
ऊर्म्मिला की नूपुर झकार,
बन गई अनहद नाद अनन्त,
उमड आई निनाद की धार,

भर गए कर्णाम्बुधि वे अतल,
एक रव, एक नाद, छा गया,
गूँज थी दिगदिगन्त मे व्याप्त,
हृदय, उद्घोष-तोष पा गया ,

जग गई अकथ सुरत-रत कथा,
अतीत अनन्त-स्मृति जग गई,
पग गई मधुरे रस मे व्यथा
ठग गई, मगन लगन लग गई।

(६१)

क्षणिक बिछुडन की शैशव पीर—
यौवनागम मे घुलमिल गई,
प्रस्फुटन-व्यथा लिए अनजान,
यथा, मृदुला कलिका खिल गई,

ऊर्म्मिला कलिका चिटकी सलज,
लखन-मन-अलि करता गुजार,
इधर से मधु-रस-धारा बही,
उधर से उमडी गायन-धार,

ऊर्म्मिला, लक्ष्मण बिना अपूर्ण,
सुलक्ष्मण शून्य ऊर्म्मिला बिना,
गणित की क्या ही गहरी सूझ
कि दो को एक रूप ही गिना।

(६२)

ब्रह्म-माया दोनो मिल गए,—
जगन्नाटक के सूत्र बिखेर,
बहुलता के अन्तर से उठी—
एकता की आतुर-सी टेर

मिलन मे द्वैत-भाव मिट गया,
उठी लय स्वनित समन्वय-मयी,
कट गया स्वप्निल सम्भ्रम-जाल,
जग गई सुध-बुध तन्मय नयी,

विषमता का कटु विष उड गया,
सुधा-मधु से प्याला भर गया,
ऊर्म्मिला-लक्ष्मण का चिर प्यार,—
चर-अचर के हिय तर कर गया।

(६३)

अधखिली आँखो मे भर स्वप्न,
बाहु मे आतुरता को लिए,
अधर मे वचन-विकम्पन साध,
हिये मे आकुलता को लिए,
साध कर रसना मे सलाप
बैठ कर श्वासोच्छ्वास-हिडोल,
लिए अजलि मे हृदय-प्रसून,
अमित, रस-लोल, ललित,अनमोल,–
ढुल गई विमला श्री ऊर्म्मिला,
लखन के चरणो मे चुप-चाप,
न मोल, न भाव, न सौदा हुआ,
समर्पण हुआ आप ही आप ।

(६४)

योग-निद्रा नयनो मे भरे,
भुजाओ मे भर शक्ति अखण्ड,
अधर मे लेकर चुम्बन-प्यास,
हृदय मे प्रेम ज्वलन्त प्रचण्ड,
जीह से जपते "श्री ऊर्म्मिला"–
झूलते हिय-कम्पन-पर्य क,
भरे प्राणो म अर्पण-आग,
विचरते मस्त, निपट नि शक,
समर्पण-विधिया पूरी हुई,
उठी तादात्म्य-गूँज घनघोर,
सुलक्षण लक्ष्मण "अह" बिसार–
बँधे ऊर्म्मिला-दृगचल-छोर ।

(९५)

विश्व ही नहीं, अखिल ब्रह्माण्ड—
थिरक उट्ठा, यह स्नेह निहार,
चराचर उत्कम्पित हो गए—
देख दम्पति का पुण्य विहार,
निशाएँ नाची दे-दे ताल,
दिवस नाचे ले कर करवाल,
उषाएँ नाची हो बेहाल,
नची सन्धायें हो कर लाल,
रास-मण्डल परिचालित हुआ,
चराचर मे यति-गति भर गई,
ऊर्म्मिला-लक्ष्मण की रस-राशि
प्रकृति पर कुछ जादू कर गई।

(९६)

गगन-अवकाश नृत्य कर उठा,
नीलिमा भी कुछ कँपने लगी,
सूर्य की वह वर्त्तुला विभूति—
नाचती-सी कुछ झँपने लगी,
थिरक उट्ठी किरणे मुदमान,
दिशाएँ नाची निपट अजान,
शून्य का वक्षस्थल गतिमान
हुआ, लहरा अम्बर सुनसान,
नील नभ-मडल, क्षितिज महान,
सभी थल फैला नृत्य-विधान,
अचर को दे कर यति-गति-दान,
स्थैर्य्य कर रहा नृत्य-अनुमान।

(९७)

सतत नर्तन-श्रम-कण बन खिले,—
गगन म शत-शत तारक बिन्दु,
धीर-गति-जल से पूरित हुआ—
अतल नि सीम गगन का सिन्धु,

नच उठे तारक वृन्द अनेक,
नाचने लगे मुदित उडु-राज,
राशिया नची, नचे नक्षत्र
नाच उट्ठा सब सौर समाज ,

नृत्य-रेखा—मडित आकाश,
पदन्यासो का गूँजा घोर,
लोक-लोकान्तर से रव बहा,
गहर गम्भीर, अछोर, अथोर ।

(९८)

नच उठी घनी कुहू-कालिमा,
नाचने लगी निशा घनघोर,
अखिल ब्रह्माण्ड नृत्य-मय हुआ,
रास-मडल का ओर न छोर,

नृत्य-गति-चलित निशीथ - दुकूल
बन गया पूर्ण वर्त्तुलाकार,
कृत्स्न जगती के जीव अनेक
फॅस गए नृत्य मडलाकार,

ऊर्म्मिला-लखन-हृदय-द्वय थिरक,
नचाने लगे सकल ससार ,
निखिल ब्रह्माण्ड अवश नच उठा,
त्याग कर निज मूढाहकार ।

(९९)

अँधेरे की भी श्यामा छटा,
गुँथ गई ज्योति-पुज के सग,
अँधेरा और उजेला मिला—
दिखाने लगा रास-रस-रग,

अँधेरे की परछाई पडी,
उजेले के वक्षस्थल बीच,
आत्मवत् करने को, सुप्रकाश,—
अँधेरे को ले आया खीच,

उषा, सन्ध्या, निशीथ, मध्यान्ह,—
पूर्व निशि समय, पूर्व दिन काल,
अपर निशि काल, अपर दिन काल,
नृत्य करके हो गए निहाल।

(१००)

मिल रहा उस "भविष्य" मे "भूत",
पकड कर "वर्त्तमान" का छोर,
"आज", बन रहा "अतीत" पुनीत,
"आज" मे उलझी "भावी"-डोर,

दूर भावी, अति विगत अतीत,—
लिए लघु वर्तमान का सग,—
रास की क्रीडा करने लगे,
उठी विप्लव की सतत उमग,

प्रेममय नियम शृङ्खला बँधे,
कर रहे कौतुक रास-विलास,
जुड गई एक शृङ्खला जहाँ
कहाँ फिर प्रलयोद्भव का त्रास?

(१०१)

समय की रसरी मे बँध नचे—
दिवस, घटिकाएँ, वर्ष, मुहूर्त्त,
एक क्षण-क्षण मे होने लगा—
चिरन्तन नर्तन-हर्ष-स्फूर्त,

प्रलय मे भी ससृति के सूत्र,—
सर्ग मे भी विसर्ग के भाव,—
दिखाई दिये स्पष्ट, प्रत्यक्ष,
मिट गया सकल दुराव छिपाव,

असीमाकाश नाचने लगा,—
काल ही स्वय दे उठा ताल,
ऊर्म्मिला-लखन, प्रकृति-चिरपुरुष,
नचाते है ब्रह्माण्ड विशाल ।

(१०२)

अमर जीवन ने अपनी बाँह,—
मरण की ग्रीवा मे दी डाल,
रास-गति अति परिचालित हुई,
"ततक—ता—थेई" की दे ताल,

हुए लय-उद्भव एक स्वरूप,
हो गए अप्यय अव्यय एक,
मरण का चरण-स्फुरण बन गया—
अमृत गायन की अविरल टेक,

मिट गया सशय सभ्रम सकल,
मरण-जीवन का मिटा विभेद,
ऊर्म्मिला-लक्ष्मण के स्नेह ने—
जगाया सुप्त रुचिर निर्वेद ।

(१०३)

मरण-जीवन का एक स्वरूप,
किये हृदयगम यह चिर सत्य,
देख कर ब्रह्माण्डो का नित्य,
प्रेम-उत्प्राणित ताण्डव नृत्य,
प्रेम-घर्षण अणु-अणु मे देख,–
स्नेह-कर्षण सब ओर निहार,–
ऊर्म्मिला-लक्ष्मण को नित देख,–
परस्पर हो जाते बलिहार;
अथिर मति, दीन, बुद्धि के क्षीण
बड़े मूरख ये निपट नवीन,
भक्ति की क्षीण रेख को गहे
हुए ऊर्म्मिला-चरण-तल्लीन ।

(१०४)

बहू ऊर्म्मिला स्वप्न-लोचना–
सुलक्ष्मण दूलह गहर गभीर,–
नेह छिटकाते, हरते चले–
अखिल जगती की दुसह पीर,
विश्व - अनुरजन - भाव - प्रधान,
लोक-सग्रह का मन्त्र महान,
कर रहा है उत्प्राणित उन्हे,–
जगत को मिला स्नेह-वरदान,
मधुरिमा फैली है सब ओर,
निराशा भगी, जगी चिर आश,
त्रिगुण-मय जीव, ब्रह्म-मय हुआ,
कट गए पार्थिवता-गुण-पाश ।

(१०५)

चराचर में सनेह भर गया,
शूल झर गया, क्लेश डर गया,
भर गया है आकंठ सनेह,
बह उठा प्रेमल निर्झर नया,

चराचर सब आप्लावित हुए
मुए सब भेद-भाव-दुख-भोग
चिरन्तन नेह बरसने लगा,
न क्लेश, न मोह, न शोक, न रोग,

गूँज उट्ठा हिय-रंजन गान,
छिड़ गई आत्मनिवेदन तान,
हो गया जीवन का सम्मान,
हृदय का हुआ दान-प्रतिदान।

(१०६)

नयन से नयन, अधर से अधर,
मिले हिय से हिय अति स्वच्छन्द,
प्राण में रमे आन कर प्राण,
छलक उट्ठा नव परमानन्द,

रक्त में रक्त मिला अनुरक्त,
मिट गई वह भावना विरक्त,
ऊर्म्मिला हुई लखन—आसक्त,
सुलक्ष्मण हुए ऊर्म्मिला-भक्त,

रमण-परिम्भण, रंजन-रास,
नाचने लगा हृदय-उल्लास,
कुछ हुआ ऊर्ध्व श्वास-निश्वास,
प्रकट कुछ हुआ रास-आयास।

१

कलम, कल्पने, मति-गति मेरी, कर अब कुछ विश्राम,
चल, कर लखन-ऊर्म्मिला चरणो मे तू पूर्ण-प्रणाम,
खूब किया जो लीला-वर्णन तू कर चुकी अथकिते,
खूब किया जो यह कह डाला, अरी चमत्कृत चकिते,
पर मन मे अभिमान न करना, 'मेरी कठिनी भोली,
कथित हुई ऊर्म्मिला-कृपा से यह गाथा अनबोली ।

२

अरी कल्पने, अब चलना है आगे वन निर्जन मे,—
तुझे घूमना है बरसो तक उस अति सघन विजन मे,
विधवा अवधपुरी मे विधुरा विमल ऊर्म्मिला रानी—
बहा रही होगी लोचन से अपने हिय का पानी,
उनके भी दर्शन करना है, अरी निष्ठुरे तुझको,
आज लिए चल अपने सँग तू इस कठिनी को, मुझको ।

३

मा, ऊर्म्मिला निभावे तुझको, खोले तेरे नैन,
अपनी करुणा से वे भर दे तेरे तुतले बैन,
अन्तर की धडकन को, हिय-तडपन को, मन-फाँसी को,
सजनि, आत्म-कपन को दिखला दे सनेह-गाँसी को,
कुछ ऐसी रस-धार बहा दे अरुण-करुण रस-माती,—
कि बस जगत की सकल धीरता बहे विकल उतराती ।

४

अरी कल्पने, विप्रयोग की कथा दुख-भरी गा दे,
मेरी टूटी , शिथिल कलम से उसको तू लिखवा दे,
दिखला दे वे दृश्य, हठीली, अरी, उठा दे हूक,
तडपा दे हिय को चिरसंगिनि, कर-कर के दो टूक,
श्री ऊर्म्मिला, सुभट लक्ष्मण की विषम वेदना-तान,—
आज छेड दे नए सिरे से, री, तू निपट अजान!

५

त्रेता युग की कथा पुरानी, अकथित, अमथित, गेय,
उसको कर के स्रवित द्रवित तू बन जा अमर, अजेय,
प्यार भरे, मनुहार ढरे दृग, इन की झाँकी देख,
अरी चली चल अवध, विपिन मे धरे लखन-पद-रेख,
श्री ऊर्म्मिला स्वामिनी तेरी, लक्ष्मण तेरे देव,
शरणागत को पार लगाना है दम्पति की टेव।

इति श्री द्वितीय सर्ग

श्रीमातृ ऊर्म्मिला चरण कमलार्पणमस्तु

अथ श्री तृतीय सर्ग

ध्यान

संचित-शोक रखा है जिस के द्युति विहीन आभरणो मे,
अलकावली-ग्रथित , श्री हत है कुडल जिसके कर्णो मे,
अकथित कथा कही जाती है जिस के कल-कल झरनो मे,
नत हो जा, हे नास्तिक मस्तक, उसके युग श्री चरणो मे ।

१

अरे शून्य से गोल-गोल तुम,
अन्तस्तल के अधिवासी,
अहो, सकल ब्रह्माण्ड विश्व के,
अण्ड रूप तुम अविनाशी,

अरे, प्रज्वलित हृदय-वन्हि के,—
मृदुल प्रसून विलक्षण-से,
विमल करुण रस-निधि के विगलित
तुम प्रहरी-से, रक्षण-से,

कारण-जन्य-विश्व-पीडा के,
तुम निष्कारण-बिन्दु, अरे,
हिय-हिलोर दरसाने वाले,
बिन्दु-रूप तुम सिन्धु, अरे !

२

विगलित व्यथा वेदना की तुम
तरल सियाही बन आओ,
थकित कलम की शुष्क नोक से,
मधु-मसि बन छन-छन आओ,

ओ आँसू, तुम बरस पडो, यह—
प्यासा है कागद मेरा,
प्यासी कलम, हृदय प्यासा है,
प्यासो का है यह डेरा,

विप्रयोग की कथा लजीली
लिखवा दो, आओ, आओ,
मँडराओ, उमडो, सरसो, कुछ—
अपनी बूँदे ढरकाओ ।

३

ढरका दो, अपनी कुछ बूँदे,
मेरी सूखी स्याही मे,
कुछ कम्पन पदा कर दो मम
इस गाथा मन-चाही मे,
आज वेदना की प्रणोदना का,
हृदयगम तत्व करो,
ओ आँसू, मेरे शब्दो मे
अपना तरल निजत्व भरो,
श्री ऊर्म्मिला और लक्ष्मण के—
श्री चरणो मे ढरक पडो,
करुण प्रसाद प्राप्त करने को
उन से तुम हठ कर झगडो ।

४

ऊँची-नीची सहज कँटीली—
पथरीली वह पग-डण्डी,
जहाँ पथिक का मान भेदती,
विचरण करती वन-चण्डी,
वही मार्ग-रेखा हुलसेगी—
मृदुल पुण्य चरणाकन से,
प्रबल प्रतापी निकलेगे अब
वन को निज गृह आँगन से
सीता, राम, लखन जायेगे—
आज छोड अपनी नगरी,
आज अवध विधवा होगी, औ'
सधवा होगी वन-डगरी ।

५

आज अवध के राजमार्ग मे
आकुल कोलाहल फैला,
यह वियोग की घटिका आई,
यह वन जाने की वेला,

यह अचूक-सी हूक उठ रही
है सब के अन्तस्तल मे,
छल-छल छलक झलक झरती है
बूदें दृग से पल-पल मे,

अचल अचचल अटल हिमाचल,
सम है राम धनुर्धारी,
पट-परिवर्त्तन हुआ, हो गई
वन जाने की तैयारी ।

६

सिहासन से वह कुश-आसन,
राजमहल से पर्ण-कुटी,
निर्जन-वन आवास बन रहा,
जन-सकुलिता अवध छुटी,

लुटी सम्पदा तीन लोक की
तप के एक इशारे पे,
वसुधा बलि-बलि गई राम के
पद-नख न्यारे-न्यारे पे,

सुकुमारता, सरलता, शुचिता,
सीता चरणो मे बिखरी,
तप-भावना सुलक्षण लक्ष्मण—
पर न्योछावर हो निखरी ।

७

अकुलानी, अरुझानी वाणी,
पानी-पानी हृदय हुआ,
आँखो की बूँदो के मिस यह
हिय का सचित प्यार चुआ,
भाषा थकी, हृदय धडके, औ'
फडके अधरो के पुट वे,
कण्ठ रुद्ध, मन क्षुब्ध हुआ है,
रहे शब्द सब घुट-घुट वे,
आँखे मिची, खिची आहे, औ'
सिहरी तन-रोमावलियाँ,
श्री ऊर्म्मिला-नयन की ढरकी
लखन-चरण मे अजलियाँ ।

८

बैठे लखन, पार्श्व मे बैठी
विमल ऊर्म्मिला खोई-सी,
है चारो आँखे कुछ स्वप्निल,
कुछ-कुछ धोई-धोई सी,
भीष्म-प्रतिज्ञ भाव मे अरुणा
करुणा यह तल्लीन हुई,
अथवा सागर मे सरिता की
सत्ता सज्ञा-हीन हुई,
रह-रह एक दूसरे को यो
लखते घटिकाएँ बीती,
गिरी शिथिल ये भुज लतिकाएँ
ऊपर को उठ-उठ, रीती ।

९

लक्ष्मण के उन्नत ललाट पर
रेखाये मण्डिता हुई,
मानो हिमगिरि श्रृग-श्रृखला
मेघ-धार-खण्डिता हुई,
खचित भाल-रेखा मे जीवन
की प्रहेलिका उलझ गई,
आ-आ कर कण्ठो मे अटकी
हृदय-ग्रन्थियाँ कई-कई,
मौन वेदना बही आह से,
औ' नयनो स अरुण व्यथा,
रुद्ध हिचकियो से निकली अति
करुण वर्णनातीत कथा ।

१०

लक्ष्मण रानी के लोचन द्वय,
अरुण-करुण रस-रग रँगे,
उधर कठिन कर्त्तव्य-नाद मे
लक्ष्मण-श्रवण-कुरग पगे,
दोनो नयन इधर मचले, वे
दोनो श्रवण उधर मचले,
विगलित करुणे ! उमड, ठहर औ'
भीष्म प्रतिज्ञे, तू अचले,
दो-दो गहरे हृदय-समुद्रो–
का मन्थन हो रहा यहा,
कर्म्म-शीलता का, सनेह का,
गठ-बन्धन हो रहा यहा ।

११

मरु की तप्त-व्यथा-सा हिय मे
हा-हा-कार अमित छाया,
यौवन की नित चरम निराशा
का-सा प्यार उमड आया,
हरे-भरे से मन-मडल मे
निपट विछोह निखर आया,
ममता मिटी, मोह यह छूटा
मिटा सँजोग, मिटी माया,
निपट निराशा की निशीथ मे
लगन जगी, लौ लगी भली,
इधर-उधर ऊर्म्मिला-लखन की
स्मृति-प्रदीपिका जगी भली ।

१२

प्यार पगे, अनुराग रँगे,
नि शब्द ठगे प्रिय भाव जगे,
त्रास भरे, निश्वास भरे, अति–
प्यास भरे, हिय-घाव लगे,
अमित,श्रमित,कम्पित,अति शकित,
रजित, सचित शब्द हुए,
थर-थर,सिहर-सिहर,झर-झर कर
हिय-मुक्ता उपलब्ध हुए,
तार बँधा हिचकी का, फूटा–
स्वर पीडा के पचम का,
देख ऊर्म्मिला की गति, टूटा–
बाँध लखन के सयम का ।

१३

हास-विलासो की प्रतिध्वनि मे,
आज रुदन-आभास मिला,
मधु-सँजोग-घटिका मे आकर
यह वियोग-विष-त्रास मिला,
दरस-माधुरी मे अदरस की,
कँकरीली वेदना मिली,
लक्ष्मण-हृदय-स्थल मे सहसा
नवल कर्म्म-प्रेरणा खिली,
सुख-बलिदान, जीवनाहुति के,
आत्मार्पण के दाँव लगे,
राज-भोग , ऐश्वर्य छुट रहे,
मर-मिटने के भाव जगे ।

१४

करुणाम्बुधि अपनी मर्यादा
उल्लघित करने आया,
विकट-व्यथा का घन-समूह यह,
दिङ्मण्डल भरने आया,
ज्ञान-विराग-भाव को पीडा
का समूह हरने आया,
हिय की होली मे वियोग यह
चिनगारी धरने आया,
आज ऊर्म्मिला-लखन परखने
को यह घटिका आई है,
अपने सँग अति कठिन कसौटी
का पत्थर वह लाई है ।

१५

जीवन की दोपहरी मे ही,
सन्ध्या का आभास मिला,
उजियाले मे अँधियाले को,
वास मिला, आवास मिला,

धूप-छाँह मिल गई अचानक,
उद्भव बीच विनाश मिला,
कर्म्म, प्रेम मे मिला, मुक्ति मे-
अथवा, बन्धन-पाश मिला,

प्रेम-योग म विप्र-योग का
क्या ही क्रमिक विकास मिला !
जीवन की गहराई मे भी–
अमित हास-उपहास मिला ।

१६

स्नेहाम्बुधि मे नव वियोग की
भडकी बडवानल-ज्वाला,
खल-भल,खल-भल अतल-जल हुआ,
उठी वेदना विकराला,

तडपे प्राण-मीन, अकुलाए–
हिय-मन्थर, मन मथित हुआ,
प्यार-प्रशान्त-महासागर का
विकल-विचल जल व्यथित हुआ,

वीचि-विलास-लास्य की समगति
असम, विषम, सम-हीन हुई,
रति-जल-राशि वाष्प बन आई,
सशय-सम्भ्रम-लीन हुई ।

१७

मानस-क्षितिज, वियोग-मेघ से
आच्छादित हो गया घना,
यह सुखभरा सँजोग बन रहा
क्षणभगुर जीवन-सपना,

आँखो मे अँधियारी छाई,
पडी पुतलियो मे झाँई,
बढती ही-सी अन्तरतर मे
चली गई दु ख-परछाई,

विमल ऊर्म्मिला के सगी ह
उद्यत चलने को वन को,
सीता-राम लिए जाते है
ऊर्म्मिल-प्राण लखन-धन को।

१८

प्रिय-अवलम्बित हृदय विकम्पित,
सचित नेह अश्रु-कण मे,
रोमाचित तन, कठिन लखन-प्रण
लगन-मगन-मन क्षण-क्षण मे,

रमे लखन व्रण-खण्डित, मण्डित-
प्रण, कर्त्तव्य-प्रेम-रण मे,
थी दोलाचल चित्तवृत्ति-सी
इधर ऊर्म्मिला के मन मे,

नभ-जल-थल मे, अनिल-अनल मे,
करुणा का सचार हुआ,
उमड-उमड कर, उबल-उबल कर,
हिय इक पारावार हुआ।

१९

हिय की रणस्थली में जूझ,
प्यार और कर्त्तव्य निरे
राजस-सात्विक गुण-बन्धन ये,
रह-रह जूझे, मरे, गिरे
कर्तव्यावहेलना आई,
औ आशंकाएँ आईं,
पदस्खलन की नई-नई-सी,
कई प्रेरणाएँ आईं,
हिय-कामना विमोहन-लागी,
सुन्दर शरद्-जुन्हाई-सी,
नेह-सगाई, हिय लग आई,
मन मोहिनी लुनाई सी ।

२०

करुण-कहानी हिय-अरुझानी,
छानी-मानी नहीं रही,
अकुलाती आँखड़ियों से वह,
पानी-पानी बनी, बही,
मथित हिचकियाँ, वचन-दीनता-
का, कुछ सँग देने आई,
निपट-धीरता ने, संयम ने
अपनी सुध-बुध बिसराई,
मन-मानस की मदिर हिलोरें—
उमड-उमड बढ-बढ आईं,
कढ आईं आहें बरबस-सी,
करुणा-सरिता चढ धाई ।

२१

अाखो मे विषमय विषाद के—
अजन की रेखा झलकी,
छिटक पडी वेदना नयन से—
अति गभीर अन्तस्तल की,
हिय-शत-दल की हलकी-हलकी
आकुल, चचल गति छलकी,
प्यासे अवलोकन से प्रकटी
विषम वेदना पल-पल की,
पलको मे सस्मृतिया घिर-घिर
आई कई विगत कल की,
लखन-ऊर्म्मिला की वे आँखे—
सरिता बनी लवण-जल की ।

२२

घूम गया नयनो के आगे
एक चित्रपट जीवन का,
स्मरण-शृङ्खलाओ की कडियाँ
बजा गई स्वर खन-खन का,
कई मोद के, कई तोष के,
कई पूर्णता के क्षण वे,
घूम गए नयनो के आगे
बन कर कँकरीले कण वे,
आज चुभ गई आँखो मे वे
सस्मृतियाँ बन शूल-अनी,
नयनो की किरकिरी बन गई—
पुष्प-राग की अमिय-कनी ।

२३

चारो नयनो की गहराई
हुई और भी कुछ गहरी,
उतराने लग गई वेदना,
उन नयनो मे रह-रह, री,
झिल-मिल झिल-मिल सकल जग लगा,
तिरता-सा ससार लगा,
कुछ कम्पित-सी हुई पुतलियाँ,
अस्थिर सब व्यापार लगा,
धुआँ-धुआँ-सा कुछ उठ आया,
कुछ मोती-से बिखर पडे,
कुछ आ पहुँचे युग कपोल तक,
कुछ नयनो के द्वार अडे।

२४

श्री ऊर्म्मिला सलोनी की, वह—
नासा सुघड हुई अरुणा
बूँद-बूँद मिस उन रन्ध्रो से,
रह-रह टपक चुई करुणा,
श्वास-रज्जु, वन-गमन-मथानी,
भाजन हृदय प्रतीत हुआ,
व्यथा-मथित अन्तर का, नासा-
रन्ध्रो से, नव-नीत चुआ,
लखन सुभट निज निर्म्मल पट से,
बार-बार मुख पोछ रहे,
ऊपर से सुस्थिर-से दिखते,
अन्तर-तर की कौन कहे ?

२५

श्रवणो मे प्रिय-कण्ठ-ध्वनि के
सुनने की वाञ्छा उमडी,
हीरक-कुण्डल, आभा, कर्णो—
मे, कच-जालो से भगडी,

अवश मौन के अवलम्बन ने,
उन श्रवणो की तृप्ति न की,
केशो ने कर्णिका-किरण की,
उलझ-उलझ विज्ञप्ति न की,

कर्णाभूषण हुए निरादृत,
उलझे-से कुन्तल घन से,
श्रवण रहे प्यासे के प्यासे,
अवश मौन-अवलम्बन से ।

२६

शब्द-दीनता, रुद्ध कण्ठध्वनि,
हिचकी, सिसक निराशा की,
कलकण्ठो मे ये भर आई,
लिए पीर गत आशा की,

कहाँ श्रवण की तृप्ति ? औ' कहाँ
अभिव्यक्ति हिय-भावो की ?
यहाँ मौन भाषा ने दे दी
साक्षी गहरे घावो की,

स्वर-विश्लेषण, तान-समन्वय,
ध्वनि-माधुर्य्य विलुप्त हुए,
गायन-नि स्वन, वादन-निक्वण,
ककण-रुण, सब सुप्त हुए ।

२७

सात स्वरो का, स्वर-श्रुतियो का,
ध्वनि-विन्यास विशुद्ध कहाँ ?
अतुल-विपुल सताप-ताप से
शुष्क कण्ठ अवरुद्ध यहाँ,
कहाँ तान, लय, गति, अलवेली ?
मुरज, मूर्च्छना कहाँ यहा ?
सिसक हिचकियो का आरोहण-
अवरोहण है जहाँ-तहाँ,
स्वर-विधान, कल-गान हो गया,
मूर्च्छित हिय के कम्पन से
श्रवण रहे प्यासे के प्यासे—
अवश मौन-अवलम्बन से ।

२८

अश्रु-अलकृत युग कपोल की
पाटल आभा कमनीया,
सहसा कुछ श्यामला हो गई—
वह शोभा अति रमणीया,
गहन प्रेम-वात्सल्य-प्रणोदित
लक्ष्मण-अधर-विचुम्बित वे,—
श्री ऊर्म्मिला कपोल-युगल, अति-
हुए स्फुरित अनुकम्पित वे,
स्नेह-धार की प्रणालिकाए,—
शतपत्रो की कलिकाए,—
वे कपोल की युगल जोडियाँ,—
सिहर उठी दाये-बाये ।

२९

लक्ष्मण क दक्षिण स्कन्ध पर
वाम कपोल धरे मृदुला,—
दक्षिण कर ग्रीवा मे डाले,
सिसक रही ऊर्म्मिलाऽकुला,

विकट वीर, मतिधीर, लखन कुछ
झिझके, कुछ अरुझाने से,—
बाँध भुजाओ मे अपना धन
बैठ रहे अकुलाने से,

यो आलिगन करती दीखी
आकुलता मे सुस्थिरता,
ज्यो गुणमयी सुरति से लिपटी
हो भावना विरति-निरता ।

३०

चचल भ्रू-विलास मरझाया,
निपट अचचल भाव उठे,
चचलता के सब साकेतिक
सुस्पन्दन के भाव लुटे,

दृग-चचलता-हृट लुट गया,
लुटी दुकान इशारो की,
क्या ही भीषण सेना उमडी
भावो के बटमारो की

उन नेनो मे कहाँ इशारे ?
सकेतो का होश कहाँ ?
जोश कहाँ ? हिय-दोष वहाँ,
चिन रोष वहाँ, सतोष कहाँ ?

३१

लम्बे, सघन, कृष्ण कुन्तल से
ललक लखन-अँगुलियाँ मिली,
कघी-सी बन इधर-उधर वे,
केश-पुंज मे हिली-डुली,

वत्सलता, सान्त्वना, प्रीति अति
बरसी अगुलि-चालन से,
ज्यो विश्वास उमड पडता है
कथित वचन-प्रतिपालन से,

रामानुज के प्राण पियासे—
उलझे केश कलापो मे,
हृदय बिध गया "हा,ना" के उन
टूटे-से सलापो मे ।

३२

नख से शिख तक, लोम-लोम तक,
अन्तर-तर का दाह हुआ,
आज ऊर्म्मिला की करुणा का,
लक्ष्मण-प्रण से व्याह हुआ

चाह आह की राह चल पडी,
थाह-अथाह हुई हिय की,
उतर गई ऊर्म्मिला बहुत ही
गहरे, गह ग्रीवा पिय की,

मोह, बिछोह, टोह लेने को
आये लक्ष्मण के मन की,
किन्तु बुद्धि कैसे विचलित हो
श्री ऊर्म्मिला-प्राणधन की ?

३३

अमित अगाध अनन्त प्रीति की
भर नयनो मे रीति भली,–
धारण कर स्वकर्म-निष्ठा की
मति मे अचल प्रतीति भली,–
सती ऊर्म्मिला की मजुल छवि
हिय-हिडोल मे दुलराते,
वचनो से गम्भीर नेह की
नव-कलियो को हुलसाते,
सुभट लखन, वचनालियाँ यो–
बोले निपट सनेह भरी,
ज्यो निदाघ की दोपहरी मे
शीतल रस-फुहियाँ बगरी ।

३४

"जीवन-सगिनि, करुणा-वदिनि,
प्राणानन्दिनि, रति गम्ये,
विकल कुरगिणि, हिय-अवलम्बिनि,
मन-सर-हसिनि, तुम रम्ये,
मेरे जीवन की तुम स्वामिनि,
स्नेह-यज्ञ की हवन-क्रिये,
मेरे वासन्ती यौवन की–
तुम प्रवालिके नवल, प्रिये,
मेरे जन्म-जन्म के तप की,
तुम पावन फल-रूप बनी,
तुम मेरे नयनो की दर्शन–
शोभा रूप अनूप अनी ।

३५

बनी कनी तुम नेह-सिन्धु की,
नयन-बिन्दु की तुम झाँई,
पूर्ण इन्दु की आभा तुम हो,
मम स्वरूप की परछाई,

लगन अटपटी तुम मम हिय की,
तुम मेरी सकरुण माया,
मेरे निर्गुण तत्व-ज्ञान की
तुम मोहिनी सगुण छाया,

मम गायन की सुश्रुति-रूपा,—
तुम हो बनी विकम्पित-सी,
ठिठकी-सी, स्वर अरुझानी-सी,
झिझकी-सी, विस्तम्भित-सी।

३६

तुम मेरी जीवन-प्रहेलिका,
सूझ-बूझ नित ज्ञान मयी,
तुम तत्वार्थ-दीपिके मेरी,
योग-मयी, तुम ध्यान-मयी,

मेरे जीवन की गहराई—
अतल - वितल - पाताल मयी,
तुम सुमिरिनी बनी हो मेरी
तुम मम सस्मृति-माल नयी,

तुम रानी ऊर्म्मिले, बनी हो—
अति तन्द्रिता निशा मेरी,
तुम हो उषा, तुम्ही प्राची की——
हो प्रमुदिता दिशा मेरी।

३७

मेरे भाव-पुंज की प्रतिमे,
करुणा के विगलित क्षण-सी,
तुम उल्लास - रास-क्रीडा - सी,
तुम गतिमती विलक्षण-सी,
तुम मम विचलित निःश्वासों की—
सतत समाधान स्थिरते,
तुम सनेह भरिते, सरिते, तुम—
त्वरिते, करुणा-रस-निरते,
तुम मम आराधना-परिधि की—
केन्द्र-बिन्दु हो, चिर मृदुले,
हास-विलास-पाश तुम मेरी,
तुम विश्वास-न्यास, अतुले!

३८

मेरी शुद्ध-बुद्धि तुम, रानी,
तुम मम क्षमता कल्याणी,
तुम सागर-गम्भीर-घोष-सी,
उद्घोषित मेरी वाणी,
तुम निरलस तापस-रति मेरी,
तुम मेरी सत् सक्रियता,
त्वमसि चिरन्तन सेवा मेरी,
तुम हो मम विराग-प्रियता,
तुम हो जागरूकता मेरी—
निद्रित-सम्मोहन-क्षण की,
तुम हो मेरी सखा-सहेली,
मेरे इस जीवन-रण की।

३९

तुम विदेह-नन्दिनी ऊर्म्मिले,
तुम दशरथ की पुत्र-वधू,
तुम रिपुसूदन की भाभी, तुम—
आर्य राम की अनुज-वधू,
तुम तपस्विनी मात सुमित्रा
की हो बहू सुहाग भरी,
तुम हो निपट सुभट लक्ष्मण की,
चिर साथिनि अनुराग-भरी,
तुम मेरे दुर्धर्ष धनुष की
प्रत्यचा बन आई हो,
तनिक सुनो, आँखो मे भर क्यो
यह करुणा-घन लाई हो ?

४०

रुच ठहर जाओ, बलि जाऊँ,
यो मत मुझे अधीर करो,
बार-बार इन सुघड दृगो मे
रह-रह कर मत नीर भरो,
धीर धरो, मत अपने हिय को—
चीर करो न्यारा-न्यारा,
देखो तो, यह भीग गया है—
मेरा उत्तरीय सारा,
तनिक सुनो तो, मेरी रानी—
मै बलि जाऊँ ! सुनो जरा,
अये, डिगी जाती है, देखो,
मौन वेदना-परम्परा ।

४१

धैर्य-रूप तुम सदा ऊर्म्मिले,
जनक-नन्दिनी देवि, सुनो,
तुम हो प्रतिष्ठिता प्रज्ञा, तुम—
अनल वन्दिनी देवि, सुनो.

आज उमड आई यह कैसी
विषम चचलावृत्ति, अये ?
कहाँ गया सन्तोष-भाव वह ?
कहाँ गई परितृप्ति, अये ?

पुण्यवती धृतिमती सुनयना—
माता की तुम जायी हो,
तुम विदेह-तनया हो, तुम तो
उनकी गोद-खिलाई हो ।

४२

यह वन-गमन, विजन-सेवन यह,
वन-पर्यटन आज आया,
आज निमत्रण देने को यह
जगल का समाज आया,

अवध-राज का काज छूट रहा,
हमने विपिन-राज पाया,
राज मुकुट की जगह राम ने—
निरा-त्रिशूल ताज पाया,

क्यो विह्वल होती हो, रानी ?
क्यो अकुलाती हो मन मे ?
मेरे हिय मे बनी रहोगी
देवि, सदा उस निर्जन मे ।

४३

राज छूटा, वनवास मिला, यह—
परिधि छुटी, दिक्शूल गया,
प्रिये, तनिक देखो तो, उमडा—
जीवन-सिन्धु अकूल नया,

वह महान अटवी-अन्वेषण
तापस वेश विशेष वहाँ,
वह साहस, वह विपिन-समस्या,
स्वावलम्ब-सन्देश वहाँ,

मै खोजूँगा तुम प्रसून को—
उन जगल के शूलो मे,
तुम्हे पुकारूँगा पद-पद की
प्रति ठोकर की भूलो मे ।

४४

यह है योगायोग, विमाता
तो बस एक बहाना है,
उस विकराल विपिन मे जाकर,
उसका गर्व ढहाना है

वन दुर्गमता, सहज अटन मे,
अहो-देवि, परिणत होगी,
उस दुर्लंघ्य विन्ध्य की चोटी
राम-लखन पद नत होगी

उत्तर-दक्षिण का गठबन्धन
करे हमारी पद-रेखा,
जग वह देखे जिसको उस ने
अब तक कभी नही देखा ।

४५

आज आर्य सस्कृति-जीवन का—
यह शुभ प्रथम प्रभात हुआ,
रवि-कुल—रवि की प्रथम किरण से
अन्धकार अज्ञात हुआ,
वह बर्बर अज्ञान, सुलोचनि,
वह जडता उस जगल की,—
होने को है नष्ट, आ गई—
घडी प्रात के मगल की,
नव-सन्देश, ज्ञान, शुचिता के
हम वाहक निष्कामी है,
यह आदर्श प्राप्त करने को—
राम-लखन वन-गामी है ।

४६

ससृति चकित-नयन देखेगी,
सीता - राम - चरण - रेखा,
पद-विन्यास-रेख वह होगी—
नव - इतिहास - चित्र - लेखा,
अनायास ही आज बन रहे
हम सब नव-विधान स्रष्टा,
देवि, हो रहे नयन हमारे
आज भविष्य-भाव-दृष्टा,
यह सन्देश-प्रेरणा जागी,
हिय मे अनतुष्टा, हृष्टा,
लखन-चरण-गति सघन-विजन की—
ओर हो रही आकृष्टा ।

४७

मुझ को जीवन-सार्थकता का,
देवि, आज सदेश मिला,
मुक्त ज्ञान-विज्ञान प्रचारित–
करने को वन-देश मिला,
नव-विचार-प्रजनन का सूचक–
यह साकेतिक क्लेश मिला,
तुमको मेरी सुघड ऊर्म्मिले,
क्लेश-रूप प्रेमेश मिला,
सह जाओ यह विषम ,वेदना–
तुम, मेरी अच्छी रानी !
हे मम लघु-लघु प्रिये, वेदना,–
तो है या आनी-जानी ।

४८

मै जानू हू देवि, हृदय यह
हा-हा कार कर उठे है,
मै जानू हू, हिय-रस, बरबस–
भर-भर आख झर उठे है,
जानू हू मै, हिय-क्रन्दन की
औ हिचकी की सब घाते,
जानू हू सुकुमारि तुम्हारे
मन की अनबोली बाते ।
पर क्या करू ? बताओ, तुम यो,
दृग मे जल भर मत देखो,
मेरी हृदय-स्वामिनी तुम, कुछ–
तनिक सम्हालो अपने को ।

४९

यह वियोग-आखेटक तक-तक
मार रहा है तीर, प्रिये,
प्राणो ही मे नही हो रही—
पसली तक मे पीर, प्रिये,
छाती पर लेगे वाणो को—
होगे नही अधीर, प्रिये,
हम न दिखायेगे जग को निज
दु ख, हिये को चीर, प्रिये,
मुझे सम्हाल, सम्हालो निज को,
आज पडी है भीर, प्रिये,
मा को, तात चरण को देखो,
नैक धरो चित धीर, प्रिये ।

५०

मुझको जगल मे जाना है
मंगल का सदेश लिए,
सीय-राम-अनुगमन करूँगा—
मै निज तापस वेश किए,
यह सन्यास चतुर्थाश्रम का
द्वितीयाश्रम मे आया,
और छुट रही है मम हिय की
तुम सी यह मृदुला माया,
टूट रहे है प्राण, सुलोचनि,
हिय मे हूक अचूक उठी,
झलकी है मन-मृग-मरीचिका,
यह वियोग की लूक उठी ।

५१

सोच रहा हूँ, कहा मिलेगा,
इन अधरो का अमिय वहा ?
सोच रहा हूँ, मेरी आकुल—
प्यास बुझेगी वहा कहा ?
फिर सोचू हूँ कि तुम – निरतर
बनी रहोगी मम मन मे,
सोचूँ हूँ कि पुकारूँगा मै
तुमको निशि मे, निर्जन मे,
हृदय-दुलारी, यो ये चौदह—
बरस बडे कट जायेगे
अवधि-अन्त मे ये वियोग के
बादल भी हट जायेगे ।

५२

देवि, विपिन मे निपट निबिड तम,
मानस-नभ रवि-किरण बिना,
प्राणी, वॉ अज्ञान-शिला की,
करते है नित प्रदक्षिणा,
ज्ञान बिना विज्ञान बिना वे
मन-मस्तिष्क असस्कृत है,
उनकी प्राकृत गिरा, शुद्धता—
लक्षण से निरलकृत है,
आकुचित मानस-दिड्मडल,
शब्द-कोश छोटा उनका,
वे क्या जाने तत्व सगुण के—
गुण का, निर्गुण की धुन का ?

५३

उनके लिए सृष्टि, लय, स्थिति के
प्रश्न अतीव अरम्य बने,
जन्म-मरण के गूढ तत्व ये
उनके लिए अगम्य बने,
अपरा, परा प्रकृति की लीला
नयन न उनके देख सकैं,
नैसर्गिक प्रक्रिया देख कर
उनके हिय धडकैं, कसकैं,
वज्र घोर उद्घोष रोषमय,
यह झझानिल का झपन,—
उनको स्तम्भित कर देता है
चपल दामिनी का कम्पन ।

५४

वे वनवासी, सतत-प्रवासी,
तिमिर निवासी, मूढ निरे,
काम विलासी वे क्या जाने—
अक्षर-तत्व निगूढ निरे ?
नही मानसिक जीवन उनका,
आध्यात्मिकता वहा कहा ?
भौतिकता-प्रसार फैला है
केवल वन मे यहा-वहा,
आज विजित करने उस भौतिक,
दैहिक, शारीरिक बल को,—
राम-लखन वन-गमन कर रहे
सँग ले आत्म-ज्ञान-दल को ।

५५

मात्रास्पर्श भाव है उनका,
इन्द्रिय-रस मे डूब रहे,
अपनी ही प्रतिछाया से वे,
डर कर छिन-छिन ऊब रहे,
ईति, भीति, आशका, शका—
से वे चिर शकित रहते,
भय-सचार हृदय मे उनके,
वे उर मे कम्पित रहते,
अभय दान देने को उनको,
सुन्दरि, मै कटिबद्ध हुआ,
यह सन्देश आज मम सम्मुख
सहसा ही सन्नद्ध हुआ ।

५६

भूख लगी—आखेट कर लिया,
प्यास लगी—जल-पान किया,
कष्ट किसे कहते है, यह तो—
चोट लगी, तब जान लिया,
शारीरिक वेदना हुई तो—
रोए, चिल्लाए, तडपे,
प्रतीकार करने को बिगडे,
कडके, फडके, कुछ झडपे,
भय-पूरित, अज्ञान-पराजित,
सतत विजित जीवन उनका,
उनकी ग्रीवा मे है फन्दा—
भय का, सतत मृत्यु-गुण का ।

५७

"तम सो मा ज्योतिर्गमयत्वम्,
मृत्योर्मा अमृत ले चल,
विद्या से सयुक्त मुझे कर,
अमृत चखा, हे अचल अटल!'

महामन्त्र है यह हम सब का,
इसे प्रचारित करने को—
प्रिये, जा रहा हूँ मै, इसके—
रव से वन-नभ भरने को,

यह पावन सन्देश हमारा,
सब जगती का क्लेश हरे,
अभय बना दे, अमृत पिला दे,
मृत्यु-भीति नि शेष करे।

५८

'अग्ने नय सुपथा राये' का
अनल-मत्र जपते-जपते,
अपथ विजन को सपथ करूँगा
मै धूनी तपते-तपते,

आर्य सभ्यता, आर्य ज्ञान औ'—
आर्यो की सस्कृत वाणी,—
परा्परा विद्या का वैभव,
वेद-भारती कल्याणी,—

आर्यो की ये सब विभूतियाँ,
वन मे प्रसारिता होगी,
जटिल कुटिल अज्ञान-भावना—
निश्चय पराजिता होगी।

५९

आर्य - सास्कृतिक - विजय - पताका
घन वन मे फहरायेगी,
देखो तो यह ज्ञान ध्वजा अब
कहा - कहा लहरायेगी ,
नग्न ज्ञान-शून्यता पहन कर
आएगी सु-ज्ञान भूषा,
नव विचार-मणि-भरिता होगी-
रिक्त हृदय की मजूषा,
भ्रम - यवनिका उठेगी, निर्मल–
आँखे खुल-खुल जायेगी,
पलक उठेगी, दृग कनीनिका–
चकित मुदित हुलसाएगी ।

६०

चकित, चमत्कृत सी दीखेगी–
प्रकृति वधूटी की व्रीडा,
बिम्बित होगी अनेकता मे
शुद्ध एकता की क्रीडा,
ज्ञानोत्फारित, ध्यानोन्मीलित,
स्वप्नोत्थित आँखे जिनकी–
उन वन-जन की हो जायेगी,
निशा-रूप घडिया दिन की
दवि, ऊर्म्मिले, सोचो, कितने–
सुख का वह शुभ दिन होगा ?
ज्ञान-दान, साधना-पूर्ण–वह,
अतिशय पावन क्षण होगा ।

६१

यह वन-गमन नही है, यह तो—
मेरी तीर्थ-यात्रा है,
इस प्रवास मे आदर्शो की
चिन्मय सम्पुट मात्रा है,

नग्न चरण, नि साधन जीवन,
जन-धन-हीन प्रवासी मै,
ज्योति अखण्ड-प्रचण्ड जगाए
विचरूँगा सयासी मै,

ज्ञान-शिखा, प्रज्वलित अनिगित
दिखलाएगी मुझे दिशा,
वह प्रकाश आलोक हरेगा—
वन-जन-हिय की कुहू निशा ।

६२

सकल लोक रजन, जन-मन के-
सम्मार्जन का कार्य, प्रिये,
इस से कैसे मुख मोडे हम,
धर्मोत्प्राणित आर्य, प्रिये ?

हमे धन्य करना है वन की
वसुधा का कौमार्य्य, प्रिये,
कितनी दया राम की, उनका—
कितना है औदार्य्य, प्रिये,

राज छोड, वैरागी बन कर,
भोग छोड, योगी बन के,—
विजय-गमन-प्रण ठान चले, बन—
गहन प्रवासी वन-वन के ।

६३

हम है नव-सन्देश-प्रचारक,
हम नव-शख-ध्वनि कारी,
शुद्ध लोक-सग्रह-कारी हम—
नव विधान के अधिकारी,
नवल ज्ञान-विज्ञान-वह्नि की,
हम ज्वलन्त ज्वालाए है,
हम दाहक, हम अनल वाहिनी—
विकराला मालाए है,
दीपक-दर्शक, तिमिर-विनाशक,
इन्द्रिय शासक, मुक्त मना,—
ज्ञान धर्म जग मे फैलाने,
निकलेगे हम युक्त मना ।

६४

सीय-राम पद-रेणु उडा कर
पवन हुलस,सुख पायेगी,
बह-बह अटवी मे वह जीवन—
का सन्देश सुनाएगी,
धर्म-भावना, अमल-कर्मरति,
ज्ञान-प्रेरणा जागेगी,
वन की अँधियाली वीथी निज
तिमिर-आवरण त्यागेगी,
धीरे-धीरे वहा प्रसारित
होगी सुसस्कृता भाषा,
बन्धन टूटेगे, जागेगी—
विमल मुक्ति की अभिलाषा ।

६५

धन्य अरण्य निवासी होगे,
हम होगे कृतकृत्य, प्रिये,
निबिड तिमिर मे ज्ञान-शिखा का
होगा निर्मल नृत्य, प्रिये,
नाचेगा आलोक निराला,
वन-वीथिया मुदित होगी,
अन्धकार-पूरित हृदयो मे
पावक-किरण उदित होगी,
झाड और झखाड कँटीले,
ऊँचे-ऊँचे भूधर वे—
आलोकित होगे प्रकाश से
अतल-वितल-से गह्वर वे ।

६६

सघन निशा, खर-रश्मि-कृशा बन,
होवेगी प्रातर्वेला,
काली घडिया, ऊषा-क्षण बन
दीखेगी करती खेला,
विपिन-वासियो के सोते से
भाव विहगम चहकेगे,
हिय-शतदल खिल जायेगे, मन—
पाटल-दल-सम महकेगे,
मुसकाती, हँसती आएगी
ऊषा निदियारे वन मे,
यह सुषमा प्रतिबिम्बित होगी,
राम-चरण-नख-दर्पण मे ।

६७

अजग,–सजग, जड,–अजड,अचर,–चर
होंगे मेरे पग-पग पे,
मानव हिय मे अभिनव विप्लव
होगा एक एक डग पे,
अँधियाला उजियाला होगा
रात्रि दिवस बन आएगी,
उदित ज्ञान-रवि की किरणे घन-
वन मे छन-छन आएगी,
जगल के अधखुले नयन से
अति कृतज्ञता बरसेगी,
सस्कृति-शून्य हृदय मे उस क्षण
अति रसज्ञता सरसेगी।

६८

वन मे, विहँस, अवतरित होगा–
जिस क्षण प्रथम प्रभात,सखी,
जिस क्षण, सहसा, छिप जाएगी
घन-तिमिरावत रात, सखी,
जिस दिन वन के दृग देखेंगे
यह रहस्य अज्ञात, सखी,
जिस क्षण निद्रित वन मे होगा
जागृति का उत्पात, सखी,
वह दिन,वह क्षण, वह मुहूर्त्त, वह–
घटिका स्वर्णमयी होगी,
उस दिन राम-लखन-जीवन की–
आकाक्षा विजयी होगी।

६९

घोर अविद्या को विद्याऽनल—
मे सुस्नान कराने को,
ज्वलित वह्नि मै लिए जा रहा—
हूँ अज्ञान हटाने को,

सुमुखि, मूढतामय खल वल्कल
जल-जल अनल-रूप होगा,
अन्तर तर के रुद्ध भाव का
सुन्दर अमल रूप होगा,

भय-मिश्रित नैराश्य-भावना
आशा मे परिणत होगी,
भय की छाती अभय-वाण से—
बिध-बिध क्षत-विक्षत होगी ।

७०

रजनी-चर,—अज्ञान भयकर,
मोह, प्रमाद, विकार बुरे,
क्रोध, काम, हिसादि, रूप मे
विचरे वन मे दुरे-दुरे,—

दुबके तिमिरावृत गह्वर मे
नही रश्मि का लेश जहा,
अप्रकाश, भय, असत् वृत्तिया,
फैला सम्भ्रम, क्लेश वहा,

वसुधा का यह दुख हरने को
मै सज्जित हो चला, प्रिये,
तुम्हे तडपती छोड, हृदय मे—
अति लज्जित हो चला, प्रिये ।

७१

मानवता की क्रमिक प्रगति ने
सहसा आज छलाग भरी,
एक गिरि-शिखर से दूजे पर
मानो सहसा टाग धरी,
कुछ घडियो मे शताब्दियो का
विस्तृत पथ तय होवेगा,
अयुत योजनो का वह अन्तर
लघु अगुलिमय होवेगा,
देवि, आज का यह यात्रा-दिन,
शुभ, विप्लव-सचारी है,–
मगलकारी अविकारी है,
यह क्षण प्रलयकारी है ।

७२

निर्मित आज हो रहा है, सखि,
जगती का इतिहास नया,
छिटक रहा है भूमण्डल मे
यह उत्क्रमण-विकास नया;
आज फैलने वाला है, सखि,
उन्नत ज्ञान-विलास नया,
क्योकि बना है वन प्रान्तर मे
लक्ष्मण-राम-निवास नया,
वन-असीम का राज मिल गया,
मिला विपिन-आवास नया,
छुटी सकुचित अवध, सुलोचनि,
यह ससीम का त्रास गया ।

७३

इस प्रभात मे आदि सृष्टि का,
नव प्रभात-दर्शन होगा,
इस नव जागृति का परिरम्भण,
सुमुखि, रोमहर्षण होगा,
ज्ञान-सचेतनता मय कम्पन—
से हिय-सघर्षण होगा,
नई सूझ, इस नई बूझ का
आकुल सकर्षण होगा,
दीख पडेगी बलि-बलि जाती
जडता पर नव चेतनता,
मूर्च्छित-सी, दिखलाई देगी,
यह अज्ञान-अचेतनता ।

७४

तनिक निहारो नवल सबेरा,
आखो मे सपना भर के,
तनिक निहारो उन घडियो को,
सब जग को अपना कर के,
मेरे-तेरे का आकुचित
यह मण्डल लघित करके,
नव - सदेश - वहन - पावनता
तुम देखोगी जी भर के,
उस तादात्म्य भाव मे, स्वामिनि,
दुसह वेदना कही नही,
विप्रयोग-सयोग रोग की
यह विवेचना नही कही ।

७५

प्रथम किरण-आलोकित क्षण वे,
प्रथम प्रभात-अलकृत वे,
प्रथम सुहासित, प्रथम सुभाषित,
मुखरित नव-स्वर-झकृत वे,
जनरव पूजित, कलरव कूजित,
गुजित रजित वे घडिया,–
जिन के वक्षस्थल से उठती
नव-गायन-ध्वनि की कडिया,
प्रात–समीरण के धागे मे,
जागृत-क्षण-मणि की लडिया,
चमक-चमक खोलेगी अलसित
जग-जन-गण की आँखडिया–

७६

नवल प्रभात,–धन्य, युग-
परिवर्त्तक आदर्शो का सपना,
प्रथम प्रभात,–धन्य,फल लाया-
वृद्ध प्रजापति का तपना,
आदि प्रभात,–धन्य,जगदीश्वर–
की प्रेरणा निराली-सी,
नित्य प्रभात,–धन्य, सविता की
नवल किरण मतवाली-सी,
अवध-प्रभात,–धन्य, ले आया
राम वन-गमन की घटिका,
विपिन-प्रभात,–धन्य, आलोकित
होगी ज्ञान-किरण स्फटिका ।

७७

करो रच अन्तमुर्ख अपनी,
ये अँखिया बडिया बडिया
अन्तर तर मे तनिक निहारो–
आदि प्रभात मयी घडिया,
उस दिन परम दिव्य अक्षर की
सृष्टि-प्रेरणा जागी थी,
स्वय जगत्पति ने अपनी वह
अगुण एकता त्यागी थी,
उस क्षण शून्य भर गया सहसा
अनेकता-ससृतियो से,
निर्गुण, स्वय बँध गया अपनी
इन गुणशीला कृतियो से ।

७८

कालातीत अकाल गर्भ से–
प्रकटा काल अशेष नया,
अखिल शून्य से प्रकट हुआ यह
अन्तरिक्ष मय देश नया,
फिर जग आई सृजन-प्रेरणा
नव प्रभात की वेला मे,–
अगणित तत्व चमकने लागे
प्रथम प्रात की बेला मे,
चतुर कलाधर ने अणु-अणु का
गुम्फन कर ब्रह्माण्ड रचा,
तारक-मडल, नभ–गगा मय,
सकल विश्व का काण्ड रचा ।

७६

चमका सूर्य, सौर-मण्डल सब
एक ताल पर थिरक उठा,
भूमण्डल, आकाश, खमण्डल
रास-खेल मे निरत लुटा,
रवि,—उस कवि-पुराण-अनुशासक
की ज्वलन्त कन्दुक-क्रीडा,
किरणे,—अणोरणीय भावना
की वे अति उत्सुक पीडा,
प्रथम बार चमकी थी ये सब
तब क्या छटा निराली थी,
मानो किसी मत्स्य-वेधक की
वह किरणो की जाली थी।

८०

उस प्रभात म किरण बलाएँ—
लेती थी सचराचर की,
जैसे माँ फूली फिरती हो
बेटी देख बराबर की;
नाच रही थी किरणे, नचता—
था जग का व्यापार, प्रिय,
जैसे नव-प्रेरणा-तरगित
होता हिय-कासार, प्रिये,
पहले-पहल झाँक विटपो ने
देखी जल मे परछाई,
उत्सुकता, प्रिय-हिय दर्पण मे,
ज्यो निरखे अपनी झाँई।

८१

प्रथम-प्रात मे, देवि, ऊर्म्मिल,
भीषण गिरि-निर्माण हुआ,
अगम तुग शिखरो का, गहरे—
गह्वर का कल्याण हुआ,
शैल-शृखलाये कल-जल से
ऐसे आविर्भूत हुई,
ज्यो अति मथित भाण्ड से अभिनव
तत्त्व-राशि उद्भूत हुई,
खडी-खडी वन्दना कर रही
है गिरि-मालाएँ तब से,
सखि, देखो तो, अलख-झलक को—
जगा रही है ये कब से ।

८२

प्रथम-प्रभात क्षणो मे, सुन्दरि,
हुआ प्रपूर्ण उदधि-सचय,
घिर-घिर कर यो जुट आया जल
ज्यो माँ की छाती मे, पय,
प्रथम लहर उस दिन जब उट्ठी
तब अद्भत उद्घोष हुआ,
मानो बद्ध पूर्णता के हिय—
मध्य मुक्ति-आक्रोश हुआ,
प्रथम सबेरे के दिन लहर,
कुछ आतुर-सी दौड पडी,
मानो सीमा तथा असीमा
मे कुछ होडा-होड पडी ।

८३

ज्वालामुखी धधकते भडके
उस प्रभात मे भूतल से,
सचित आग उठा लाए वे,
पृथ्वी के वक्षस्थल से,
आदि प्रजापति की तप-ज्वाला
की प्रज्वलित निशानी वे,
सौम्य प्रात की अति करालता
की सकलित चिन्हानी वे,
सुन्दरि, यह सत्यता अनूठी–
है, ध्रुव है, विकराला है.
जिस पृथ्वी पर जीवन-जल है,
उसके हिय मे ज्वाला है ।

८४

प्रथम प्रभात क्षणो मे, स्वामिनि,
फिर प्रजनन के भाव जगे,
अथवा जडता की छाती मे
चेतनता के घाव लगे,
जड मे हुआ अकुरित चेतन,
प्रस्फुटिता नव-शक्ति हुई,
स्वर-प्रणोदना से जडता मे–
सजग भाव-अभिव्यक्ति हुई,
जल-कल-कल मे जीवन खल-बल
का चचल सचार हुआ,
वा सम्यक रूपेण सरण-कृत
ऐसा यह ससार हुआ ?

८५

स्रजन-जनन-श्रम-कण हरने को
कल-कल करता बहा सलिल;
उस प्रभात मे सचराचर को,
व्यजन डुलाने लगा अनिल;
डग-मग पग धरती सी डरती
कुछ-कुछ सिहर-सिहर बहती,
देवि, प्रभाती हवा चली थी—
जग को सृष्टि-कथा कहती,
अनिल, सलिल, जीवन-धारा सब,
बह आए जगती नल पे,
अथवा होने लगी दान की
वर्षा नित भूमण्डल पे ।

८६

उस प्रभात मे, वृक्ष उगे, वा—
जग निद्रा उद्ग्रीव हुई,
द्रुम-दल फूटे सिहर-सिहर कर,
ज्यो गत पीर सजीव हुई,
चम्पा, जुही, और चम्बेली
अलबेली सी महक उठी
मानो कोई मुग्धा, यौवन,
मे स्तम्भित हो, बहक उठी,
प्रथम बार कलियो ने आखें
सृष्टि देखने को खोली,
चतुर पारखी ने ज्यो दृग से
निज चिन्तामणि-निधि तौली ।

८७

उस प्रभात मे प्रथम-प्रथम ही
फडके पख, विहग चहके,
बही विभास-गान-स्वर-धारा
भूमण्डल मे रह-रह के,
चेतनता उड्डीयमान हो
फहराई नीलाम्बर मे,
मानो चुम्बित वेणु-तरगे
लहराई मानस-सर मे,
निर्मल जल छल-छल-छल-छल कर
छलका सब दिङ्मडल मे,
मूक लूक मय मौन मरुस्थल,
ध्वनि-जल-सिक्त हुआ पल मे ।

८८

कुसुम-दलो पर झलक उठे, वे
ओस-बिन्दु न्यारे-न्यारे,
अमल कपोलो पर ज्यो झलके
अश्रु-बिन्दु प्यारे-प्यारे,
नवल जीवनोल्लसित क्षणो के
वे आँसू आनन्द भरे,
प्रकृति-बधूटी की मन्थन-रति
के वे श्रम-कण बिन्दु खरे ।
उन मे इकरगी किरणो की
दीखी सात-सात झाँई,
उस प्रभात मे यह अनेकता
गुँथी एकता मे आई ।

८९

कुसुम खिले, मकरन्द रिले, द्विज—
वृन्द मिले, द्रुम-शिखर हिले,
प्रथम प्रभात क्षणो मे फैली
चेतनता, मम नवोर्म्मिले,
निखर चले, जडता से विरहित
हो कर जीवन-भाव, प्रिये,
अपरा-परा प्रकृति का न्यारा—
न्यारा हुआ स्वभाव, प्रिये ।
एक अचेतनता मे उलझी,
दूजी चेतन-लीन हुई,
जड-चेतन, दोनो विराट् की
सेवा मे तल्लीन हुई ।

९०

जागे द्विपद, चतुष्पद जागे,
बौराने-से जल-थल मे,
हुआ प्राण—निर्माण अनोखा
जडता के इस बल्कल मे,
पल-पल मे, जल-थल मे लहरे
हुई तरगित प्राणो की,
प्रकृति अतिथि सेवा करने लग—
गई, नये मेहमानो की,
प्रजनन, सतत आत्म-सरक्षण,
हुए स्वभाव-सिद्ध गुण ये,
उस प्रभात मे गुण-बन्धन मे
फँसे ईश चिर-निर्गुण वे ।

९१

मानवता उत्क्रान्त हो उठी
विकसित निपट प्रफुल्लित-सी,
थकित अलस आँखे खुल आई
ज्यो कलिकाएँ मुकुलित-सी,
विस्फारित, भय व्यथित, सम्भ्रमित
चकित नयन ने जग देखा,—
बनथल पर अंकित थी, प्रमदे,
चतुष्पदो की पग-रेखा,
बीहड विपिन, निबिड तम पूरित,
जन-गण का आवास हुआ,
गिरि-गह्वर मे, द्रुम शाखा पर,
उनका आदि-निवास हुआ ।

९२

शब्द-दीनता ओठो पर थी,
कर्णो मे अभिव्यक्ति व्यथा,
सजनि, अबोली अलिखित ही रह—
गई सृष्टि की आदि कथा,
क्रमिक प्रगति से जन-समूह मे
भाषा का सचार हुआ,
कॅपते-कॅपते तुतलाते से,
शब्दो का विस्तार हुआ,
काल बने, सज्ञा बन आई,
क्रिया बनी, अभिधान बने,
नाम विशेषण, क्रिया-विशेषण
के ये सब सन्धान बने ।

९३

निमिष-मुहूर्त्त-विपल-घटिका-दिन,-
मास-वर्ष-निर्माण हुआ,
अथवा सकल विश्व मडल की
क्रमिक प्रगति का ज्ञान हुआ,
भूत-भविष्य विभाजित करता
वर्तमान आया छिन मे,
एक काल के तीन रूप हो–
गए, ध्यान-मय उस दिन मे,
ऋतु-सज्जित यह वर्ष हो गया,
दिवस हुआ यह घटिका-मय,
किंवा मानवता के हिय मे
कुछ-कुछ हुआ ज्ञान-सचय ।

९४

उस प्रभात मे मानव-हिय मे
ज्ञान-प्रणोदन हुआ स्वय,
ज्यो सूने मन-दिङ्मडल मे
करुणा-रोदन हुआ स्वय,
क्यो ? क्या ? कैसे ? के प्रश्नो से,
हृदय विकम्पित, व्यथित हुआ,
अन्वेषण-प्रेरणा मथानी
से अन्तरतर-मथित हुआ,
कहाँ ? मै कहाँ ? अरे, तू कहाँ ?
मै हूँ कौन ? और तू क्या ?
यो अकुला कर मानव बोला,
ठोकर खा, जब वह चूका ।

९५

आदि प्रभात-काल क्रीडा के
ये है मधुर सस्मरग-से,
वर्तमान विज्ञान-प्रगति के
ये है विगत अधिकरण-से,
मेरी स्वामिनि, प्रथम प्रात का
ऋण हम सब के ऊपर है,
उस ऋण का सम्पूर्त्ति-कार्य यह
देवि, कठिन है, दुस्तर है,
यह विद्या-विज्ञान-प्रगति-ऋण
व्याज सहित चुकता करने,–
राम-लखन बन जाते है, ऋण–
की पाई-पाई भरने।

९६

वन मे प्रथम प्रभात-क्षणो की–
छवि का आकर्षण होगा,
उसी प्रथम प्रातर्वेला का
कुछ-कुछ शुभ दर्शन होगा,
वन मे, नव आदर्शोत्प्राणित
लखन-राम-लीला होगी,
अथवा प्रथम-प्रभात-प्रेरणा
फिर से गतिशीला होगी,
वैसे ही विस्फारित होगी–
वन-जन की आखे चकिता,
जैसे प्रथम-किरण-वेला मे
चमकी थी थकिता-थकिता।

९७

हे कल्याणि, मुझे साहस दो,
बल दो, दृढता दान करो,
मुझ, तव नयन-तरगिणि-वाहित—
लक्ष्मण का, कुछ त्राण करो,
हे विदेह नन्दिनी, हृदय में—
वैदेही-निष्ठा भर दो,
मत अकुलाओ, हँस मुसका कर
मुझको आज विदा कर दो,
तुम्ही बता दो, समझाऊँ क्या
कह कर तुम को, प्राण-प्रिये,
सदा तुम्हारी शुद्ध बुद्धि का
मुझको है अभिमान, प्रिये।

९८

विष-पीयूष मिले है जीवन—
मधु मे एक सग, रानी,
सुधा-पात्र से भी है छलका
करता गरल रग, रानी,
जीवन-धारण से जागी यह—
आत्मार्पण-उमग, रानी,
विष से अमिय-गन्ध, मधु-रस से
उठती विष-तरग, रानी,
स्वर-तरग मे करुण हूक है,
मिला रुदन मे गायन-स्वन,
गुँथा हुआ है मरण-भाव मे,
हे सुकुमारि, अमर जीवन।

९९

यह सयोग-सुधा, अजलि भर
मैंने, प्रिये, खूब पी है,
आँखो मे, हिय मे, रग-रग मे,
यह मधु मस्ती भर ली है,
सुधा मधुर, हाला की मस्ती–
मे, यह विष-प्याला आया,
दैवयोग अपने हाथो से
विषमय गुल्लाला लाया,
तुम्ही कहो ? क्या आँखे मीचे
बैठ रहूँ मै बिना पिये ?
होवेगा बदनाम तुम्हारी–
मधुशाला का नाम, प्रिये !

१००

तुम रस दात्री, मै मधुपायी,
तुम प्याली, मै मतवाला,
मै मदिरा, तुम पात्र मनोहर,
मै गाहक, तुम मधुशाला,
खूब पिलाया मधुरस तू ने
ओ मेरी रानी, वरदे,
दानिनि, मत हठ कर तू, ले आ,
आज गरल यह भर-भर दे,
कर दे तू उत्प्राणित मुझको,
मेरी झिझक, अरी, हर दे,
अये, मत उठा, गरल भरे ये–
प्याले, तू सम्मुख धर दे ।

१०१

हार कहाँ? हिय-भार कहाँ ? हिय—
में मनुहार यहाँ छाई,
मेरी रानी, विमल ऊर्म्मिले,
यह घटिका विष ले आई,
मौन सैन से, सरस बैन से,
मदिर नैन से, कह दो यह,-
कि तुम चढा जाओ ये प्याले,
मत झिझको अब यों रह-रह,
गहर गरल की लहर उठ रही,
उतराने दो अब बह-बह,
कर लेने दो, स्वामिनि मुझको,
गरल-पान यह सुबह-सुबह ।

१०२

गरलमयी तुम, सुधामयी तुम,
तुम मेरी मदिरा—बाला,
अभय-दान देती, मदमाती,
मुझको कर दो मतवाला,
आज विश्व देखे कि ऊर्म्मिला—
मधु-लोभी, यह मस्त लखन,
किस मस्ती से गरल-पान कर,
झूम रहा अम्लान वदन,
आज तुम्हारी मधु-शाला का
यह अहनिशि पीने वाला,
मृत्यु-पान कर हो जायेगा
आज अमर जीने वाला ।

१०३

जिन ओठो ने, सजनि, तुम्हारे
अधरामृत का पान किया,
जिन ओठो को तुमने, वरदे,
सतत अमिय-रस-दान दिया,
उन ओठो के लिए आज है—
आए गरल भरे प्याले,
आज पड गया हूँ मै, सुन्दरि,
काल-कूट-विष के पाले,
दे दो तुम वरदान कि मैं कर—
जाऊँ पान वियोग-गरल,
चुपके-चुपके पी जाने दो,
यह विषाद-मय गरल तरल ।

१०४

व्यथा-शून्य मै नही, नही है—
मेरा हिय यह अचल उपल,
मत समझो कि नही उठते है,
प्रिये, बुलबुले उबल-उबल,
सरवर हूँ मै वह कि भरा है
जिस मे अमल ऊर्म्मिला-जल,
जल मै वह हूँ जिस मे होती
रहती पल-पल मे हलचल,
हलचल हूँ वह जो मँडराती
रहती अन्तर मे चचल,
चचल अन्तस्तल मै हूँ वह
जो बाहर है अचल-अटल ।

१०५

तुम सी वस्तु छोडना है इन
प्राणो की ठण्डी फॉसी,
फॉसी ऐसी, लगी रहेगी—
बरसो तक जिसकी गॉसी,

गॉसी वह, जिस से घुट-घुट कर
भी न टूटने पाए। दम,
दम वह, जो सहने को उद्यत—
है वियोग-वेदना चरम,

प्राणो में तडपन होती है,
अकुलाता है, प्रिये, हृदय,
किन्तु क्या करूँ, खडा सामने
यह कर्त्तव्य निठुर, निर्दय।

१०६

जब कुछ उथल-पुथल होती है,
जब कि खलबली मचती है,
जब मानवता करवट लेती
नव-नव रचना रचती है,—

परिपाटी की भीम शिलाओ—
को जब खण्ड-खण्ड करके,
नव-विचार बह-बह आता है
अपना चड रूप धर के,

जब प्रेरणा-मेरु—गिरि से है
होता मथित समुद्र-हृदय,—
तब सक्रान्ति, क्रान्ति, के क्षण की—
पीडा होती है निश्चय।

१०७

एक विचार-काल को करके—
क्रमित, दूसरे मे जाना,—
यो ही बडा व्यथा-मय होता—
है परिवर्त्तन का आना,—
फिर क्या कहना विप्लवकारी का?
वह तो है मूर्त्त-व्यथा
बडी अबोली, बडी ठठोली—
मय है उसकी स्फूर्ति-कथा,
अधकार मे नव प्रकाश को
छिटकता वह मस्ताना,
अपनी धुन का धुनी, घूमता—
धरे प्रचारक का बाना ।

१०८

उसी पुण्य सक्रान्ति-काल की
घटिका आई आज, प्रिये,
इसीलिए मिल गया हमे यह
विस्तृत विपिन-स्वराज, प्रिये,
हम सन्यासी, विपिन-प्रवासी,
नव सन्देश प्रचारक हम,
मन-भय हारी, मगलकारी,
सब जन-गण-उद्धारक हम,
है विचलित भावना यहाँ, हम—
क्यो न नियन्त्रित करे उसे ?
व्यथा बुलाती हमको, हम भी
क्यो न निमन्त्रित करे उसे ?

१०९

दुस्सह व्यथा, असह्य वेदना,
अमित कष्ट सगी अपने,
सीता-राम-लखन जाते है
वन मे जीवन-तप तपने,

हाय, न खीचो तडपा देने
वाली आहे, रह-रह के,
तनिक बँधाओ मुझको ढाढस
तुम दृढता से यो कह के—

'जीवन एक पहेली बन कर
आया है, इसको बूझो,
सावधान, यह है समरस्थल,
प्रिय, मत हिचको, तुम जूझो।

११०

बस, इतना ही कहो, सलौनी,
फिर मै सब कुछ कर लूँगा,
फिर तो वन का घोर तिमिर-दुख
मै क्षण भर मे हर लूँगा,

मुझे और कुछ नही चाहिए,
मै हूँ एक सुभट प्रहरी,
बस मुझ को दे दो तुम अपनी
स्मिति-रेखा यह अश्रु-भरी,

अश्रु-भरी आँखो मे भर के,
कुछ सपना-सा, मुसका दो,
मुझको, प्रिये, आज तुम, हाँ, कुछ,
प्रेरित कर दो, उकसा दो।

१११

तुम क्या जानो देवि, तुम्हारी–
"हाँ-हाँ" में कितना बल है ?
तुम क्या जानो कि इस तुम्हारी–
स्वीकृति में कितनी कल है ?
है समर्थ तव भ्रू - विलास यह
विश्व समग्र नचाने में–
तव दृक्-पात समर्थ सदा है
नव विद्रोह मचाने में,
तुम हो प्रकृति रूपिणी देवी–
तुम हो आदि शक्ति-प्रतिमा–
त्वमसि मदीया चिर-प्रेरणा–
त्वम्हि मदीय भक्ति-प्रतिमा ।

११२

तुम मेरा साहस, बल, वैभव,
तुम मम हास-विलास, प्रिये,
तुम मम नेह-सरणि, तुम मेरा–
नव सन्देशोल्लास-प्रिये,
तुम मम व्यथा-कथा, तुम मेरी–
निवासिनी अंतस्तल की,
तुम अन्तर्यामिनि, स्वामिनि तुम
हो इस लक्ष्मण निश्चल की,
तुम जानो हो, सब कुछ बातें
देवि, लखन अन्तर-तर की
सभी भावनाएँ जानो हो
तुम मेरे जीवन भर की ।

११३

बस तुम और सुमित्रा माता,
दोनो मुझ को जानो हो,
हिय की सकल प्रेरणाएँ तुम
दोनो ही पहचानो हो,
और कौन इस त्रेता युग मे
है जो मुझको जान सके ?
और कौन है जो मुझ को कुछ
समझ सके, पहचान सके ?
तुम दोनो ही मेरे सारे
भेद-भरम को समझो हो,
सास-बहू तुम दोनो मेरे
धरम-करम को समझो हो ।

११४

मेरी तपस्विनी जननी की—
तुम हो करुण छटा, रानी,
मैंने तुम मे देखी माँ की
अरुण तपस्या, कल्याणी ।
मेरी माता की करुणा का
तुम हो मूर्त्त स्वरूप, प्रिये,
उनके जीवन की अनबोली
तुम हो व्यथा अनूप, प्रिये,
तुम दोनो पर त्रेता युग का
सब नारीत्व निछावर है,
तुम दोनो के चरण-नखो से
तप-भावना उजागर है ।

११५

परम सहानुभूति रूपा तुम,
चरम, विषम वेदना-मयी,
तुम हो बलिवेदी की उठती–
शिखा, परम पावना, नयी,
आत्माहुति का यह क्षण आया
है अपना खप्पर लेकर,
कर लेने दो इसका स्वागत
मुझको निज जीवन देकर,
यह है अग्नि-परीक्षा, रानी,
बलि-दीक्षा दो तुम्ही मुझे,
"स्वाहा" कहने के पहले ही,
देखो, कही न अग्नि बुझे ।

११६

आज आत्म-जय की, तन्मयता–,
की, यह ज्ञान-तरग उठी–
मेरे सात स्वरो मे जागृति,–
की यह नवल उमग उठी,
मेरी वीणा आज मिला दो,
आओ, देवि, उसी स्वर मे,
इसकी ये खूँटियाँ खीच दो,
तारतम्य बाँधो, परमे,
मेरी रानी तनिक मिला दो–
मेरे स्वर मे स्वर अपना,
मेरे स्वर को आज सिखा दो
ठहर-ठहर थर-थर कँपना ।

११७

देवि, मधुर वीणा का निक्वण
मम अन्तरतर मे भर दो
हिय-मन्थन-शीला स्वर-पीडा
सकल चराचर मे भर दो,
छन्द-हीन, गतिहीन, बेसुरा,
ताल रहित जीवन जग का—
ज्ञान नही है स्वर का, लय का,
छुटा ध्यान स-नि-ध-प-म-ग का,
तुम स्वर-लय-यति-गति-रति-रम्ये,
कम्पित कर दो स्वर-लहरी,
आज बहा दो स्वर-रस-धारा
कुछ गहरी, कुछ-कुछ ठहरी ।

११८

आज आत्म-लय का अगेय गीत गाऊँगा मै
परम आनन्द कन्द अन्तहीन स्वर मे,
उमँग-उमँग पूर्ण प्रेम भर लाऊँगा मै
प्राण-आरोहण-अवरोहण-लहर मे,
उमड उठेगी स्वर-तरगिणी रसधार
घहर-घहर भर जायगी अम्बर मे,
रस-स्रोत, ओत-प्रोत करेगा ब्रह्माण्ड सब
तान गूँज जायगी अखण्ड चराचर मे,
तुम मेरी मानिनी, दानिनी, रानी, करो मुझे
कृतकृत्य जीवन के प्रथम प्रहर मे,
विस्मारक नाद की अनन्त गान-लहरियाँ
तरगित हुई, देवि, मम मानसर मे ।

११९

सृष्टि प्रेरणा के तीव्र, मन्थन-विषाद भरे
झल-झल झलके है तारे नभ-सर मे,
अखिल ब्रह्माण्ड का दुरूह चक्र-व्यूह भेद
कर गूँजती है गायन-ध्वनि प्रान्तर मे,
सूर्य-चन्द्र-ग्रह-सौर - मण्डल - आकाश - गगा—
मन-मणि सम गुँथे गान-प्राण-हर मे,
घूम-घूम झूम-झूम नृत्य करता है विश्व,
विश्व रूप, शक्ति-बीज ब्रह्म के अधर मे,
अवध नची है, दशरथ नृप नाच रहे,
कैकेयी नाचती पडी ज्ञान के चक्कर मे,
इस क्षण केवल श्रीराम शान्त, स्थिर बुद्धि,
विचरण कर रहे है प्रासाद भर मे ।

१२०

एकोऽह् यद्यपि बहु रूप हो गया मै यह—
ध्वनि उठती है इस सृष्टि के भँवर मे,
विश्व-नियमो की क्षुद्र घटिका खनकती है
नियति की कटि मे, चरण मे, सुकर मे,
क्रान्ति - उत्क्रमण - सुविकास - नाश- पाश-बद्ध
जूझता है जग लीलामय के समर मे,
एक सूत्र, एक लय, एक तान, एक गान
एक ध्यान, भेद कहाँ पर मे ? अपर मे ?
वन-वासी अवध-निवासी के ये भेदभाव
दूर हुए, भेद नही जगल मे, घर मे,
द्वैत भाव मिट रहा, दूर हो रहा है भेद
शीतल छाया मे, रवि किरण प्रखर मे ।

१२१

एक महाकाल के अनेक क्षण खण्ड रूप
भेद-भाव युत फैल रहे जग भर में,
दिन, रात, प्रहर, मुहूर्त्त, क्षण, घटिकादि,
सब का निलय महाकाल के उदर में,
स्वय विकराल महाकाल दीन भाव धरे
लीन हो जाता है श्री अकाल के अन्तर में,
उस क्षण तन्मयता सिन्धु लहराता आके
भेद भाव मिट जाता क्षर में, अक्षर में,
यही आत्म लय का अगेय गीत गाने दो, री,–
परम आनन्द कन्द अनहद स्वर में,
उमँग-उमँग पूर्ण नेह भर ले आने दो–
प्राण आरोहण-अवरोहण-लहर में ।"

१२२

यो कह, उनका चुम्बन करते
करते लक्ष्मण मौन हुए,
अथवा हृदय-निगूढ भाव सब
कुछ मुखरित, कुछ गौण हुए,
एक बार दोनो ने दोनो
को देखा आँखे भर के,
पैठ गए ऊर्म्मिला-हृदय मे
नयन ऊर्म्मिला-श्रीवर के,
एक दूसरे पर बलि जाते,
हृदय ग्रन्थियाँ खोले-से,–
कुछ क्षण तक तो यो ही दोनो,
बैठ रहे अनबोले-से ।

१२३

हुए स्फुरित कुछ ऊर्मिला-अधर
फिर कुछ कण्ठ निरुद्ध हुआ,
फिर, हठ करते हिय का आकुल
अभिव्यजन हत-बुद्ध हुआ,
कुछ अटके, कुछ भटके, ठिठके,
वचन लाज-लटकीले वे,
अन्तरतर मे पैठ रहे अति–
अरुण, करुण, चटकीले वे,
थके शब्द, रस-गोपनीयता–
से झगडा करते-करते,
फिर मुखरित हो उठे छबीले
वे कुछ-कुछ डरते-डरते,

१२४

"मेरे प्राण, त्राण की तुम से,
नही माँगती मै भिक्षा,
मुझे याद है, देव, तुम्हारी
स्पर्श-तितिक्षा की शिक्षा,
आदर लाड, प्यार, जीवन मे–
इतना तुम ने मुझे दिया,
चिर अनुरक्ति-सुधा-रस मै ने
अजलि भर-भर अमित पिया,
लखन-प्रिया बन अमर हुई हूँ
श्री विदेह की कन्या मै ।
देव, तुम्हारे श्री चरणो मे–
बैठ हुई हूँ धन्या मै,

१२५

देव, तुम्हारे शुभ दर्शन से
मेरा जीवन धन्य हुआ,
श्री चरणो मे आत्म-निवेदन
मेरा विनत, अनन्य हुआ,
तुम मेरी शुद्धा निष्ठा, प्रिय,
तुम मेरी परमागति हो,
तुम मम ज्ञान-राशि तुम मेरी–
पावन परब्रह्म–रति हो,
तुम मेरे सचित प्रसाद हो–
जीवन-किसलय-सम्पुट के,
बडे जतन से तुम्हे पा सकी
हूँ, हे प्राण, स्वयम् लुट के ।

१२६

तुम मेरे यौवन-निशीथ की–
दीप-शिखा हो इठलाती,
एकाकिनी यात्रिणी की तुम,
हो आलोकमयी बाती,
तुम हो मेरे सुभग सबेरे,
मेरे बालातप तुम हो,
जप तुम हो, तप तुम हो, अव्यय-
मम अश्वत्थ विटप तुम हो,
तुम मेरे प्रज्वलित हुताशन–
अधिष्ठान आत्माहुति के,
तुम हो चिर प्रकाश दाता, प्रिय,
मेरे जीवन की द्युति के ।

१२७

तुम मम अर्चन, वन्दन, पूजन,
ज्ञान, ध्यान के हो स्वामी,
अनुगामिनी तुम्हारी मैं, तुम
मेरे अभय अग्रगामी,
कितने नेह-निगूढ तत्व ये
आत्म-रमण-रीतियाँ कई,
तुम ने मम हृद्गत की है, हे—
देव, सुरत-रीतियाँ नई,
तुम मेरे गुरुदेव पुरातन,
सतत सनातन रूप प्रभो,
तुम हो मेरी प्राण-प्रतिष्ठा
तुम मम मूर्त्ति अनूप, प्रभो !

१२८

तुम मेरी जीवन-कुरंगिणी—
के आदर्श शिकारी हो,
हे प्रिय, तुम मेरे जीवन के
बडे चतुर धनुधारी हो,
मेरी चपल अहता की यह—
मृगी हुई कब की घायल,
प्रिय, मैं तो हो चुकी कभी की
तव धनु बाणो की कायल,
समय नही है कि मैं दिखाऊँ
नीके तीखे बाणो को,
आज समय ही नही, बताऊँ—
उन सब शर-सन्धानो को ।

१२९

तुम मम कृति-पति,मति-पति रति-पति,
तुम मम चिर अविकारी हो,
तुम मम प्रकृत कला कौशल, तुम-
नवल भाव सचारी हो,
तुम मेरी तूलिका, सुकठिनी,
तुम मेरी छबि, तुम कविता,
तुम हो मेरे अमल चन्द्रमा,
तुम मम जीवन-नभ-सविता,
तुम हो मेरी प्रेम-पूर्णता,
तुम मेरी आध्यात्मिकता,
तुम मेरे आराध्य देव हो–
तुम हो मेरी तात्विकता ।

१३०

मेरे जन्म - जन्म के तुम प्रभु,
मै तव चरणो की दासी,
तुम मेरे चिर-नेह भिखारी,
मेरे हृदय-देश-वासी,
मेरे द्वारे अलख जगाते–
तुम शिव शकर रूप बने,
मेरा अह-भाव-विष पीते–
तुम प्रलयकर रूप बने,
खूब लिया सदेश-वहन का
अतुल भार अपने शिर यह,
खूब किया जो आज कर लिया
निज-जीवन-पथ सुस्थिर यह ।

१३१

प्रथम प्रात का ऋण भुगताने
को अब विपिन-गमन होगा,
वन जग-मग आलोकित होगा
चिर अज्ञान-दमन होगा,
विजन-गमन मिस जन-गण-सग्रह
का सदेश-वहन होगा,
अथवा किसी ऊर्म्मिला का सुख—
उपवन-देश-दहन होगा,
आग लगा, सुख-बाग जलाए—
राग-सुहाग लुटाते-से,
मेरे प्रिय, तुम विपिन पधारो,
ममता—मोह छुटाते-से ।

१३२

मेरी करुणामयी सुमित्रा—
माँ रोएँगी, रोने दो,
ओ मेरे आखेटक, अपने—
ही मन की तुम होने दो,
मै ? मै इन अपनी आँखो को
फोडूँगी, यदि ये रोवे,
देखूँगी कि कही न तुम्हारे
पथ की बाधाएँ होवे,
तुम जाओ, सुखेन जाओ, हम—
दोनो की कुछ बात नही,
हमे चलित कर दे, यह चौदह
वर्षो की न बिसात कही ।

१३३

हम नारी है चिरप्रतीक्षिका,
हम है चिर परीक्षिताए,
चिर वियोग यज्ञाहुति से हम
सन्तत हुई दीक्षिताए,
निभृत कुटी की द्वार-देहली
पर चिर नेह-प्रदीप धरे,—
युग-युग लौ उकसाती रहती
है हम बाती, हरे, हरे,
चौदह बरस ? नही प्रिय चाहो—
यदि, चौदह युग लौ जाम्रो,
खूब करो उद्धार विश्व का,
ज्ञान-रश्मिया फैलाम्रो ।

१३४

मै नारी हू, देव, बनी हू
मै नित सग्रह-भाव मयी,
अपनी निधियो के प्रति मै हूँ
कुछ-कुछ कृपण स्वभावमयी,
मै गृह भी हूँ, गृह-स्वामिनि—
हू, घर की रखवालिन हूँ,
मै हूँ अपने घर की रानी
निज उपवन की मालिन हू,
मै बखला उठती हूँ, प्रिय, यदि
कोई मेरी वस्तु छुए,
वे है मेरे शत्रु कि जो मम
उपवन-नाश-प्रवृत्त हुए ।

१३५

यह कैकेयी कौन, कि जो श्री—
राम चन्द्र को भेजे वन ?
यह कैकेयी कौन ? उजाडे
जो सीता का सुखद सदन ?

यह कैकेयी कौन ? ऊर्म्मिला का
उपवन जो करे दहन ?
कैकेयी ? लूट ल सुमित्रा
माता की गोदी का धन ?

आर्यपुत्र, मै ? मै कुछ भी तो
समझ न पाई ये कर्त्तब,
कोसल जनपद मे यह विप्लव
हुआ कहो क्यो ? कैसे ? कब ?

१३६

सब जन हुए आज पागल ? या—
मै ही हूँ बौरानी-सी ?
क्या मै ही यो सोच रही हूँ
मूर्त्तिमती नादानी-सी ?

यह अन्धेर ? प्रचण्ड मौर्ख्य का
यह निष्ठुर आदेश, प्रभो,—
तुम भी धर्म, धर्म कहते हो
इसको हे प्राणेश, प्रभो,

आग लगे इस धर्म-क्रान्ति मे
जो बुद्धि का विनाश करे,
है कैसा यह धर्म कि जो जन—
गण के हृदय निराश करे?

१३७

सुनती हूँ कि नृपति दशरथ का
है कोई प्रदत्त वह वर,
जिसके कारण आर्य राम, औ
श्रीलक्ष्मण होंगे वनचर,
होगी श्रीरामानुगामिनी
सीता जीजी, जानूँ हूँ,–
अपनी तेजस्विनी बहिन को
बचपन से पहिचानूँ हूँ,
यह प्रतिपाल वचन का क्या है ?
यह वर है क्या बला, कहो ?
धर्म-कर्म है कहाँ ? किधर है–
निष्ठा इस मे भला, कहो ?

१३८

यह है सब पाखण्ड, प्राणप्रिय,
बुद्धि दोष का यह व्यापार,–
जिस के वश नरपति ने खोया
यह समस्त सद्भाव, विचार,
परिमित है, निःसीम नही है–
धर्म, वचन-प्रतिपालन का,
रखना पडता है विचार भी
जन-समाज-परिचालन का,
वचन पालने मे होता है
पूर्ण विचार हितामृत का,–
देश, काल, पात्रता, परिस्थिति,
धार्मिक भाव, नृतानृत का ।

१३६

वरब्रूहि कह, देना भी क्या
कोई सहज ठठोली है ?
वर दे भिखमगे वामन वे ?
जिनके काँधे झोली है ?

वर देना है काम उसी का
जो प्रभु अन्तर्यामी है,—
सर्व-शक्ति जिसके एकाशस्थित
है, जो निष्कामी है ।

वडी अनोखी बात कि अब वर
देने लगे द्विपद जन भी,—
भाव-समत्व-स्थिति है जिनके
हिय मे नही एक क्षण भी ।

१४०

यदि तुम मेरे प्रेम नेम-वश
हो कर मुझे एक वर दो,—
और माँग लूँ मैं तुम से यह,
कि तुम ब्रह्म-हत्या कर दो ।

तब क्या वह वरदान तुम्हारा,
बोलो, धर्म-विहित होगा ?
वह व्रत परिपालित होगा ? क्या-
उस मे धर्म निहित होगा ?

तुलनात्मिका-बुद्धि से व्रत का
पालन नही रहित होता
व्रत-परिपालन सदा, प्राण प्रिय,
ज्ञान-विचार सहित होता ।

१४१

यह है एक कुपरिपाटी, प्रिय,
यह सम्पूर्ण स्वधर्म नही,
सोचो तो, इस धर्म-धर्म मे
हो जावे न अधर्म कही,
माँ कैकेयी धर्म-कर्म का
लोम-चर्म है खीच रही,—
अपने स्वार्थ-बीज को वे है
इसी बहाने सीच रही,
यह अज्ञान भयकर है, प्रिय,
तात-चरण श्री दशरथ का,
खो बैठे है सद्विचार सब
वे निज कृति के इति-अथ का।

१४२

जन-गण-मगलकारी सीता—
रमण आर्य श्रीराम सदा,
धर्म धुरन्धर, देव-पुरन्दर—
वन्दित, वे निष्काम सदा,
वे है मेरे पितृ देव सम
सदा समत्व बुद्धि वाले,
उन्हे समझ क्या सके स्वार्थ-रत
मूर्ख ममत्व बुद्धि वाले?
आर्य राम के एक चरण नख
पर त्रैलोक्य निछावर है,
उन का ही तो है इस जग मे
जो जगम है, स्थावर है।

१४३

नित एकत्व भाव धारा के
चिर वाहक जो राम स्वय,–
'भुजीथा त्यक्तेन' मन्त्र के
चिर साधक जो राम स्वय,–
उन्हे कभी मोहित कर सकती
क्या यह स्वार्थ-भाव-माया ?
उनके आगे क्षुद्र, अवध के
राजपाट की यह छाया,
घोर विचार शून्यता है यह
श्री कैकेयी रानी की,
प्रदर्शिनी कर रही आज वे
अपने हिय अज्ञानी की ।

१४४

यह अन्याय, धर्म का नाटक–
रचता हुआ, अवध आया,
फैला रहा हमारे गृह मे
यह अपनी मिथ्या माया,
सभी फँस गए है इस भ्रम मे,
तुम भी भ्रमित हुए, स्वामी !
धर्म-विचार, अधर्म-आक्रमण–
से अतिक्रमित हुए, स्वामी,
शिथिला बुद्धि हुई है, सब जन–
किकर्त्तव्यविमूढ हुए,
उठो धनुर्धर मेरे, तुम क्यो
यो वनगमनारूढ हुए ?

१४५

इस अन्याय, अधर्म दुष्ट के
शिर पर चरण–प्रहार करो,
अपनी प्रज्ञा के तीरो के
तक-नक तीखे वार करो,
नाश करो इस अन्ध दम्भ का,
आज अवध को पूत करो,
इस पाखण्डमयी धार्मिकता
को तुम भस्मीभूत करो,
जाओगे तुम ज्ञान-रश्मियाँ
फैलाने वन-निर्जन मे ?
यहाँ अवध को छोडोगे क्या
यो ही निविड तिमिर घन मे ?

१४६

यह अविचार विपिन जाने का
राम-हृदय कैसे आया ?
उनके विमल हृदय-दर्पण मे
पडी असत् की क्यो छाया ?
या तो सब जग पागल है, या–
फिर मै ही हूँ उन्मत्ता,–
सब जग ? या मै ही भूली हूँ
धर्म्मा-धर्म, कर्म-सत्ता ?
राम, लखन, सीता, कौशल्या,
मात सुमित्रा, सब अरुझे?
या फिर, प्रिय, मेरे हीहिय की
ज्ञानाग्नि के स्फुलिग बुझे ?

१४७

माना मै नारी हूँ कृपणा,
मै हूँ स्वार्थ-स्वभाव मयी,
किन्तु तत्व-विश्लेषण की है,
मुझ मे अविकल चाह नयी,
मुझे तनिक भी सग-दोप की
नही दीख पडती छाया,
मोह नही है, लोभ नही है,
नही रच ममता-माया,
शुद्ध-भावना से उत्प्राणित
मेरे ये विचार, प्यारे,—
आज उमड आए है बरबस,
निर्णयार्थ, न्यारे-न्यारे ।

१४८

तुम कहते हो वन-जन-मन मे
होगा ज्ञान-विकास नया,
मै कहती हूँ प्रथम अवध मे
करो अधर्म-विनाश नया,
धर्म-धुरीण राम के भ्राता,
पूज्य सुमित्रा के जाये,
यह अन्याय हो रहा है, प्रिय,
तब सम्मुख, दाये-बाये;
यह अधर्म का भाव यहाँ पर
फैल रहा है जन-गण मे,
पहले इसको करो पराजित,
प्रिय, तुम निज जीवन-रण मे ।

१४६

धर्म-धारणा मे, मेरे प्रिय,
तुम प्रचण्ड-सी क्रान्ति करो,
सद्‌विचार, सद्‌भाव, तर्कमय—
कृति से सब की भ्रान्ति हरो,
कह दो आज पिता दशरथ से
कि यह अधर्म नही होगा,
कह दो, लक्ष्मण के रहते यह
यह घोर कुकर्म नही होगा,
राज नही कैकेयी का यह,
दशरथ का न स्वराज यहाँ,
जन-गण-मन-रजन कर्त्ता ही
होता है अधिराज यहाँ ।

१५०

मन्त्र-मुग्ध मणि-फणि अनन्त-सम
तुम कैसे यो दीन हुए ?
हे मेरे अपराजित, बोलो,
किस धुन मे तुम लीन हुए ?
कहाँ गई वह सहज वीरता
उचट चोट करने वाली ?
कहा गई हुङ्कारमयी वह
वाणी, भय भरने वाली ?
भू-लुण्ठित कर दो अधर्म यह
अपने चरण प्रहारो से,
कम्पित कर दो दिग-दिगन्त यह
निज गभीर ललकारो से ।

१५१

आर्य धर्म के करवट लेने
की यह घटिका आई है,
महाक्रान्ति के सूत्र आज यह
अपने सॅग-सॅग लाई है,
स्वार्थ-प्रेरणा का रौरव रव
शान्त करो, निस्तव्ध करो,
निज ज्वलन्त शख-ध्वनि से, प्रिय,
सब के हृदय विदग्ध करो,
महानाश का मन्त्र फूँक दो,
मेरे विकिट क्रान्ति कारी,
भस्म करो ये गलित रूढियाँ,
मेरे निपट भ्रान्तिहारी ।

१५२

ऐकान्तिक कर्तव्य नही है
पितुराज्ञा-पालन, प्राणेश,—
यह भी क्या, मै तुम्हे बताऊँ
हे मेरे विशुद्ध ज्ञानेश ?
है उस मे भी काल-परिस्थिति—
बन्धन, देश-अवस्था का,
करना पडता है विचार-निज
धर्म-स्वकर्म-व्यवस्था का,
धर्म-बध से गुरुजन-आज्ञा
का पालन निर्बन्ध नही,
छुट सकता है अश-कर्म से
पूर्ण धर्म-सम्बन्ध कही ?

१५३

आंशिक कर्म रूढियाँ क्यो कर—
रही भावना तव विकला ?
बस अच्युत सद्धर्म-परिधि ही
है अलघनीया विमला,

भक्तराज प्रह्लाद कर चुके
हैं पितुराज्ञा उल्लघित,
फिर भी उनकी पुण्य-स्मृति है
आज सकल जन-गण-वंदित,

लघनीय है आज्ञा गुरुजन—
की अधर्म्य, अविचारमयी,
मान्य गुरोराज्ञा क्यो होगी,
जो विषमयी, विकार-मयी ?

१५४

तुम विचार-क्रान्ति के उपासक,
तुम नवीनता उन्नायक,
तुम प्राचीन दम्भ के भेदक,
तुम जडता के गति-दायक,

तुम कोदण्ड, प्रचण्ड-भाव के,
नवोत्क्रान्ति के तुम सायक,
तुम तूणीर चमत्कारो के,
तुम प्रत्यचा निश्चायक,

शब्द-बेधन-क्षम तुम हो, तुम—
सशय – वाक्य - नष्ट - कर्ता,
तुम हो निपट अचूक खिलाडी
"भवति-न भवति"—भाव हर्त्ता

१५५

आज अवध मे फैल रहा है
निपट कुकर्म-विकर्म बडा,
यहाँ धर्म की ओट लिए इस–
जन-पद-बीच अधर्म खडा,
छाया है दुष्कर्म भयानक,
धर्म-भावना रोती है,
बोलो, मेरे निपट धनुर्धर,
तुम को आज चुनौती है,–
आँखे खोले, धोखा खाते,
यह अधर्म स्वीकार करो,–
या फिर कैकेयी-कुमनोरथ–
गढ को क्षण मे क्षार करो ।

१५६

आज जगत को सूर्य वश की
टेक तनिक दिखला तो दो,
धर्म किसे कहते है, भोले–
जग को यह सिखला तो दो,
दिखला दो, दो हाथ, धर्म की
धाक-साख बिठला तो दो,
इस अधर्म के जमे हुए जो–,
चरण, उन्हे फिसला तो दो,
खिसका तो दो अचल शिला इस–
भीषण, जड परिपाटी की,
पगडण्डी निर्विघ्न करो, प्रिय,
अगम धर्म की घाटी की ।

१५७

आज धनुष की डोर सजाए,
शर सधाने, सज्जित हो,—
कूद पडो, ललकार भरे, तव—
प्राण रण-नदी मज्जित हो,
यहाँ स्वार्थ-परता दिखलाती
है अपनी आकृति, स्वामिन्,
आज करो विद्रोह भयानक
इस अधर्म के प्रति, स्वामिन्,
गुरु-जन, माता, पिता, सुहृज्जन,
जो भी हो अधर्म धारी,
उन से लोहा लेने मे मत
झिझको, हे स्वकर्म कारी ।

१५८

विद्रोही ही जग मे करते
है सुधर्म-निर्माण नया,
शुष्क अस्थियो मे सचारित
करते है वे प्राण नया,
नव-धारा-वाही विद्रोही
नूतन काल-प्रवर्त्तक है,
महानाश-ताण्डव का गतिमय
विद्रोही, ही नर्तक है,
उसकी गति मे नाश सृजन, ये
उभय परस्पर है मिलते,
जैसे शूल धन्य होता है
कोमल शत-दल के खिलते ।

१५६

है विद्रोह पतित-पावन, वह
अभिनव सृजन-निशानी है,
है विद्रोह नित्य जाग्रति मय,
गति की गहन निशानी है,
अलस, मदिर, रसमय, स्वप्नोत्थित
नयनो का वह सपना है,
यह विद्रोह नवाशा -पूरित
हिय का विकल तडपना है,
प्रिय-भविष्य-दर्शन की आशा
है विद्रोही के हिय मे,
सुख-बलि है, आत्माहुति है, नित—
इस के जीवन सक्रिय मे।

१६०

सकल सृष्टि विद्रोह-कला की
एक लहर मस्तानी है,
इसीलिए प्रति वस्तु यहाँ की,
प्रियतम, आनी-जानी है,
स्थिरता केवल जडता मे है
जीवन मे अस्थैर्य भरा,
इसीलिए तो मानव-हिय मे
सतत विकास-अधैर्य भरा,
सहज हठीले तुम विद्रोही,
दरसा दो विद्रोह-कला,
चूर्ण-चूर्ण निज पदाघात से,
कर दो भीम शिला अचला।

१६१

इन आब्रह्म भुवन लोकान्तर–
में विद्रोह सतत छाया,
पुरुष, प्रकृति के बीच दृष्टिगत
होती चिर विरोध छाया,
एक सचेतन है, दूजी ने–
जडता ही को अपनाया,
पुरुष अगुण, गुणमयी प्रकृति है,
अक्षर पुरुष, क्षरा माया,
बन्धन-मुक्ति, सगुण-निर्गुण के
बीच विरोध-भाव आया,
अथवा यह विद्रोह निरजन–
रजन अपना रँग लाया ।

१६२

क्षर-अक्षर में, अचर-सचर मे–
अजर-अमर विद्रोह भरा,
परम पुरुष की द्रोह-रूपिणी
है यह प्रकृति परा-अपरा,
कर जड से विद्रोह, सचेतन
अकुर आविर्भूत हुआ,
कर विद्रोह परम निर्गुण से
गुणमय विश्व प्रसूत हुआ,
फिर तुम आज अवध मे विप्लव
करने से क्यो डरते हो ?
प्रिय, बतलाओ, क्यो चुपके स
पितुराज्ञा शिर धरत हो ?

१६३

जग पूजित है सत्य-धर्म-रत,
सन्निष्ठा-मय विद्रोही–
गतानुगति का वह विध्वसक
वह प्राणो का निर्मोही,–
परिपाटी-द्रोही विद्रोही
जग की आवश्यकता है,
धीर उत्क्रमण, सतत प्रगति की
वह परमावश्यकता है,
यदि न जलाए ज्वाला उस के
नव विचार की दाहकता–
तो फिर कैसे हो सकती है
निखिल लोक सग्राहकता ?

१६४

उस के हिय मे है अस्वीकृति,
निष्ठा-प्रेरित नास्तिकता,
उसकी नास्तिकता मे भी है
शुद्ध तर्क की आस्तिकता,
नासदीय सूक्तोक्त भावना
है हिय मे मगलकारी,
उसकी आँखो मे रहती है
प्रश्न-चिन्ह की चिनगारी,
चिन्तन मे ललकार भरी है
रसना मे है 'नही ! नही !'
प्रबल पुराण-पुरातनता कर
सकती विचलित उसे कही ?

१६५

विद्रोही है ज्ञान-वह्नि का—
पुंज, प्रचण्ड, अमन्द, ज्वलन्त,
धर्म, विचार, सुसंस्कृति, गति का
प्रखर प्रकाश अजस्र, अनन्त,
नव-विचार-उत्पादक जो भी
है, बस, वह विद्रोही है,
नवल-भाव-उन्नायक जो भी
है, वह ही विद्रोही है,
तुम भी विद्रोही हो, प्रिय, तुम—
परिपाटी के शत्रु बड़े,
सार-शून्य रूढ़ियाँ तुम्हें किमि
रख सकती हैं यों जकड़े ?

१६६

अन्ध, अविश्लेषित, अविचारित
स्वीकृति ही आडम्बर है,
गुणातीत की अस्वीकृति का
चिन्ह धरा है, अम्बर है,
निर्गुण लीलामय की यह सब
लीला अस्वीकृति-मय है,,
स्वीकृति में यह विश्व कहाँ है ?
स्वीकृति में लय ही लय है,
तुम हो सगुण रूप मेरे, प्रिय,
निज अस्वीकृति प्रकट करो,
आज गुरोराज्ञालंघित कर
पौर-जानपद-कष्ट हरो ।

१६७

"पर-पर-··, मै क्या कहती हूँ ?
औ' यह किस से कहती हूँ ?
मुझे सँभालो, प्रिय, प्रवाह के
प्लावन मे मै बहती हूँ,
खूब जानती हूँ मेरा यह
कथन व्यर्थ है, है नि स्सार,
मै हूँ एक ओर, है दूजी
ओर कृत्स्न जग का अविचार,
मुँह बाये चौदह वर्षो की
अवधि खडी है सम्मुख आज,
हा ! कैकेयी सास, बनी क्यो–
तुम जग भर की दुर्मुख आज?

१६८

ओ प्रिय, तनिक झाँक देखो तो,
हुआ हृदय सूना-सूना,
मुझे समस्त विश्व लगता है
प्रिय, अतिशय ऊना-ऊना,
चौदह बरस, एक सौ अडसठ,
अरे महीने है इतने !
पाँच सहस्र एक सौ दस-दिन!
क्षण मुहूर्त्त ये है कितने ?
सचमुच समय अनन्त-वन्त है–
इस क्षण इसका भान हुआ,
लम्बी होती है दुख-छाया
इस क्षण इसका मान हुआ ।

१६९

सार तत्व मेरे जीवन का
अब वन-वन मे भटकेगा,
वह वन-पशुओ से उलझेगा,
वह शूलो मे अटकेगा,
यहाँ ऊर्म्मिला राज करेगी
प्रासादो मे, उपवन मे,
हृदय, अरे ओ निष्ठुर, निर्मम
फटता क्यो न एक क्षण मे ?
आँखो, ओ वेपीर ऊर्म्मिला—
की नि सार नृत्य शीला—
पथराई तुम नही अभी तक ?
देख रही हो यह लीला ?

१७०

मेघ घिरेंगे, शीत आयगी,
ऋतुएँ आएँ - जाएँगी,
सरयू की इठलाती लहरे
बलखाती लहराएँगी,
कोयल कूकेगी, कुहकेगा
तृषित पपीहा उपवन मे,
यहाँ ऊर्म्मिला होगी, होगे—
सीता-राम-लखन वन मे !
हाय, हुई निरुपाय ऊर्म्मिला,
कोई तनिक सहारा दो,
मुझ अनाथिनी को उसका वह
अपना बाँका प्यारा दो ।

१७१

शून्य हृदय, मन शून्य, शून्य चित,
शून्य कल्पना का अम्बर,
नियम-नियन्त्रण-शून्य नियति है,
सुप्त जगद्धर विश्वम्भर,
यहाँ घृणित अन्याय हो रहा,
सुनने वाला नही यहाँ।
राज करेगे भरत? लखन वन–
वन विचरेगे यहाँ, वहाँ?
घोर अनन्त निराशा का यह
चँदुआ याँ ताना किसने?
अरे, आज जीवन का पूरा
यह ताना-वाना किसने?

१७२

तार-तार सब अलग हो गए,
टूटा तारतम्य-व्यापार,
असहनीय हो गया दैव को,
लखन-ऊर्म्मिला का यह प्यार,
बिधना आज चुनौती तुझको,
कर ले तू कस-कस कर वार,
देख, रहे अवशेष न तेरा–
कोई निष्ठुर अत्याचार,
हाँ, हाँ सब कुछ सहना होगा,
सह लूँगी, हाँ, सह लूँगी,
तुम वन जाओ, किसी भाँति मैं
यहाँ अवध मे रह लूँगी।

१७३

प्रिय, बिन बोले उमड आय यदि–
यह हिय, तो मेरा बस क्या ?
मे क्या करूँ कभी रह-रह यदि
छलके घट करुणा रस का ?
ओ निर्म्मोही, निठुर धनुर्धर,
तुम मूँदो अपने नैना,
कान मूँद लो, सुने-अनसुने
कर दो तुम मेरे बैना,
तडपन तो होगी, होने दो,
रोऊँगी, रो लेने दो,
अपने युगल चरण तुम मुझको
आँसू से धो लेने दो ।

१७४

ओ प्रिय, दिवस काटने का तुम
कुछ तो जतन बता जाना,
जिस से पुन अवध आने पर–
पडे न तुमको पछताना,
अवधि-अन्त मे छटा लख सकूँ
मै इन सरसिज-चरणो की–
देते जाना मुझे सुमरिनी
अपने कुछ सस्मरणो की,
कर दो मुझ को लक्ष्मण-मय, निज–
आत्मरूप मुझको कर दो,
रिक्त हुआ जाता हिय, इस मे
तुम लक्ष्मण-लक्ष्मण भर दो ।

१७५

क्यो न मुझ तुम वन बीहड मे
सग-सग लेकर चलते ?
क्यो छोडे जाते हो मुझको
अवधि-वह्नि मे याँ जलने ?
सग चलूँगी, वन विचरूँगी,
तुम पर न्यौछावर हूँगी,
मिला कण्ठ मे कण्ठ, गान से
मै अटवी को भर दूँगी,
किन्तु जल्पना है मेरी यह
आया इसका ध्यान मुझे,
मे क्या-क्या कहने लगती हूँ
इसका रहा न ज्ञान मुझे ।

१७६

मँडराने लग गया धुआँ यह
मेरे मानस-मडल मे,
यथा सृष्टि के पूर्व धूम्र था
पूरे ब्रह्म-कमण्डल मे,
सब विचार धूमिल से ह, बस—
एक वेदना स्पष्ट हुई,
धूम्र-आवरण के अन्तर से
अग्नि-शिखा आकृष्ट हुई,
ना जानूँ क्या हुआ कि मन मे
मूक-चूक ही शेष रही
सब बाते तो लुप्त हो चुकी,
एक हूक अवशेष रही ।

१७७

जव तुम वन मे होगे, तब यदि ✓
ऋतुओ का ऊधम होगा,—
तो मेरा क्या होगा? वह दुख,
वोलो, कैसे कम होगा ? ✓

मन-मन करती जब आवेगी
पवन मदोन्मत्ता बहती,
जब मम आँगन मे डोलेगी—
सुरत अतीत कथा कहती,—

तब मेरे इस निष्ठुर हिय का
होगा कैसा हाल, कहो ?
कैसे समझाऊँगी इसको—
मै, हे दशरथलाल, कहो ?

१७८

उषा, प्रात, मध्यान्ह, साँझ, सब—
नित प्रति आएँ-जाएँगे,
नैश-गगन मे नखत हँसेगे,
निशानाथ मुसकाएँगे,

काली रात, सतत ज्योत्स्ना-मय,
निशि का याँ उद्भव होगा,
कभी स्फटिक दिन, कभी साभ्र दिन
का सुरम्य ताण्डव होगा,

रमण, तुम्हारी अनुपस्थिति मे
कैसे इसे सहूँगी मै ?
कौन यहाँ होगा जिस से निज
हिय की कथा कहूँगी मै ?

१७६

क्या बीतेगी करुणा भरिता
श्वश्रू माता के मन पे ?
क्या बीतेगी उन के करुणा–
जर्ज्जर तापस-जीवन पे ?
बिना राम के कोशल-जनपद
का क्या होगा, पता नही,
बिना राम के नृपति न दे दे
आपने आकुल प्राण कही,
यह सब अनाचार, सन्निष्ठा
के धोखे हो रहा यहाँ,
इसको ही तुम कहते हो निज
जीवन का सदेश महा ?

१८०

मै कुछ भी समझी न, हो न हो,
मै हूँ कुण्ठित बुद्धिमयी,
किवा मेरी बुद्धि हुई हो
शोक - विकार - अशुद्ध - मयी,
पर इसका क्या करूँ ? हृदय मे-
लप-लप करती ज्वालाएँ–
रोम-रोम झुलसाए देती
है ये अति विकरालाएँ,
धैर्य्य? अहो प्रिय, नारी का यह
जीवन है धृति-मति-प्रतिमा,
पर इस का क्या हो ? मै तो हूँ–
आज बनी अति-गति-प्रतिमा ।”

१८१

यो कह हुई ऊर्म्मिला नीरव
प्रिय के कन्धे पे झुक के,
मानो आत्म-निवेदन लेने
लगा बलाएँ रुक-रुक के,
सलज, डबडबाती अँखियाँ भर-
आई, आँसू छलक पडे,
मानो कमल-दलो से आतुर
वे सीकर कण ढलक पडे,
आश्वासन से भरे लखन क
बचन, मौन से उलझ पडे,
फिर सहसा अभिव्यक्ति-प्रेरणा
के प्रसाद मे मुलझ कढे।

१८२

"प्रिये, जनक नन्दिनी ऊर्म्मिले,
तुम हो नित अविकारमयी,
तुम हो सग-दोष-रहिता, तुम–
पुण्य पवित्र विचार मयी,
यह सुन्दर ऐकान्तिक-आशिक
धर्म्म - समन्वय - विश्लेषण,
कर्म - अकर्म - विकर्म - वाद का,
प्रिये, तुम्हारा सुविवेचन,–
नित्य सत्यता मयी तुम्हारी
शुद्ध भारती कल्याणी,–
यह सब, मुझे, सर्व अशो मे–
स्वीकृत है, मेरी रानी।

१८३

वह तव नित-विद्रोह-प्रेरणा
है अतिशय कल्याण-मयी,
परिपाटी - उच्छेद - भावना
है जग-जन की त्राणमयी,
तत्सम्बन्धी सभी तुम्हारी
उग्र उक्तियाँ है अमला,
दोष रहित, सद्भावोत्प्राणित,
सभी युक्तियाँ है सबला,
'किन्तु एक है बात और भी—
उस पर तनिक विचार करो,
नैक सोच लो, माँ कैकेयी—
से यो तुम मत रार करो।

१८४

'कैकेयी माँ दूर देश की है,
वे है अनुभव शीला,
युद्ध-सन्धि मे प्रकट कर चुकी—
है वे निज निपुणा लीला,
उत्तर-पश्चिम से प्राची तक—
विस्तृत है उनका अनुभव,
इसीलिए उनके हिय मे है
आया एक भाव अभिनव,
है गौरव-काक्षिणी बडी माँ—
कैकेयी, यह है प्रत्यक्ष,
पर, इस बार, हुआ है उनके
गौरव का कुछ ऊँचा लक्ष्य।

१८५

आर्य्यो के उत्तरपथ-आगत
वैभव से वे परिचित है,
किन्तु आर्य-विस्तार विन्ध्य की
ओर बहुत ही परिमित है,
रह-रह कर कैकेयी को यह
दक्षिण पथ ललचाता है
बहुत दिनो से विन्ध्य-विजय का
सपना उन्हे सताता है,
इसीलिए, रानी, उन ने यह
ऐसी युक्ति मिलाई है,
निज सपना सच्चा करने की
घटिका वे ले आई है ।

१८६

आर्य राम त्रैलोक्य जयी है,
यह कैकेयी जाने है,
लक्ष्मण की कर्मठ निष्ठा को,
सुन्दरि, वे पहिचाने है,
केवल राम सपथ कर सकते
है इस अपथ विपिन-मग को,
बस हम ही कर सकते है यह
गौरवदान आर्य-जग को,
कैकेयी ने सोच समझ कर
रचा खेल यह सारा जब,—
सिवा खेलने के है बाकी
रहा कौन सा चारा अब ?

१८७

यह वरदान और आज्ञा तो,
प्रिये, औपचारिकता है,
राज भरत को, विपिन राम को,
यह सब सासारिकता है,
विपिन-गमन से ज्ञान-धर्म की
विस्तृत स्फूर्त्ति नई होगी,
अत मात की विजयोत्कण्ठा
की सपूर्त्ति नही होगी,
विपिन-गमन सास्कृतिक विजय स
केवल उत्प्राणित होगा,
वह मन-रजन, जन-दुख-भजन
सब जग—सम्मानित होगा ।

१८८

तुम मत समझो इस को केवल
कौटुम्बिक विवाद, रानी,
तनिक पुराणमयी आँखो से
इसको देखो, कल्याणी,
आज नवल इतिहास-पृष्ठ का
अभिनव श्रीगणेश होगा,—
उस पुराण का, जिसका नायक
सीता-पति रमेश होगा,
धार्मिक, सास्कृतिक, सामाजिक,
तत्त्व विचार सिखाने को,—
आर्य राम अवतीर्ण हुए है
जग को पन्थ दिखाने को ।

१८९

तुम कह सकती हो कि अवध से—
ही न ज्ञान क्यो फैलावे ?
कह सकती हो कि यदि बात यह—
है, तो हम क्यो वन जावे ?
किन्तु देवि, सदेश-प्रचारण
साधारण-सा काम नही,
शक्ति कहाँ ? जब तक कि साधना
जन मे आठो याम नही ?
राज-भोग-मय जीवन मे वह
ओज कहाँ, आदर्श कहाँ ?
चिन्तन-स्थिरता कहाँ ? कहो वह
विमल विचार-विमर्श कहाँ ?

१९०

आज हमारे कन्धो पर है
कितना महत् कार्य, रानी,
क्या अन्यथा सहज वन जाते,
अग्रज राम आर्य्य, रानी ?
इस स्वधर्म-सम्पूर्त्ति-अर्थ तो
कुछ सयम करना होगा,
अध्यवसाय, अध्ययन, जप, तप
मन-शम, दम करना होगा,,
यह है एक साधना, साधक—
सिद्ध आज दोनो तैयार
यह अज्ञान हटेगा, अब श्री
राम उतारेंगे भूभार ।

१९१

कर उठता है अवश हृदय यह
हाहाकार विलाप, प्रिये,
चौदह बरस, अवधि लम्बी है,
दुख का तौल न नाप प्रिये,
पर, तुम आर्य-नन्दिनी, विमले,
आर्य - वधू तप - विमण्डिता,
करुणामयी सुमित्रा माँ की
स्नेह-मूर्त्ति तुम अखण्डिता,
मुसका कर कह दो कि अजी, हाँ,
निर्म्मोही, जाओ, जाओ,—
ज्ञान-विराग मुझे न सिखाओ,
जाओ वन, जन-मन भाओ।

१९२

तुम ने मेरी माँ को देखा
केवल सुख की घडियो मे,
अब देखना महत्ता उनकी
तुम इन दुख की घडियो मे,
कैसे वे तुम पर नित प्रति बलि—
बलि जाएँगी, छिन-छिन मे,
तनिक देखना कैसे तुमको
जोहेगी निशि मे, दिन मे,
कैसे तुम्हे सान्त्वना दूँ मै ?
क्या कह के समझाऊँ मै ?
तुम सब कुछ जानो हो, तुम को
कैसे धैर्य्य बँधाऊँ मै ?

१६३

इतना तो तुम खूब समझ लो
कि तुम लखन की रानी हो,
हृदय-अश्म की तुम तरला रति,
मेरे मन की रानी हो,
जगल मे तव नाम-स्मरण से
सतत मम मगल होगा,
मेरे लिए अन्यथा वह तो–
जगल ही जगल होगा,
तुम कहती हो कि तुम चलोगी
मेरे सग सग वन मे,
किन्तु, देवि, मै राम नही, बस
और कहूँ क्या इस क्षण मे?"

१६४

"मेरे प्राण, मोह माया के
तुम मेरे सहारक हो,
तुम हो श्री गुरुदेव, ऊर्म्मिला–
के, तुम शुद्ध विचारक हो,"
यो लक्ष्मण के चरणो मे झुक
विमल ऊर्म्मिला बोल उठी,
मानो मूक मौन रसना, वर–
पाकर सहसा डोल उठी,
"यह उपदेश स्नेह मय दे कर
तुम ने मुझ को धन्य किया,
तुम ने मेरी चलित बुद्धि को,
अब एकस्थ अनन्य किया ।

१६५

धन्य धन्य तुम, धन्य राम है,
धन्या है जीजी मेरी,
धन्य नृपति, वन-वास धन्य है,
धन्य सास तीजी मेरी,

धन्य अरण्य, धन्य कोशलपुर,
जिस मे खेले राम-लखन,
धन्य यह घडी जब वन जाते
सीता - लक्ष्मण - राम - चरण,

धन्य सँदेस, धन्य यह जीवन
धन्य स्वधर्म, स्व-कर्म नया,
धन्य वह घडी शुभ भविष्य की
जब फैलेगा धर्म नया।

१६६

करो अर्चना नव प्रभात की,
हिरण्मयी उस प्रतिमा की,
वन मे अलख जगाओ, देखो—
अपलक, ललक झलक-झाँकी,

पटपरिवर्त्तक, काल-प्रवर्त्तक,
नर्त्तक, ज्ञान-प्रगति-दाता,
तुम सस्कारक, उपचारक तुम,
धर्म - कर्म - सद्गतिदाता,

दीप सँजोए, तुम वन जाओ,
तिमिर हरो, अज्ञान हरो,
यह भूभार उतारो, जन-गण—
मन को तुम सज्ञान करो।

१९७

कौन आर्य रानी न कहेगी
कि हाँ मुखेन कहो, स्वाहा !
राज, भोग, सुख, सब अर्पित हो
लक्ष्य-प्राप्ति के हित, आ हा !
इस स्वाहा ! स्वाहा ! में कितना
गौरव है, कितना बल है ?
आत्मदान की चरम वेदना—
में भी प्रिय, कितनी कल है !
मानवता की पाद-पीठ पर
तुम को न्यौछावर कर के,
रो लेगी ऊर्म्मिला तुम्हारी,
चुपके-चुपके, जी भर के ।

१९८

यहाँ वेदना देने, जग को—
निर्मल ज्ञान-दान देते,
तुम जाओ, चलती बेला, हँस—
मुझको प्राण-दान देने,
प्रिय, हिय निश्चय धडक उठे हैं,
सोच-सोच यह अवधि बडी,
मुरझाने लगती है आशा
सूने मग में खडी-खडी,
पर, इस से क्या ? बडा पुरातन
यह जीवन-युद्धस्थल है,
जाओ, मेरे प्राण, ऊर्म्मिला—
सदा तुम्हारी अविचल है ।"

१९९

"साधु, साधु, यह भला किया जो–
तुम ने यह अनुमति दे दी,
मुझ को नई स्फूर्त्ति दे दी औ'
सनिष्ठा की रति दे दी।"
यों आजानु भुजाओं में भर,
लखन-प्रिया, लक्ष्मण बोले–
"रानी, तुम ने आज हृदय के
मेरे सब बन्धन खोले,"
चुम्बन करते, हिय लिपटाते,
यों कह लक्ष्मण मूक हुए,
अथवा लखन-ऊर्म्मिला-हिय के
सहसा अगणित टूक हुए।

२००

एक क्षण होता है जीवन में, 'नवीन' ऐसा
जब सब व्यक्त भाव रुक-रुक जाते हैं,
भाव-अभिव्यक्ति शक्ति-हीन अबला-सी थक
गिर पडती है, नेत्र झुक-झुक आते हैं,
हृदय के वेदनानल की कुछ लपटों में
मानव भाषा के शब्द फुँक-फुँक जाते हैं,
मौन-विष के बुझे हुए वे मूक-हूक-तीर
बरबस हिय बीच भुँक-भुँक जाते हैं,
लडते-झगडते-अटकते अस्फुट शब्द
हिचकी के मिस टुक जाते टुक आते हैं,
हिचकियों-आहों के व्याज से शतियों के सब
शब्द-ऋण छिन ही में चुक-चुक जाते हैं।

२०१

एक क्षण आता है जीवन मे 'नवीन' ऐसा,
जब क्षुब्ध मौन पारावार लहराता है,
उमड आती है ऐसी बेबसी की लहरी कि
शब्द-दैन्य-भाव हिय बीच हहराता है,
व्यथित हृदय-तल मथित, थकित होता,
केवल निश्वास-मय घोष घहराता है,
कर्षण, घर्षण, अश्रु-वर्षण के ताण्डव मे
मौन वेदना का उत्तरीय फहराता है,
उस क्षण हृदय सिन्धु की उन लहरो मे,
सब शब्द कौशल वह अवश जाता है,
ढह जाता कृत्रिम भाषा का व्याकरण-भौन,
केवल तन्मय मौन, गौण रह जाता है।

२०२

कब कैसे आता है जीवन मे 'नवीन' क्षण,
जब घन रण ठन जाता है अपने आप ?
मौन-भाव, अभिव्यक्ति-भाव गुँथ-गुँथ जाते,
गोपनीयता के रण आँगन मे चुप-चाप,
बिन बोले-चाले, नयनो के झरोखो से झाँक—
झाँक झट तकने लगता है हृदय-ताप,
कभी आँसू बन, कभी रिक्त चितवन बन,
हिय की व्यथा छलकती है अतुल अमाप,
कौन वेदना-दानी रसज्ञ है जिसने दिया,
शब्द-पटु रसना को दान यह मौनालाप ?
यह मौन-भाव लीलामय का वरदान है ?
या कि यह केवल है एक मूक अभिशाप ?

२०३

सब बाह्य जग, सब अन्तर जगत, सब—
काल, सब देश मौन-मय बन जाते है,
काल-अशेषता, आकाश-अनन्तता मिल के,
एक होनी, मौन के वितान तन जाते है,
अहो-रात्रि धीरे-धीरे, गुप-चुप नाचते से,
दीखने लगते है जब साजन जाते है,
एक-एक निमिष निस्तव्ध, शब्द दीन हुए,
अनन्त अयुत युग बन-बन जाते है,
रसना, निस्तव्ध होती, कण्ठ ध्वनि-हीन होता,
मौन देव हिय मे मगन मन आते है,
पीतम की कण्ठ ध्वनि के कम्पन-संस्मरण—
कण, स्मृति-आकाश मे छन-छन आते है ।

२०४

कुछ ऐसी दाहकता होती है विरह की, कि—
हिय मे सहसा अनोखे दाग दगते है,
बोल चाल की रुझान मिटती अपने आप,
भाषण प्रवृत्ति-पु ज अवश भगते है,
हृदय-कुरगम तडपता है चुपचाप
जब कि व्यथा के तीखे बाण आ लगते है,
अग-अग सिहर-सिहर कॅप उठते है,
रोम-रोम अनबोली बिथा मे पगते है;
कथा भरे मौन नैन सैन, अनबोले बैन,
शब्द-रस-माधुरी को सहसा ठगते है
लगती ठगौरी बौरी भोरी-भोरी भावना को,
अलसित नयन मौन-भाव जगते है ।

२०५

"मेरी विमल ऊर्म्मिला को तुम
खूब प्यार कर लो, देवर,
कहाँ मिलेंगे चौदह वर्षों
तक फिर ये मधु-मधुर अधर?
पियो ऊर्म्मिला रानी का रस—
स्नेह आज अजलि भर-भर,
ओ निष्ठुर, ओ विकट धनुर्धर,
अहो हठी, मेरे देवर।"
करुणामयी जनकजा सीता
जब आकर यों बोल उठी,
तब उस मौन-उदधि में मानो
शब्द-मयी कल्लोल उठी।

२०६

लक्ष्मण-भुज-वेष्टिता ऊर्म्मिला
सकुच गई, लक्ष्मण झिझके,
व्रीडा रजित वे कपोल हो—
गए ऊर्म्मिला के निज के,
"बलि जाऊँ, दोनो ऐसे ही
बने रहो तुम कुछ क्षण को,
देवर, यों ही गोदी में तुम
लिए रहो अपने धन को,
'यह मेरा मातृत्व अस्फुटित
तनिक धन्य हो जाने दो
मेरी वत्सलता को, देवर,
तुम अनन्य हो जाने दो।

२०७

सती सुमित्रा माँ के जीवन
के दुख-सुख की गहराई,
नयनो से नापने निमिष मे
सीता आज यहाँ आई,
आज बलाएँ ले लेने दो
तुम दोनो की इसी तरह,
सकुचो मत, शीतल होने दो
नयन, ऊर्म्मिले, किसी तरह,
त्वम् अखण्ड सौभाग्यवती भव,
देवि, ऊर्म्मिले, कल्याणी,
अवधि-अन्त मे पूर्ण सुखी तुम
होगी, ओ बहिना रानी।

२०८

अच्युत सती राम-जाया की
तुम यह आशिष गृहण करो,
इस वियोग को, विमल ऊर्म्मिले,
धीर भाव से सहन करो,
समझाए भी नही मानते,
बडे हठी है लाल लखन,
बरबस, बहन, कर रहे है ये,
आर्य-पुत्र का भार-वहन,
कौन आज है सकल त्रिलोकी
मे, जो पद-नख पे इनके—
न्यौछावर सत्वर न करेगा
श्री, वैभव, सब गिन-गिन के?"

२०६

यो कहते-कहते भर आई
श्री सीता की आँखड़ियाँ,
मानो सीकर-कण अभिषिक्ता
हुई कमल की पाँखड़ियाँ,
सजल कमल-दल से जल ढल-ढल
अमल कपोलो पर आया,
ज्यो करुणा-कर्षण, हिय-तल से,
व्याकुल जल भर-भर लाया,
श्री सीता ने अपनी सजला
आँखें पोछी अचल से,
ज्यो धैर्य ने शान्त होने को
कहा भावना चचल से ।

२१०

लक्ष्मण ने सीता-चरणो मे
उठकर किया नम्र वन्दन,
ज्यो सदेह विश्वास कर रहा
शुद्ध भक्ति का अभिनन्दन,
सीता ने लक्ष्मण को कम्पन-
युत शुभ आशीर्वाद दिया,
ज्यो याचक को करुण कृपा ने
कम्पनशील प्रसाद दिया,
फिर सीता से मिली ऊर्म्मिला-
अमित शोक-तप्ता अरुणा,
ज्यो अखण्ड शक्ति मे सन्निहित
हो जाती गभीर करुणा ।

२११

लक्ष्मण, सीता और ऊर्म्मिला
दोनो के सँग यो निखरे,—
ज्यो मध्याह्न, उषा सन्ध्या को
लेकर, सग-सग बिचरे,
सीता और ऊर्म्मिला दोनो
भुज भर ऐसे चिपट गई,—
जैसे आशा और निराशा
रीझ परस्पर लिपट गई,
फिर धीरे से विमल ऊर्म्मिला
बोली छाती किए कडी,
"जीजी हृदय मसोस रहा है,
ना जानूँ क्यो, घडी-घडी।"—

२१२

'मै जानूँ हूँ, बहिन ऊर्म्मिले,
क्यो अकुलाता विकल जिया,
मै जानूँ हूँ कि क्यो तडपने—
लग जाता है, हाय, हिया,
बहिन, तुम्हारे हृदय-सिन्धु के
बडवानल की ज्वालाएँ—
मै जानूँ हूँ कितनी शोषक
है वे अति विकरालाएँ,
बस चलता तो मै न कभी यह
बुरी घडी आने देती,
बस चलता तो लखन लाल को
मै न कभी जाने देती।

२१३

नही शक्ति श्री राम स्वय की
जो कि रोक रक्खे इनको,
कौन कर सके है अजलिगत
इस दिन-मणि को, इस दिन को ?

मानो लूट चली मैं तुम को,
अनुभव करती हूँ ऐसा,
यही सोचती हूँ कि हाय, यह–
मेरा है अनर्थ कैसा ?

पर, क्या करूँ नही समझेंगे
ये लक्ष्मण समझाए से,
अपनो से ही जोर चले है,–
ये बन रहे पराए–से ।

२१४

जगती भी क्या याद करेगी
यह सनेह - सेवा - निष्ठा,
भ्रातृ-प्रेम की आज हो रही–
है, ऊर्म्मिले, नव प्रतिष्ठा,

यह वियोग-क्लिष्टा, हिय-रति से
श्लिष्टा, निष्ठामयी घडी,–
करने आई आज मधुकरी,
यह रघु-कुल के द्वार खडी,

भिक्षा दी दशरथ - कौशल्या–
श्री ऊर्म्मिला - सुमित्रा ने,
अपनी झोली भर-भर ली है
इस याचिका विचित्रा ने ।

२१५

श्री दशरथ ने रामचन्द्र सम
पुरुषोत्तम सुत भेट किया,
माँ कौशल्या ने सीता दे,
निज जीवन-सुख भेट किया,
पूज्य सुमित्रा, बहन ऊर्म्मिला–
ने जो कुछ दी है भिक्षा,–
वह तो स्वय, निवेदन को ही
है मानो अर्पण–शिक्षा,
बलि-वेदी-पथ की पगडण्डी
सकरी, ऊँची, नीची ,
पर, तुम ने तो आत्म-निवेदन
की परिसीमा खीची है ।

२१६

आत्मार्पण-भावना विमल की
तुम हो स्फूर्ति-मयी महिमा,
विगलित करुणा, व्यथा, वेदना
की तुम मूर्त्तिमती प्रतिमा,
यह महान् बलिदान तुम्हारा,
यह स्वाहा, यह न्यौछावर,
कहाँ मिलेगा ? यहाँ भरा है–
तुम ने गागर मे सागर,
सच कहती हूँ बहन, नही है
लेश औपचारिकता का,
इस बलिदान-सस्मरण मे है
काम न सासारिकता का ।

२१७

मँझली माँ न हृदय दे दिया,
तुम ने दे डाला जीवन,
वह जीवन-धन, न्यौछावर तुम
जिस पर होती हो क्षण-क्षण,
मैं लज्जा से गड जाती हूँ,
देख तुम्हारा यह बलिदान,
कितना आत्म-निमज्जन गहरा!
क्या ऊँचा बलिदान-विधान!
तुम जलती ही यहाँ रहोगी
सुलगाए सस्मरण-अनल,
किस मुँह से कुछ कहूँ तुम्हे मै,
ओ मेरी ऊर्म्मिला विमल?

२१८

मैं जाऊँगी अपने पियं के–
सँग, इस मे कुछ तो कल है,
पर तुम? हाय, लखन के आगे-
चल सकता किस का बल है?
तुम सँग होती तो कट जाते
लम्बे चौदह जीवन भी,
जगल मगल मय हो जाता,
खलता नही एक क्षण भी,
पर, लक्ष्मण है बडे हठीले,
चलता उन से किसका बस?
लाख स्ववश हो हम नारी, पर–
फिर भी है पुरुषो के वश।"

२१९

"अन्तर है श्रीराम चन्द्र मे,
जीजी, और सुलक्ष्मण मे,—
वही भेद जो कि है सिद्ध—गुण,
और साधना-लक्षण मे,
वह अन्तर जो उन दोनो मे
है, वह है तुम मे मुझ मे,
आर्य राम है सिद्ध, भावना
है मुमुक्षु रामानुज मे,
इसीलिए वे सकुचाते हैं
मुझे साथ ले चलने मे;
जीजी, है कल्याण इसी मे—
यहाँ अवध मे जलने मे।

२२०

मैं ने कहा, मुझे सँग ल लो
मेरा याँ कुछ काम नही;
तो बोले कि ऊर्म्मिले, मैं हूँ
लक्ष्मण, मैं श्रीराम नही;
मैं न कही हो जाऊँ बाधा
उनकी परम साधना की,
मैं प्रतिबन्धक कही न होऊँ
उनकी शिवाराधना की,
ठीक कहा है उन ने, जीजी,
तुम मे मुझ मे क्या समता ?
तुम हो त्रिगुणातीत भगवती,
मैं हूँ दुर्बलता, ममता।

२२१

अच्छा है, जीजी, तुम जाओ,
हिय मे गड्ढा करती-सी,
जाओ, अपने चिर-वियोग की
चिनगारी याँ धरती-सी,

जाओ, आज याद आते है
जीवन के सब मधुमय क्षण,
जाओ, वे देखो, आते है—
बालापन के सुसस्मरण,

ओ जीजी, देखो, वह माँ, वे—
तात-चरण, वे गुर्वाणी,
वे क्रीडाएँ, वे लीलाएँ,
वह तुतली-तुतली वाणी।

२२२

वह किलकारी भरी कण्ठ-स्वर—
लहरी, वह सुरम्य उपवन,
वह रोना, वह मचल रूठना,
वह हँसना, वह पुष्प-चयन,

वह माँ का दुलार, वत्सलता—
वह, वे उनके मृदु चुम्बन,
वह झुँझलाहट, जब होता था
दोनो का वेणी-गुम्फन,

माँ से यह झगडा कि ऊर्म्मिला
को चुम्मी दी, न दी हमे—
उस को ही दुलार करती हो,
अब समझी मै खूब तुम्हे।

२२३

फिर कल्याणमयी जननी की
वह मुसक्यान मनोहर-सी,
दोनो को गोद मे उठाना,
वह कम्पन-गति थर-थर सी,
वह सनेह की धार मौनमय,
माँ का वह अनबोलापन,
वे क्षण, हम दोनो का बाला–
पन का वह मृदु भोलापन,
यह निपटारा कि यह अमुक स्तन
जीजी का, यह है मेरा,
माँ का कहना, दोनो जीजी–
के है, बता कहाँ तेरा ?

२२४

फिर दोनो का हँस कर माता–
की गोदी मे छिप जाना,
फिर श्री पितृदेव के कन्धो–
पर चढना, फिर इतराना,
फिर उन से कुछ बात पूँछना,
फिर उनका कुछ समझाना,
साम छन्द का, उनके कहने–
से, फिर कुछ गायन गाना,
फिर उनकी वह तन्मयता, वह–
डुबकी, वह गति थिर, अचला,
फिर उन महामहिम योगेश्वर
की स्वप्निल आँखे सजला ।

२२५

जीजी, जीजी, तात चरण की
वह सागर गम्भीर गिरा,
फिर यज्ञायोजन, धनुभजन—
फिर, फिर वेदी अग्नि-शिरा,

फिर सवरण सभी बहनो का,
फिर वे सब सुख की बतियाँ,
श्वसुरालय मे स्नेह मयी उन
सासो की पुलकित छतियाँ,

वे रतियाँ सुख की, जीजी, जब—
मै—तू के बन्धन टूटे,
लुटे राम सीता से और
ऊर्म्मिला ने लक्ष्मण लूटे ।

२२६

ये सस्मरण धुएँ से आए
उठ स्मृति-नभ-थल भरने को,
क्या ये अलम् नही है हिय के
टुकडे-टुकडे करने को ?

इतना खेला, खाया, सुख से
प्रतिदिन सग-सग, सीते,
और आज तुम किए जा रही
यें सब राग-रग रीते ?

जीजी, त्रिगुण-विजयिनी, वरदे,
मुझ को थोडा सम्बल दो,
थोडी सी कल दो, थोडी-सी
आशा, थोडा सा बल दो ।

२२७

अब तक कभी नही समझा था,
कि यह वियोग-व्यथा क्या है ?
अब तक यही समझ रक्खा था,
जीवन एक मधु कथा है,
सीता और ऊर्म्मिला बिछुडे,—
असम्भावना-सी यह थी,
लखन ऊर्म्मिला पृथक् - पृथक् हो,
यह शका भी दु सह थी,
कौन जानता था भविष्य यह—
अमित हलाहल-मय होगा ?
किसे ज्ञात था यह भावी का
समय अश्रु-जल मय होगा?

२२८

अभी अभी ये कहते थे यह
कि तुम सुनो मेरी वाणी—
मधु-पीयूष मिले है जीवन—
रस मे सग-सग, रानी;
जीजी, यह सत्यता, नित्यता—
यह, हृदयगम आज हुई,
जान गई कितनी जल्दी सुख—
घटिका होती छुई-मुई,
सुइयाँ-सुइयाँ सी चुभ गइयाँ,
मेरे ही-तल मे, जीजी,
रम्य रमण-क्षण गए, वेदना—
व्यथा आज मुझ पर रीझी ।

२२९

जीजी, कभी-कभी घन वन मे
स्मरण मुझे भी कर लेना,
कभी-कभी अपने देवर के
हिय मे मम स्मृति भर देना,
आर्य राम के श्री चरणो मे
करना नित मेरा वदन,
तनिक सम्हाले रखना, है अति
उग्र सुमित्रा के नदन,
मेरे सेदुर की रक्षा तुम
घन-वन मे करती रहना,
हे तुम अच्युत सती भवानी,
हे मेरी अच्छी बहना।"

२३०

"ओ ऊर्म्मिले सलौनी, मरी
अनुजा, ओ लक्ष्मण-जाया,
जनक देव सम सिद्ध तपोधन–
के हिय की तुम मृदु माया,
अम्मा की तुम बडी लाडिली–
छोटी बेटी नेह भरी,
तुम लक्ष्मण-स्वामिनि, घन-दामिनि
तुम करुणा-रस-नेह भरी,
तेजमयी तुम, ओजमयी तुम,
परम तपस्या-भाव मयी,
रागमयी, वैराग्यमयी, तुम
समवेदना स्वभावमयी।

२३१

यह मुझसे मत कहो कि क्षण भर–
भी तुम मुझसे बिछडोगी,
हिय मे तुम्हे लिए जाऊँगी,
कैसे मुझसे पिछडोगी ?
वन-खण्ड मे, अरण्य गहन मे,
सदा बसोगी मम मन मे,
दुलराती डोलूँगी तुम को
मै निज हिय मे, वन-घन मे,
सन्ध्या के झुटपुटे समय मे,
हँस मुसकाती ऊषा मे,
सदा बलाएँ लूँगी मै तब
निज मन की मजूषा मे ।

२३२

तुम्हे छिपाए निज डिबिया मे,
मै वन-वन मे डोलूँगी,
मन की बात करूँगी तुम से,
मै गुप-चुप रस घोलूँगी,
लक्ष्मण-अग्रज बडे रँगीले
गहरा रग छानते है,
आर्य-पुत्र, ऊर्म्मिले, तुम्हारे–
हिय की व्यथा जानते है,
प्राणो से भी प्रिय लक्ष्मण है
उनको, यह तुम जानो हो,
उन के मौन सनेह-सिन्धु की
गहराई पहचानो हो ।

२३३

मुख से नही, नयन से बाते
करते है वे, री बहना,
खूब जानती हो तुम यह सब,
तुम से व्यर्थ अधिक कहना,
प्रात आज लखन जब बोले
कि वे सग जाएँगे वन,
तब वे यो देखने लग गए
मानो उफन गया जीवन,
रहे मौन, बोले न रच भी,
बस, आखे तैरती रही,
फिर ललाट की रेखाओ ने
हिय-विषाद-वेदना कही ।

२३४

खडे रहे लक्ष्मण आज्ञा के–
लिए देर तक राम-समक्ष,
पर, व्रश्चिक - दशन - पीडा से
भरा हुआ था उन का वक्ष,
फिर "अच्छा" यो कह कर, फिर से
वे विचार-तल्लीन हुए,
पर, लक्ष्मण के जाने पर वे
सहसा करुणा-दीन हुए,
मुख से निकला–"हाय ऊर्म्मिला!"
औ फिर हिय अवरुद्ध हुआ,
आँसू नही एक भी निकले,
मन तडपा, हत-बुद्ध हुआ ।

२३५

विचलित होती देख मुझे, वे—
सम्हल गए, फिर इक छिन मे,
बादल हटे, नेत्र चमके, रवि—
मानो दो चमके दिन मे,
तुम से, बहना, तुम से मै क्या—
कहूँ बात अपने मन की ?
मेर लिए बनी है क्या-क्या
यह मृदु मूरत लक्ष्मण की,
आर्य-पुत्र से नही पा सकी
हूँ प्रसाद माता-पन का,
पर मातृत्व उमडता मेरा
मुख देखूँ जब लक्ष्मण का।

२३६

यह समझो कि लखन है मुझको,
अधिक कोख के जाए से,
प्रियतर है वे मुझको अपने
निज के गोद-खिलाए से,
ज्यो सिहिनी जोहती रहती,
है अपना शावक चचल,
त्यो लक्ष्मण पर फैला दूँगी,
मै अपना दुकूल अचल,
आर्य-पुत्र की छत्रच्छाया
मे भय का कुछ लेश नही,
उन के साहचर्य मे, रानी,
कुछ आशका, क्लेश नही।

२३७

वर्ष, मास, दिन, रात, प्रात औ,'
सन्ध्या, त्रुटि, घटिका, पल, क्षण,
इन सब को अतिलघित कर, फिर
लौटेगे श्री राम, लखन,
बहन, तुम्हारी सीता भी, श्री–
रामचन्द्र की छाया-सी,–
अवधि अन्त मे अवध आयगी
'ब्रह्म-जीव बिच माया सी,'
वह देखो, भविष्य के कोने–
पर लौ-सी सुलगाए वह–
नन्ही आशा विहँस रही है,
हलकी ज्योति जगाए वह।"

२३८

"तुम मे शुद्ध दीर्घ दर्शन की,
जीजी, है सामर्थ्य बडी,
तुम भविष्य दृष्टा हो, मैं हूँ–
वर्तमान के बीच पडी,
नही दीख पडती है मुझ को
आशा की किरणे झिलमिल,
इसीलिए तो जला जा रहा–
है मेरा यह हिय तिल-तिल,
जब तुम कहती हो, भविष्य है
परम सुखद, चिर-मगलमय,
तब कुछ-कुछ कम हो जाता है
इस मन का यह जगल-भय,

२३९

मुझे नही दिखलाई पडती
भावी की स्वरूप - रेखा
मरा तो अवलम्ब बनी है
तब श्रद्धा अनूप-लेखा,
तुम कहती हो, इसीलिए तो—
वह भावी मगलमय है ?
यो तो, यह मेरा जीवन-थल
पकिल है, अति जलमय है,
राम-वल्लभा के वचनो पर
मेरा है विश्वास, बहन,
इसी सहारे पार करूँगी
अवधि-उदधि गम्भीर गहन।"

२४०

"क्यो कातर हो रही, ऊर्म्मिले,
मुझे न अधिक अधीर करो,
अपना वह विश्वास दिखा दो,
मेरी दुविधा-पीर हरो,
हम आर्यो के लिए, ऊर्म्मिले,
काल सदा नि सीमित है,
वह अशेष है, अन्तहीन है,
वह तो सदा अपरिमित है,
वर्त्तमान है कर्म-साधना,
भावी ही जीवन-फल है,
वही मुक्ति-निवार्ण, वही है,
त्राण, वही स्थिति अविचल है।

२४१

यह जीवन अनन्त है, रानी,
अन्त-वन्त है यह वनवास,
प्रेम-योग अच्युत, अनन्त है,
क्षण भगुर वियोग का त्रास,
सीता-राम, ऊर्म्मिला-लक्ष्मण
का सम्बन्ध अनन्त, अछेद्य,
पर वियोग का यह अन्तर है,
दुर्गम नही, नही दुर्भेद्य,
स्वय उठेगा यह अवगुठन,
होगा फिर सयोग-विहार,
क्यो छोटा करती हो मन को,
अरी ऊर्म्मिले, तुम इस बार ?

२४२

खूब ठीक तुम कहती हो है—
अवधि-उदधि गभीर गहन,
पर, तव तपश्चरण नौका है,
श्रद्धा है पतवार, बहन !
लक्ष्मण भैया की सस्मृति है
केवट, आशा धीर पवन,
अवधि-अन्त है, इस नौका का
तटवर्त्ती विश्राम भवन,
नौका - चालन - प्रेरणमय है,
सीता के आशीर्वचन,
तुम अवश्य सकुशल पहुँचोगी
सागर के उस पार, बहन ।

२४३

वन-जल-थल मे, अनिल-अनल मे
तुम होगी सँग-सँग मेरे,
लक्ष्मण के स्मृति-नभ-मडल को
सदा रहोगी तुम घेरे,
आर्य पुत्र के हृदय अतल मे
वत्सलता की झॉई - सी
चमक-चमक उछलोगी, रानी,
लक्ष्मण की परछॉई-सी,
यहॉ छोड कर तुम्हे, न समझो,
हम दम्पति सुख लूटेगे,
सब विहार-सुख इस कोसलपुर
मे ही पीछे छूटेगे।"

२४४

"तुम अरागिणी बन, वैरागी—
आर्य राम के सॅग जाओ,
इस विराग-अनुराग-रग मे
मुझको भी तुम रॅग जाओ,
जीजी, अपने ही हाथो से,
इकटक ज्योति जगा जाओ,
वरदे, मेरे आकुल हिय मे,
अपलक लगन लगा जाओ,
लगन लगाती, ज्योति जगाती,
हिय-मन्थन करती जाओ,
वन मे नवयुग का उद्घाटन
अभिनन्दन करती, जाओ।

२४५

अवध अँधेरी करती, वन मे—
उजियाला करती जाओ,
सीते, हल-सीता से पूरित
करती वन-धरती, जाओ,
भाषा, योग, ज्ञान, कृषि, यह सब
वन मे छिटकाती जाओ,
वन-वासिनियो की हिय-कलियाँ
तुम नित चिटकाती जाओ,
विमल वैजयन्ती सस्कृति की
वन मे फहराती जाओ,
राम-लखन सँग सरयू-लहरी-
सी तुम लहराती जाओ ।

२४६

"अजन-रजित चचल खजन—
मद-भजन इन नैनो मे,—
राम निरजन-रजन, घन-मन—
रण-व्यजन इन मैनो मे,—
जीवन-वरण, मरण-अपहरणा,
वन-वन-दर्शन-चाह भरे,—
हर्षण, वर्षण, आकर्षण की
कम्पन आह अथाह भरे,—
धैर्य्य-निकन्दन-क्रन्दन कर,
गुरु-जन-वन्दन करती जाओ,
रामानुगामिनी बन हिय मे,
तुम स्फुलिग भरती जाओ ।

२४७

थर-थर लहर-लहर अन्तर से
सर-निर्झर बह आने दो,
हहर-हहर झर-झर कर उसको
अपनी-सी कह जाने दो,
बह जाने दो तनिक धीरता,
तिनके-सी, मेरी जीजी,
वन जाओ, मम नेत्राजलियो—
से तुम कुछ भीजी-भीजी,
रोको मत अपने को, मुझ को,
आओ हम दोनो रो ले,
आओ जाती बेला थोडा-सा
यह अश्रु-रग घोले।"

२४८

भर भर आई चारो आखे,
झरझर बरबस बरस पड़ी,
सरस हो गई बन जाने की
वह अति दाहक अरस घडी,
सीता के वक्ष पर ऊर्म्मिला
झुकी सनेह समाश्रित-सी,
और ऊर्म्मिला के शिर पर झुक—
सीता गई निराश्रित सी,
विमल ऊर्म्मिला की भुज-लतिका
सीता का गल-हार हुई,
सीता की भुज वल्लरियाँ कुछ
शिथिल हुई, लाचार हुई।

२४६

लखन देखते रहे दूर से
नयनो मे विषाद भर के,
वे हो गए समाधि-मग्न-से
बीती बात याद करके,
इतने ही मे दाशरथी श्री
आर्य राम, नित धीर मना,
वहाँ पधारे गजगति से वे
पुरुषोत्तम गभीर मना,
छिटकाते अविचलित भावना,
धैर्य, तितिक्षा, क्षमता, बल,—
आग फूँकते, जीवन देते,
राम पधारे अचल, अटल ।

२५०

जिन के पग-डग पर डगमग—
डगमग भूमण्डल होता था,
जिनकी स्मिति-रेखा पर जग सब
अपनी सुधबुध खोता था,
जिनके भ्रू-विलास मे उद्भव,—
प्रलय नाचता रहता था,
जिनके अतल हृदय मे करुणा—
मैत्री-निर्भर बहता था,
पूर्णकाम, निष्काम राम वे
वहाँ पधारे, नेह पगे,
उन की श्री मुख-आभा से भव—
भय भागे, सब क्लेश भगे ।

२५१

राम,—श्याम तन, निरानन्द घन,
जन - गण - मन - रजनकारी,
राम,—मगन-मन-गगन - विहारी
भव - भय - दुख - भजनकारी,
राम,—खिलाडी, बारी बारी
दुख-सुख-खेल खिलाते वे,
राम,—रुलाते, राम,—हँसाते,
विष - पीयूष - पिलाते वे,
राम,—अमानी, अति अभिमानी,
निर्गुण—सगुण एक सँग वे,
राम,—सहारे, जग उजियारे,
राम,—अनेक-एक रँग वे ।

२५२

राम,—नही नर, एक चिरन्तन
मनन-पु ज हिन्दू-मन का,
राम,—एक उत्कर्ष - कल्पना,
इक आदर्श आर्य्य-जन का,
राम,—सत्य, शिव, सुन्दर भावो—
की कल्याणमयी झाँकी,
राम,—सच्चिदानद - भाव की
छवि नयनाभिराम, बाँकी,
राम,—विचार-विमन्थन-रत हिय—
का नवनीत मधुरिमामय,
राम,—नित्यतामय, - मगलमय
संतत सुन्दरता - सचय ।

२५३

राम,—उपद्रष्टा, अनुमन्ता,
भर्त्ता, भोक्ता, सर्वेश्वर,
राम,—विदेही, राम,—सदेही
राम,—सीयपति, परमेश्वर,
राम,—रमापति, त्रेतायुग की
सस्कृति की विभूति प्यारी,
राम,—त्याग, तप, जन रजन की
मगन लगन न्यारी, न्यारी,
राम,—शब्द वह जो कि चराचर
मे फैला है, गूँज रहा,
राम,—अखण्ड शक्ति वह, जिसकी
सत्ता फैली यहाँ-वहाँ ।

२५४

पुरुषोत्तम, सर्वोत्तम, तमहर,
रविकुल - कमल - दिवाकर वे,
राम पधारे, जन रखवारे,
अशरण-शरण, गुणाकर वे,
खडी हो गई दोनो बहने
हिय की दुर्बल त्रुटियाँ-सी
फिर ऊर्म्मिला राम चरणो मे
ढुली गग - जल - लुटिया - सी,
कोमल, दृढ कर-पत्र राम के—
छुए ऊर्म्मिला के शिर पे,
मानो सुस्थिरता छाई हो
विकल भावना अस्थिर पे ।

२५५

रसना हिली राम की, निकली—
आशीर्वादमयी वाणी
"तपस्विनी भव, चिर सौभाग्यवती भव
त्वम् भव कल्याणी,"
सजल नयन तब उठी ऊर्म्मिला
आँसू पोछे सीता ने,
धीरज दिया राम ने,
करुणामयी राम-परिणीता ने,
सुधृति गृहीता हुई ऊर्म्मिला,
शान्त हुई, प्रकृतिस्थ हुई,
हृदय हुआ उपरमित, और सब
चित्त-वृत्ति विरतिस्थ हुई।

२५६

"देवि, ऊर्म्मिले, कर्त्ता कितना
है स्वतंत्र निज कृतियो मे,—
है परतन्त्र, व्यक्ति कितना निज—
कर्मो की आवृतियो मे,—
किस सीमा तक स्व-परिस्थिति से
कर्त्ता पुरुष नियन्त्रित है
किस सीमा तक वह नैसर्गिक
नियमो से अनुतन्त्रित है,—
किस सीमा तक कर्मी करता
कर्मो का दायित्व-वहन,—
है ये प्रश्न निगूढ, ऊर्म्मिले!"
बोले यो श्री राम वचन।

२५७

"कौन जानता है कैसे यह
हुआ प्रवर्त्तित घटनाचक्र ?
कौन जानता विधि ने खीची—
भाग्य रेख सीधी या वक्र ?
आज दोष-गुण के वितरण का
अवसर नही, बहू रानी,
इस क्षण वस्तुस्थिति - स्वीकृति मे
ही है मगल, कल्याणी !
दु ख, वदना, व्यथा, दाह औ'
चिन्ता, क्षोभ, वियोग - अनल,
यह सब तुम ले लो, कल्याणी,
फैलाए अपना अचल ।

२५८

जीवन मे, वरदान समझना
अभिशापो को ही जय है,
युद्धस्थल मे तनिक हिचकना
ही मानवता का क्षय है,
जीवन, मरण, दु ख, सुख जो कुछ
मिले उसी का स्वागत है,
भय किसका, जब यह सब ससृति
अ गल-चरण - शरणागत है ?
सुख दुख तो स्वभाव,—इन्द्रिय-गुण—
वशवर्त्ती माया मय है,
भय ?-भय तो इस कातर मन का
केवल छाया-भ्रम-भय है ।

२५९

यज्ञाहुति की पुण्य भस्म ही
से विभु ने यह सृष्टि रची,
यज्ञाहुति से ही, जग मे जन,
गण-हिताय यह वृष्टि मची,
देवि, जानती हो यज्ञाहुति ?
वह क्या है ? क्या है वह यज्ञ ?
शुद्ध यज्ञ किस को कहते हैं
श्री विदेह सम मुनि तत्वज्ञ ?
ये तिल-घृत—इन्धन—आहुतियाँ
है विडम्बना यज्ञो की,
प्रचलित यज्ञो की परिपाटी
है प्रवचना यज्ञो की ।

२६०

स्रष्टि रची प्रभु ने निर्गुणता—
की अपनी आहुति दे के,
जगत रचा माता ने अपने
हिय की रुधिराहुति दे के,
आत्म-दान-सेवा की यज्ञा—
हुतियो ही से यह जग है,
यज्ञ-भाव से मुख मोडे वह
आत्म-प्रवचक, जग-ठग है,
उसी यज्ञ का निठुर निमन्त्रण
ले कर आया है यह क्षण,
तुम्ही बता दो, बहू, क्या करे ?
घर बैठे या जाएँ वन ?

२६१

शुद्ध यज्ञ है—सर्वभूत-हित-
रत हो कर जीवन देना,
शुद्ध यज्ञ है—जग-हिताय सब
अपना तन, मन, धन देना,
शुद्ध यज्ञ है—जग की सेवा,
तत्लीना, चिर मुक्ति मयी,
शुद्ध यज्ञ है—आहुति देना,
देह - भावना - भुक्ति मयी,
प्राण-यज्ञ तो प्राण-दान है
निज आदर्शों की धुन मे,
आत्म-यज्ञ है—लय हो जाना
अगुण-सगुण-गुण-निर्गुण मे ।

२६२

किरणो की अजस्र आहुतियाँ,
है दे रहे अशुमाली,
मेघ उठे, धाराएँ बरसी,
सरसी, हरषी प्रति डाली,
भू-नक्षत्र-सौरमण्डल द-
आहुतियाँ आकर्षण की,—
कब से झाँकी दिखा रहे है
शुद्ध यज्ञ के दर्शन की !
इसीलिए कहते है प्रभु ने—
सकल विश्व सह-यज्ञ रचा,
बन सह-यज्ञ स्वय जगती मे
लीलामय सर्वज्ञ नचा ।

२६३

अणु-अणु से, कण-कण से क्षण-क्षण
यज्ञ-भाव ये उमड रहे,
प्राण-दान, आत्मार्पण के ये
मेघ घनेरे घुमड रहे,
लघुता कहाँ ? स्वार्थपरता वह-
कहाँ ? कहाँ सकुचित व्यथा?
सचय कहाँ ? ग्रहण कैसा ? जब–
अपरिग्रह की यहाँ कथा !
इस आहुतिमय, आत्मदान मय,
विमल यज्ञ-पूरित जग मे,–
कैसे बैठ रहे हम, अपना
बिना दिए कुछ, इस मग मे ?

२६४

यह वन-गमन प्रथम आहुति है
मानवता के चरणो मे,
यह तो छोटा सा अथ है
जन-सेवा के उपकरणो मे,
जो कुछ लिया अभी तक उसका
यह कृतज्ञता-ज्ञापन है,
आगे की सेवाओ का यह
प्रथम चरण-सस्थापन है,
लक्ष्मण भी जाएँगे वन, है–
यही व्यथा अन्तरतर मे,
मेरी शक्ति नही कि रख सकूँ,
मै लक्ष्मण को इस घर मे ।"

२६५

"आर्य, सिधारो अपने सँग ले
जीजी को, ले इन को भी,
मै कभी न वन जाने देती
एकाकी इक छिन को भी,
मेरी जीजी है रघुकुल की,
श्री, विभूति, लज्जा, करुणा,
आर्यो की वे है धृति, मेधा,
क्षमा, कीर्त्ति, सेवा अरुणा,
इस प्रसून को लिए, अकेले
जाने देती मैं न कभी,
हठ करती, चाहे फिर होते
क्षुब्ध, कुपित गुरु देव सभी।

२६६

आर्य, त्वदीय छत्र-छाया मे
रच मात्र भी भीति नही,
मगल ही मगल है, मेरे—
हिय म शुद्ध प्रतीति यही,
सीता-रमण राम के सँग-सँग
दाहक भव-भय-भीति कहाँ ?
द्वन्द्व - विमुक्ति वहाँ, दृढता स्थिर,
ममता, निर्भय-नीति वहाँ,
आशका, शका, निर्बलता,
आकुलता का त्राम नही,
भीति-भावना आ सकती है
कभी आप के पास कही?

२६७

"आप सिधारे, कोसल जन-पद
को अनाथ करते जाएँ,
अटवी को, अटवी के जन-गण—
को, सनाथ करते जाएँ,
यह अज्ञान-भार भूमण्डल—
का, इसको हरते जाएँ,
अलख जगाते, लगन लगाते,
दीप शिखा धरते जाएँ,
लिखते जाएँ इतिहासो के
पृष्ठो पर यह प्रगति-कथा,
हरते जाएँ मानवता की
यह जडतामय अगति - व्यथा ।

२६८

और क्या कहूँ ? आर्य, जानते—
है अन्तर का कोलाहल,
छिपी आप मे नही, देव, यह—
चित्त-वृत्ति मम दोलाचल,
इधर-उधर मे झूल रही हूँ,
अस्थिरता के झूले मे,
उडी जा रही हूँ तिनके-सी
पड कर मोह-बगूले म,
पर, हे आर्य, आत्म आहुति की
यह घटिका यदि आई है,
तो मै बाधा नही बनूँगी,
श्री रघुवीर दुहाई है !"

२६९

सुन कर वचन ऊर्म्मिला के श्री—
रघुवर धीर उमड आए,
उनके गहन नयन-अम्बर मे
कुछ-कुछ मेघ घुमड आए,
सीता, राम, ऊर्म्मिला, लक्ष्मण
गहरे पैठ गए जल मे,
सम्हले राम, अन्यथा होता
निश्चय आप्लावन पल मे,
उसी समय, सब के नयनो मे
पडी सुमित्रा की झाँई
अथवा उस क्षण वहाँ सुमित्रा
माता नौका-सी आई ।

२७०

सब ने चरणो मे वन्दन की
श्रद्धाजलियाँ अर्पण की
वृद्धा श्रद्धा को नव विश्वासो ने
भेट समर्पण की,
झुके देर तक राम सुमित्रा
माता के श्री चरणो मे,
मानो नवधा भक्ति लग गई
पद - सेवा - उपकरणो मे,
उठा राम को हृदय लगाया
स्नेह विह्वला माता ने,—
मानो दिव्य चरित अपनाया
हो पौराणिक गाथा ने ।

२७०

राम सुमित्रा के वक्षस्थल
पर शिर रख यो व्यक्त हुए—
मानो लघु चापल्य-भाव सब
वत्सलता-अनुरक्त हुए,
पूज्य सुमित्रा माता ने ली
कई बलाएँ तन्मय हो,
ज्यो प्राचीन-नवीन विचारो—
मे सघटित समन्वय हो,
एक हाथ से खीच हृदय से
लिपटाया सीता को यो,
सन्ध्या ने अपने हिय मे हो
खीचा दोपहरी को ज्यो ।

२७१

इधर-उधर सिय-राम, सुमित्रा—
माँ उन के मध्यस्था थी,
मानो यौवन-स्मृतियो से घिर
बैठी वृद्धावस्था थी,
अथवा ऊषा और प्रात बिच
रेखा-सी धूमिल तम की
किवा दो गतियो के अन्तर
मे वह श्वास परिश्रम की,
सीय-राम के मध्य सुमित्रा
यो शोभित हो गई भली
ज्यो दो चचल मायाओ को
सग लिए करुणा निकली ।

२७२

अचल पकड, दृगचल नत कर,
शरमाए, कुछ हिचके से,—
कुछ आतुर से, कुछ गभीर से,
कुछ-कुछ मन मे झिझके से—
आर्य राम बोले धीरे से
वचन करुण-रस लिपटाने,
ज्यो सकुचित कृतज्ञ भाव वह,
बैठा हो कुछ सुलझाने,
एक-एक शव्दो मे उमडी
आतुरताए कई-कई,
धीर सुमित्रा माँ की स्मृतियाँ
मानो जागी नई-नई।

२७३

"तुम से कहते सकुचाता हूँ—
कुछ, हे तपस्विनी माता,
तुम ने छुटपन से ही धृति-मति
दी है, मनस्विनी माता,
बैठ तुम्हारी गोदी कितना—
यह दुलार रस पान किया,
माँ, तव आँगन मचल-मचल नित
वत्सलता का दान लिया,
रज-रजित मुख तुमने चूमा,
दूध पिलाया ललक-ललक,
हम सब को जोहता रहा हैं
तव वात्सल्य सजग, अपलक।

२७४

धूल भरे, खिसियान भरे, ये—
पग-रगडते राम-लक्ष्मण,—
आपस मे नित उलझ-सुलझते
लड झगडते राम-लक्ष्मण,—
'राजा बेटा राम' तुम्हारा
औ तव 'बडा हठी' लक्ष्मण,
आज तुम्हारे द्वारे आया
दिखलाता कौतुक-लक्षण,
अलख जगाते जोगीडो की
सब सज-धज साजे आए,
भीख माँगते, दौडे अपनी—
माँ के दरवाजे आए ।

२७५

तुम अजस्र दानिनी, जननि, है—
बडे भिखारी हम दोनो,
नित्य-नित्य भिक्षा लेते हैं,
पारी-पारी हम दोनो,
अबकी लेने भीख तुम्हारी
हम दोनो सँग-सँग आए,
हे माँ देवि, तुम्हारे भिक्षुक
देखो तो क्या रँग लाए,
लज्जित हूँ, अति लज्जित हूँ, माँ,
क्या कह दूँ मै, क्या न कहूँ,
श्री चरणो मे विनय करूँ या,
माँ केवल म मौन रहूँ ?

२७६

मॉ, कितना यह आत्मनिरीक्षण,
जीवन का कितना अनुभव,
तव मानस-मडल मे कितना
एकत्रित है लय-सभव,

तुम ने अपनी इन ऑखो से
क्या-क्या नही देख डाला ?
देखे कितने पट-परिवर्तन,
देखी स्थितियॉ विकराला,

जीवन मे मौलिकता है, या—
है केवल चर्वित-चर्वण ?
तुम ही जानो हो कैसा है—
माता, यह घटनाकर्षण ।

२७७

मॉ, तुम चरम तपस्या-रूपा,
परम भागवत भक्तिमयी,
आत्मसमर्पण की तुम प्रतिमा,
वत्सलता अनुरक्तिमयी ,

जगद्धात्री तुम करुणामयि,
सृष्टि-पालिका अविचल हो,
समतामयी, समन्वयरूपा,
दुख-सुख मे तुम अविकल हो,

जननि, तुम्हारी मधुर गोद मे
सुख—सपना दिन रैन रहे,
कितनी गहरी-गहरी बाते
तव अनबोले नैन कहे ।

२७८

जननि, अभी तक गूज रही है
वे लोरियाँ कि 'मेरे बाल,
देखो वह निदिया आई है
तुम्हे खिलाने, मेरे लाल,
चन्दा मामा चुम्मी देने
आया होकर हाल-बिहाल,
सो जाओ मेरे लालन, मम—
गोदी को तुम करो निहाल',
एक बार फिर वह स्वर गा दो,
आज सुला दो सब सशय,
अपना अचल फैला दो, माँ,
कर दो हम को अजय, अभय।

२७९

ठुमुक-ठुमुक तुम आज नचा दो,
अपने ये नन्हे शिशु द्वय,
कर दो इनके चरण चलित तुम
आदर्शो की ओर अभय,
हिय थिरका दो, मन थिरका दो
कर दो हम सब को तन्मय,
अलख-झलक झाँकी-दर्शन का
हिय में तुम भर दो निश्चय,
ये जाए कोख के तुम्हारे
आज हुए है यौवन-मय,
देखो, अपने शिशुओ की यह
क्रीडा दृग मे भर विस्मय।

२८०

खेल अनेक खिलाने वाली,
लाड-लडाने वाली, माँ,
हिय हुलसाने वाली, हँस-हँस,
गोद चढाने वाली, माँ,
आज गोद से खिसक-खिसक कर
भाग रहे है बालक ये,—
यह भी आँख-मिचौनी देखो,
माँ, सनेह प्रतिपालक हे ,
अपने इन प्यारे वत्सो को
ओझल होने दो कुछ क्षण,
इसी व्याज से बहलाने दो
इन बच्चो को अपना मन ।

२८१

हे निष्ठुर जग की कोमलता,
हे सनेह की दीप-शिखे,
हे वत्सलता की स्रोतस्विनि,
हे जीवन-मगलाम्बिके,
विश्व-सृजन की तीव्र वेदने,
जीवन धारण की सक्रान्ति,
मानवता के शैशव-मानस
की तुम, हे कल्लोलिनि भ्रान्ति,
तुम विषाद की मूक-व्यथा हो
चपल भाव की हे विश्रान्ति,
हे माँ, हे ससार जननि हे—
भ्रान्त जगत की चिर निर्भ्रांति ।

२८२

हे एकाक्षर नाम धारिणी,
माँ, तुम हो कल्याणमयी,
प्रथमोच्चारण की प्रणोदना
की हो तुम चाहना नयी,
तुतली असस्कृता वाणी की
हो तुम मुग्धा गुण गरिमा,
आद्य शब्द सस्फुरण भाव की
तुम हो मूर्त्तिमती महिमा ,
मुसकाते अधरो से 'माँ' का
तरल लार-सा नाम चुआ,
थर-थर, लहर सिहर, अन्तर से
उद्गीरित यह नाम हुआ ।

२८३

माँ,——शैशव की अश्रुधार से
भरी मटुकिया सरस बनी,
माँ,——खीझे शिशु के रज-रजन
से जिसकी सब गोद सनी,
क्षणिक हास के मृदु विलास से
उत्फुल्लिता सलौनी, माँ,
दुग्ध दान कर्त्री, पयस्विनी,
मधुरा, निरी अलौनी, माँ,
माँ,——प्रबोध दायिनी, सुसस्कृति–
शिक्षा की गुर्वाणी,——माँ,
माँ,——बालक की शब्द-दीनता
की अतुला मृदु वाणी,–माँ ।

२८४

अश्रुसनी, मुसक्यान कनी,
परिहास अनी, विगलित करुणा,
जग सचालक के हिय की तुम
वत्सलता–आभा अरुणा,
मेघ खण्ड सी अमला, सजला,
सजग दामिनी सी चपला
मातृ-धर्म पालन मे माँ, तुम–
अचल हिमाचल सी अचला,
गहर गभीर मृदग घोर-सी
सेवा मूर्त्ति सुक्षमता-सी
सतत रक्षिका नभ मण्डल-सी
सलग्ना हो ममता-सी ।

२८५

सध्या क अश्वत्थ वृक्ष की,
डाली-सी तुम कूजित हो,
मुखरित, उन्फुल्लित प्रभात की
प्राची-सी तुम पूजित हो,
कितन पछी अभय गोद मे
रैन-बसेरा करते है,
प्रात, तुम्हारे स्मृति अम्बर मे
कितने आन विचरते है,
साझ-प्रात, दिन रात, तुम्हारा
ही तो एक सहारा है,
भला-बुरा, जैसा है वैसा
बालक सदा तुम्हारा है ।

२८६

जननि, तुम्हारी मधुर लोरियाँ
जीवन-गायन गाती हैं,
कितनी करुणा, वत्सलता यह
कितनी व सरसाती हैं,
यह अभिशाप जगत सृजनन का
शुभ प्रसाद तुम ने माना,
पूर्ण आत्म-उत्सर्ग भाव को
ही तुम न सब कुछ जाना,
जीवन के उत्क्रान्ति काल की
माँ, तुम हो अति मौन व्यथा,
शत-शत शताब्दियो क पट पर
लिखी तुम्हारी अमिट कथा।

२८७

तुम से अधिक व्यथा तत्त्वो का
और कौन है ज्ञाता, माँ ?
तुम हो करुण स्वरूपा, तुम हो
मौन वेदना-लाता, माँ,
तुम हो महद् ब्रह्ममयि, जननी,
तुम हो ईश भक्ति-रूपा,
तुम जग की आधारभूत हो,
तुम हो आदि-शक्ति रूपा,
तुम हो जीवन मरुस्थली की
कुसुमित लतिका रस-भरिता,
तुम जीवन उछालती-सी, माँ,
अवतरिता सरिता त्वरिता।

२८८

मॉ के बिना असम्भव है जग,
सूना है, तम-शोकित है,
मॉ की नेह-दीप-बाती से
सब जग-मग आलोकित है,

मॉ के झीने अचल मे है
टॅकी हुई जीवन-स्मृतियॉ,
मॉ की मीठी गोदी मे है
उलझी शैशव की कृतियॉ ,

क्यो हो इतनी ऊॅची तुम, मॉ,
भेद तनिक यह खोलो तो,
किस पुनीत माटी से तुम को
गढा ईश ने, बोलो तो ?

२८९

मॉ, मै हूॅ तव सुख का तस्कर,
वहू ऊर्म्मिला का दाहक,
मानो मै बन कर आया हूॅ
व्यथा-वेदना का वाहक,

पर लक्ष्मण को अवध छोडना
यह तो कार्य कठिनतम है
लक्ष्मण हठी जनम के है, यह
जानो हो, माता मम हे !

वह लक्ष्मण का अतुल प्रेम, वह—
कठिन नेम तुम जानो हो,
लक्ष्मण के आदर्श भाव को,
जननी, तुम पहचानो हो ।

२६०

लोग कहेंगे त्याग राम का,–
शासन-सिंहासन छोड़ा,
लोग कहेंगे क्या निस्पृहता !
राजभोग से मुख मोड़ा,
पर, यह कितने जानेंगे, माँ,
कि है त्याग की परिसीमा,–
जहाँ, राम के त्यागभाव की
गति भी नहीं पहुँचती, माँ,
वह ऊर्म्मिला का मुख-मण्डल
और तुम्हारे, जननि, चरण,
रामचन्द्र के त्याग-भाव को
लज्जित करते हैं क्षण-क्षण ।

२६१

राम नहीं, न यह सीता भी,
लखन न, नहीं तात दशरथ,–
परम पूजनीया कौशल्या
माँ भी नहीं, न बन्धु भरत,–
कोई नहीं पहुँच पाते हैं
जहाँ तुम्हारा आसन है,–
वहाँ–जहाँ ऊर्म्मिला बहू के,
करुण-भाव का शासन है ,
यह ज्वलन्त बलिदान तुम्हारा
यह लोकोत्तर त्याग, जननि,
और कहाँ मिल सकता है यह
ध्रुव विराग-अनुराग, जननि ।

२६२

करुणा, दया, तितिक्षा, सेवा,
ये सब तव हिय-संगिनियाँ,
मौन-वेदना, धीर-सान्त्वना
हैं तव तन-मन रंजिनियाँ,
तुम विरागिणी, भक्ति-रागिणी
तुम हो मूर्त्तिमती क्षमता,
तुम सनेह-रस-धारा हो, माँ,
तुम हो वत्सलता, ममता,
कैसे तुम से कहूँ कि वन को
जाने दो सिय-राम-लखन ?
तो नहीं कहूँगा, माँ, हो
चाहे पितुराज्ञा-लंघन ।

२६३

यदि तुम चाहो, तो पितुराज्ञा
क्या ? जगपति की आज्ञा को–
राम करेगा लंघित, सब को,
दश सहस्र पितुराज्ञा को,
जननी तव संकेत मात्र पर
ये सब धर्म-कर्म-बन्धन,–
उन्मूलित कर सकता हूँ मैं,
कर सकता इनका भंजन ।"
"बस, बस, मेरे वत्स," सुमित्रा–
माता तब यों झट बोलीं,
ज्यों आतुर अभिव्यक्ति-भाव ने
निज स्वर-मंजूषा खोली ।

२६४

"तुम ने मुझे निहाल कर दिया,
मेरे लाल, राम मेरे,
सूने मानस-नभ-मडल के,
तुम नव मेघ-श्याम मेरे,
धन्य हुई पाकर मै इतना—
यह विश्वास तुम्हारा लाल,
पर तुम यह क्या कहते हो, हे—
मेरे प्यारे भोले बाल ?
यह अगाध तव भक्ति—भाव, यह—
प्रेम-नेम-विश्वास परम——
बलि जाऊँ, मेरे हिय को है
पहुँचाता सुख-शान्ति चरम।

२६५

अर मै कैसे कहूँ, कि तुम
पितुराज्ञा उल्लघित कर दो ?
कैसे कहूँ धर्म पालन से
अपने को वचित कर दो ?
भवितव्यता अमिट है, यह वन—
गमन राम का, लक्ष्मण का,
पालन तो निश्चय होगा ही,
सुत तव तात-चरण-प्रण का,
हम ? मै, बहू ऊर्म्मिला, जीजी—
कौशल्या, सब सह लेगी,
छाती पर पत्थर रख कर इस
अवधि-अन्त तक रह लेगी।

२९६

कह लेगी हम सब आपस मे,
सब अपने जी की बाते,
सह लेगी हम ज्यो-त्यो दुखकी
सब तीखी-तीखी घाते,
तुम्हे रोक रखना, हे लालन,
है यह चरम स्वार्थ-परता,
वह तो है कायरता, वह है—
नव - सन्देश - निरादरता,
करो गमन वन, बन जोगी तुम
निर्जन-विचरण करो भले,
तव अनुगमन-करण लक्ष्मण के—
मन की दुविधा हरो भले।

२९७

वह सुनसान तान सुन पडती
है क्रन्दन के गायन की,
वत्स राम, होने दो वन मे
तुम लीला रामायण की,
इधर अवध मे, करुण रुदन का
राग उठे तो उठने दो,
गुरुजन-मातृ-पितृ-हृदयो की
सञ्चित निधियाँ लुटने दो,
जुट आने दो आज भीर तुम,
करुणामय सन्तापो की,
छिटकी है क्या छटा आज यह
जगपति के अभिशापो की।

२६८

किसने भेद वनाए है ये
जग मे गायन-रोदन के ?
दोनो ही तो हिय मन्थन के–
फल है, व्यथा-प्रणोदन के,
गायन सगुण, रुदन निर्गुण है,
दोनो ही मे पीडा है,
दोनो ही है करुणा-रंजित,
दोनो मे रस-क्रीडा है,
गायन मे स्वर-गुण-बन्धन है,
क्रन्दन मे है निर्गुण मुक्ति
हिय-विलाप ही से अभिभूता
होती है गायन की युक्ति।

२६९

तान गीत की बँधी हुई है,
गायन है स्वर-दामोदर,
क्रन्दन-बन्धन हीन सदा है,
बहता मुक्त रुदन-निर्झर,
स्वर-लहरो की सीमाओ से,
रोदन-सर निर्मुक्त सदा,
गायन की वह प्रकृत अवस्था
नि सीमा-सयुक्त सदा,
राम ललन मन हरण, आज है
स्वागत इस क्रन्दन-क्षण का,
स्वागत है रोदन का,—गायन
के इस जनक विलक्षण का।

३००

जिस अन्तर से तुम-रिपुसूदन—
लक्ष्मण-भरत-गीत निकला,
उस मे क्रन्दन-व्यथा भरी है,
जो है अति अतीत, विकला,
मै यह कैसे भूलूँ, लालन,
कि तुम आँसुओ के फल हो,
दाहक प्रबल निदाघ-प्रतीक्षा—
के तुम मम शीतल जल हो,
बिना रुदन के कब निकला है
गायन फूटे कण्ठो से ?
वह तो सदा बहा है केवल,
दुख के लूटे कण्ठो से।

३०१

राम, तुम्हारी मधुर कण्ठ-ध्वनि,—
इस के सुनने के पहले,—
कितने रोने रोये, पाया—
तब तुमको उनके बदले,
पाकर तुम्हे निहाल हुई हम
माँएँ, दुख भूली अगले,
पर अँसुओ से सिचे-खिचे हो
तुम मम गायन-स्वन, पगले,
करुणा की गहराई से हूँ
लाई तुम्हे उठा कर मै,
उसी गहनता मे पाऊँगी
तुमको आज लुटा कर मै।

३०२

जो क्रन्दन मे गायन, गायन
मे क्रन्दन अनुभूत करे,–
सत्-विद्, तत् -विद्, चिदानद-विद्
वे ही है अवधूत खरे,
तुम निर्जन मे जनपद देखो
भोग त्याग मे तुम देखो,
सर्वेश्वर समझो, नि साधन–
वन-वासी कर अपने को,
हम माँएँ भी इस क्रन्दन मे
गायन-अनुभव कर लेगी,
नव विरहानल को, चन्दन, सम,
हम निज हिय मे भर लेगी।

३०३

मम मन मे शून्यता, रिक्तता,
एकाकिनी व्यथा छाई,
सूनी-सूनी सी लगती है,
राम, अवध की ठकुराई,
निरवलम्ब आधार-शून्यता,
देखो, जीवन मे आई,
चौथेपन मे स्वावलम्ब की
क्या ही यह लकुटी पाई!
तुम ने खूब परीक्षा लेने–
की ठानी है, रामललन,
नई वयस मे वन जाने की
निकली है यह नई चलन।

३०४

योगायोग हुआ यह कैसा ?
इस मे है कल्याण चरम,
सम्भवत हो इसी व्याज से,—
मानवता का त्राण परम,
बुद्धिग्राह्य है यह सब, लालन,
पर हिय मे है मूक व्यथा,
यह वियोग पैदा करता है,
मन मे एक अचूक व्यथा,
सीता-राम-लखन बिन चौदह–
बरस ?——तडप जाता है जिय,
लाख–लाख समझाने पर भी
टूक-टूक होता है हिय ।

३०५

इसका क्या उपाय है ?
माता का यह हृदय विचित्र बडा,
सदा धडकता ही रहता है
कर लो चाहे खूब कडा,
तुम्हे नही रोकूँगी, जाने–
दूँगी मै निर्जन वन मे,
राम, कहो तो, माता हूँ या
निपट राक्षसी, इस क्षण मे ?
रे तू माँ के हृदय, विरोधो–
का है तू आगार, अरे,
रे, पसीजते पत्थर, धिक-धिक,
तेरा निष्ठुर प्यार अरे ।

३०६
प्यार बडा, सत्कार बडा, यह
लाड, दुलार बडा कर के,—
तुम्हे विपिन मे भेज रही हू
मै हिय से झगडा कर के,
वत्स, सिधारो तुम, मै हिय से
यहाँ अकेले लड लूँगी,
जैसे-तैसे मै निष्ठुर इस—
हिय से यहाँ झगड लूँगी,
हिय-निस्पन्दन नही बनेगा,
वत्स, तुम्हारा पद-बन्धन,
विनिर्मुक्त, निर्वन्ध सिधारो
वन तुम, हे दशरथ नदन।

३०७
सुवन, तुम्हारी विकट प्रतीक्षा—
मे यौवन बीता रीता,
ढलती हुई वयस म पाया
तुम सम फल यह मन चीता,
सोच रही थी, जीवन विष मय
था, पर अब तो मधु मय है,
क्षण भर को भूली कि——यहा तो
एकरूप-मय विष-मय है,
खूब करा दी स्मृति तुम ने हे
प्रिय, इस निपट सत्यता की,
म मोहावृत्त हो भली थी
सुध इस नित्य तथ्यता की।

३०८

सीमा सदा हुआ करती है,
लालन कष्ट सहन की भी,
जीवन मे बाधी जाती है
सोमा दु ख-वहन की भी,
पर यह होना वहा जहा हो
दुख, सुख ये न्यारे न्यारे,
सीमा कैसी वहा जहा दुख,
पर सुख, सुख पर दुख वारे ?
इसीलिए अभिशाप रूप यह
जगपति ने वरदान दिया,
अथवा आर्य धर्म सैद्धान्तिक-
तत्वो का सम्मान किया ।

३०९

दुख मे दुख होता है, सुख मे—
अनुभव होता है सतोष,
इस मे मेरा दोष नही, मम—
मातृ-हृदय का है यह दोष,
आते देख तुम्हे सीना जब
उत्फुल्लित हो जाती है,
या ऊर्म्मिला, लखन के आगे
जब मुकुलित हो जाती है,
तब, हे वत्स, सुमित्रा का यह
हिय हो जाता है मुदमान,
और तुम्हारे बिना दिवस-क्षण
बन जाते है कल्प समान

३१०

मा का मन ही ऐसा है, मै—
कहो क्या करू ? क्या न करू ?
कैसे हिय को समझाऊ मै ?
कैसे मन मे धैर्य धरू ?
पर अतिरिक्त धैर्य के कोई
मार्ग न शेष रहा, हे राम,
ज्वाला-प्लावन आज इधर को
सहसा आन वहा है, राम,
तन-मन भस्म हो रहा है यह,
अगारे जीवन-पथ मे,
पर, इस से क्या ? नही करूगी
अपना यह मस्तक नत मै ।

३११

हँस हँस आज करूँगी स्वागत
ज्वाला का, अगारो का,
हँस हँस भार उठाऊगी इन—
विपदा के अम्बारो का,
धर्म-मार्ग से च्युत न करूगी
तुम को, हे अच्युत लालन,
अवध उजाडो, विपिन बसाओ,
करो कर्म-व्रत-प्रतिपालन ,
शकर तुम, प्रलयकर बन कर
वन मे करो राम-लीला,
वत्स, लिए अपने सँग जाओ
अनुज लखन, सीता शीला ।

३१२

जीवन की थाली मे कितनी
यह वेदना भरी है, लाल,
छलक-छलक पडती है, पथ मे—
कैसे कोई रखे सँभाल ?

वत्स, धूम्र की कुडलिया उठ—
आती है अन्तर-तर से,
झर पडती है आँखे जैसे
सावन के मेघा बरसे,

सुनने वाला कौन रहेगा
याँ विलाप के बैनो का ?
यहा रहेगा कौन पोछने
वाला आसू नैनो का ?

३१३

कुछ ऐसा है लिखा भाग मे
कि यह रहे जीवन सूना,
कुछ ऐसा है योग कि मिलता—
रहा दुख नित दिन-दूना,

इधर-उधर टक्कर खाता, यह—
मडाराता अकुलाता मन,
जन-पद मे भी सदा करेगा
अनुभव भाव निपट निर्जन,

सीय लाडिली, राम दुलारे,
हे तुम मुझ निर्धन के धन,
विजन सुखेन पधारो, मेरे
प्यारे सीता, राम, लखन ।

३१४

सीते बेटी, तुम से मै क्या
कहूँ ? जानती हो सब कुछ,
प्रकट करूँ मैं क्या हिय अपना
तुम से नही छिपा अब कुछ,
ऐसे रत्न बहू-बेटो को
भेज रही हूँ निर्जन मे,
फिर भी ये निर्मोही मेरे—
प्राण रमे है इस तन मे,
वह, कदाचित अभी और भी
कष्ट शेष है जीवन मे,
अहा और भी कुछ अनर्थ ही
होगा इस चौथे पन मे।

३१५

पति परायणा, पतित पावना,
भक्ति भावना मृदु तुम हो,
स्नेहमयी, वात्सल्यमयी, श्री—
राम-कामना मृदु तुम हो,
तुम नारी हो, तुम नारी की
हृदय-व्यथा से परिचित हो,
तुम हो करुणामयी, बहू, तुम
समवेदना अपरिमित हो,
इस हिय मे है अनिवर्चन मय,
जो कुछ वाङ्मय रहित, बहू,
है विश्वास, उसे समझोगी
तुम अति आदर सहित, बहू!

३१६

सदा पटा है तुम से मेरा
सौदा आँखो-आँखो मे,
तुम हो एक ग्राहिका मेरी,
बहू, सहस्रो-लाखो मे ,
व्याकरणज्ञा हो अनबोली
भापा की, तुम कल्याणी,
खूब समझती हो तुम छानी–
छानी नयनो की वाणी,
भाषा की, वाक्यो की, श्रुति की,
शब्दो की गति जहाँ नही,
सीते बेटी सहज पहुँचती
है यह तव मति महा वही ।

३१७

हिय मे जहाँ हो रहा है यह
हाहाकार प्रचड, बहू,
जहाँ उठ रही है यह ज्वाला,
चड, ज्वलन्त, अखड, बहू,
उस थल तक जा-जा कर आती
लौट-लौट शब्दावलिया,
जैस झुलस-झुलस जाती हो
खर निदाघ मे नव कलिया,
नि शब्दता राज करती हो–
जहाँ, वहाँ कैसी अभिव्यक्ति ?
वहाँ पहुँच पाती है केवल
सह-अनुभूतिमयी अनुरक्ति ।

३१८

बहू, समझती हो तुम मेरे
हिय की गहर गभीर व्यथा
तुम से नही छिपी है, बेटी,
माँ के हिय की धीर-कथा,
इस असीम वेदना परिधि से
घिरी हुई हूँ, सीमित मै,
अचरज है जीवित हूँ अब तक,
और रहूँगी जीवित मै,
विधिना ने कठोरता-प्रतिनिधि
रूपा मुझे बना कर के,
धो डाले है अपने कर द्वय,
मम हिय मे पाहन भर के।

३१९

मार्ग जिस उठाए फिरती
आखो मे, हिय मे, मन मे,
कभी धूल भी नही लगी थी
जिस के उत्फुल्लित तन मे,
वही बहू सीता सुकुमारी
घूमेगी अब निर्जन मे,
और सुमित्रा राज करेगी
यहा महल के आगन मे,
हिय फट जाना था, पर है यह—
बडा कठोर हृदय, बेटी,
इतिहासो मे लिखी जा सकूँ,
हूँ मै वह निर्दय, बेटी।"

३२०

"ओ माँ !" अश्रु सनी सीता यो
बोली व्यथा भरी वाणी,
'देवि, चिरन्तन सहन शीलता
की तुम हो चिर गुर्वाणी,
यो निज आत्म-प्रडतान कर के
मुझको तुम लज्जित न करो,
ओ माँ, गहरे व्यथा-सिन्धु मे
मुझे और मज्जित न करो,
इस अस्थिरतामयी अवध मे
तुम हो एक, स्थिरा, अचला,
और दूसरी कौशल्या माँ,
है धृतिमती निपट अटला ।

२१३

यह कोसल जन-पद जहाज है
क्षुब्ध वेदना सागर है,
पार लगाने वाला तुम द्वय—
का यह हिय करुणाकर है,
तुम हो करुणामयी धीरता
ज्ञान - विदग्धा, तपस्विनी,
तव पद-नख पर स्वय तितिक्षा—
न्यौछावर है, मनस्विनी,
पूज्य श्वसुर की दशा बडी ही
चिन्तनीय है, हे माता,
केवल तव धीरता बन रही
है सब की चिन्ता-त्राता ।

३२२

मै ने तुम से निज जननी का
प्यार, दुलार, लाड, पाया,
मात, रही है सदा तुम्हारी
मुझ पर वत्सल घन-छाया,
एक अबोध बालिका से मैं,
युवती होकर बढी यहाँ,
सासो की छाया मे मैं श्री
राम चरण मे चढी यहाँ,
देवि तुम्ही ने तो मुझ को यह
आत्मार्पण का पाठ दिया,
और तुम्ही ने मम मन–मन्दिर
का यह मुक्त कपाट किया ।

३२३

इसी तुम्हारी शिक्षा का यह–
परिपालन है विजन-गमन,
सदा प्रणोदक है मेरे तो
तव श्री चरणो के रज-कण,
उन्हे देख कर ही मम मन मे
होती है विराग की स्फूर्ति,
उन के दर्शन से होती है
मेरी आत्म-निवेदन-पूर्ति ,
हे माँ, उसी तुम्हारी पद-रज
का यह शुभ प्रसाद पा कर,
सीता, राम अनुगमन करती,
आज अयोध्या से बाहर ।

३२४

माता, तुम अच्छेद्य कवच वह
अपने आशीर्वादो का,
पहनाओ अपने पुत्रो को,
भय न रहे अपवादो का,
मुझको दृढता, स्थैर्य, अचलता–
का तुम, माँ, दे दो वरदान,
भर दो मेरे अचल मे, माँ,
शिव-सकल्प-रूप कल्याण,
अवधि-अन्त मे तव-चरणो के
दर्शन कर फिर फूलूँगी,
एक बार फिर तव ग्रीवा मे
डाल भुजाएँ झूलूगी ।

३२५

राम विश्व-विजयी, भय किसका ?
है लक्ष्मण दुर्दान्त बली,
मेरे पीछे है देवर, है
आगे सीता-कान्त बली,
सग सग है, जननि, हमारे–
तप-साधन-सिद्धान्त बली,
कैसे फिर हो सकते भौतिक
भय से हम आक्रान्त बली ?
आज हो रही है इस नगरी
मे नैतिक उत्क्रान्ति भली,
हमे मिलेगी निश्चय वन की
डगरी मे विश्रान्ति भली ।

३२६

सिद्ध राम, साधक लक्ष्मण है,
मै साधना-रूप निष्ठा,
अपरिग्रह की आज हमारे
कुल मे हुई नव प्रतिष्ठा,
राज छुटा, छुट गई भोग की
सकल वासना वह क्लिष्टा,
विजन मिला, हो गई हृदय मे
त्याग-भावना सश्लिष्टा ,
मुक्ति-युक्ति मिल गई मधुर यह,
अपने आप बन्ध टूटे,
जननि, तुम्हारे राम, लखन ये—
भोग-भावना से छूटे ।

३२७

मेरे पति, मेरे देवर ये,
रॅग विराग-त्याग रॅग मे,
देखूॅगी सब कौतुक वन के
इन दोनो के सॅग-सॅग मे ,
चौदह वर्षो का वन-अनुभव,
ले कर मै घर आऊॅगी,
माॅ, कितनी ही कौतुक-मणियाॅ
म अपने सॅग लाऊॅगी ,
देवि, तुम्हारी यह उच्छृखल,
कुछ-कुछ यह अल्हड सीता,
हो आएगी बडी पडिता
बडी ज्ञान-अनुभव-नीता ।

३२८

आकर तुम्हें सुनाऊँगी, माँ,
सब विचित्र वर्णन वन के
देवर के सब कार्य, और सब
कर्म-धर्म जीवन-धन के,
हम तीनो की बाट जोहती–
रहना, तुम मत थकना, माँ,
तुम मेरी ऊर्म्मिला बहिन को
खूब सम्हाले रखना, माँ,
यह लक्ष्मण की कितनी प्यारी–
है, इसको तुम जानो हो,
और लखन से अधिक ऊर्म्मिला–
को हे माँ, तुम मानो हो।

३२९

अभी, एक दिन, मुझ से हँस कर,
लालन लक्ष्मण यो बोले
भाभी, खूब ठगे तुम सब ने
माताओ के मन भोले,
ऐन्द्रजालिकाएँ मिथिला की
होती बडी कला वाली
किन्तु देखने म तुम सब यो
लगती हो भोली-भाली।
राम, भरत, लक्ष्मण, रिपुसूदन
अब न कही के यहाँ रहे,
अब तुम सब बधुओ के आगे
हम बेटो की कौन कहे ?

३३०

मैं बोली कि ललन तुम लाए
हमें लूट मिथिलापुर से,
अब यों बातें बना रहे हो
ठगे हुए ठग-ठाकुर-से ?

हम ने माना पिता छोड़ कर
आकर यहाँ प्रवास किया,
अपना सद्म छोड़ कर, लालन,
इस तव गृह में वास किया,

फिर भी डाह कर रहे हो तुम
क्यों हम में ? कुछ न्याय करो,
निष्ठुर युवक, युवतियों के प्रति
तुम यों मत अन्याय करो ।

३३१

तो बोले कि, डाह की क्या ?
मैं बात कर रहा मन्तर की,
निश्चय तुम सब जानो हो कुछ
घातें जन्तर-तन्तर की,

आर्य राम पर तुम ने पढ़ कर,
फूँकी कुछ पुड़िया ऐसी,
कि बस तुम्हारे कर में उनकी
वृत्ति हुई गुड़िया जैसी,

भगत भरत भैया भी छोटी
भाभी के फरफन्द फँसे,
और तुम्हारी विमल ऊर्म्मिला
ने मुझ पर छलछन्द कसे ।

३३२

मातात्रो को उधर, सुतो को
इस दिशि सर करके तुम ने
सिक्का खूब जमाया सब के
हिय को हर करके तुम ने,
इसीलिए कहता हूँ, तुम सब
जादूगरनी हो, भाभी
सीख साख कुछ आई हो, तुम—
सब हिय-हरनी हो, भाभी,
मा, लल्ला की इन बातो से
चुग्रा पड रहा मेह घना,
तुम जानो हो, विमल ऊर्म्मिला
पर उनका है नेह घना।"

३३३

बहू, जानती हूँ, है हिय मे,
बाते कई कई मेरे
उठ-उठ आती हे सस्मृतिया
हिय मे नई-नई मेरे,
पर उनके टटोलने को अब
अवमर नही रहा, बेटी
अन ऊर्म्मिला से मैं ने अब—
तक कुछ नही कहा, बेटी,
इसके लिए पडे है चौदह—
वरस, नही जल्दी कोई,
देख परख लूगी पीछे मैं
हिय की निधि धोई-धोई ।

३३४

राम, नयन अभिराम, वत्स, तुम,
जलद श्याम, मेरे बारे,
जाओ करो सनाथ विपिन को,
मेरी आखो के तारे ,

लक्ष्मण वत्स, कहूँ क्या तुम से ?
भार तुम्हारा गुरुतर है,
अपने पन को दिखलाने का
आया यह शुभ अवसर है ,

माम् विद्धि त्वम् जनकनन्दिनी,
राम विद्धि दशरथ त्वम्,
विद्ध्यटवी – त्वमयोध्यानगरी,
गच्छ वन त्वम् यथा सुखम् ।

३३५

वत्स, वन गमन के मिस मेरे
पय की आज परीक्षा है,
आज देखना है कैसी मम
दुग्ध-धार की दीक्षा है,

एक बार पहले ही अध्वर–
नाशक दुष्ट-दलित कर के,
तुम दोनो ने दिखलाए हैं
कौतुक निज तीखे शर के,

किन्तु परीक्षा अब की, लक्ष्मण,
है दुस्तर, है बहुत कडी,
पर मम पय-पोषिता तुम्हारी
बाहे भी है बडी-बडी ।

३३६

तुम आजानु बाहु, लालन मम,
जीवन के हो उजियारे,
शिव सकल्पमयी निष्ठा-युत
विपिन सिधारो, हे प्यारे !
स्मरण रहे जीवन अशेष है,
मोह न झटका दे तुम को,
जीवन की लालसा, मार्ग से
कही न भटका दे तुम को ,
मै प्रसन्न हूं, आदर्शो पर
तुम को न्यौछावर करके,
पूर्ण करो जीवन-सँदेस तुम,
लालन, अपना जी भर के ।

३३७

स्मरण रखो, सीता है रघुकुल–
की लज्जा, गौरव गरिमा,
और मातृ-शक्ति है तुम्हारे
लिए वत्स, सीता महिमा,
यदि सीता को, प्राण तुम्हारे–
रहते, आँच लगी कुछ भी,
तो तुम को कपूत समझूँगी
मुख देखूंगी मै न कभी ,
जाओ वन, ज्वलन्त आदर्शो–
से उत्प्राणित हो करके,
त्याग-तपस्या-रत हो जाओ,
अह-भावना खो करके ।"

३३८

"माँ, देखोगी दूध तुम्हारा
नही लजाएगा लक्ष्मण,
देकर अपने प्राण करेगा
वह आदर्शो का रक्षण,
जिस के बन्धु राम हो, जिसकी–
पूज्य सुमित्रा महतारी,
धिक् है वह, यदि प्राण-मोह मे
पड, बन जाए अविचारी,
एक-एक घूँट मे तुम्हारे–
पय के, मैं ने अमृत पिया,
कैसे विचलित कर सकती है
मुझे मृत्यु की अनृत क्रिया ?

३३९

जननि, तुम्ही ने तो सिखलाया–
है कि मरण ही जीवन है,
लीलामय के प्रागण मे तो
प्राण-हरण ही जीवन है,
कहा तुम्ही ने न था कि लो इन–
मृत्यु-गीत की कडियो मे,
बन्धन-भजन की घडियो मे,
आत्मदान की लडियो मे,
जीवन-स्वर, जीवन-क्षण, जीवन–
मुक्ता, ये है टँके हुए,
वैसे ही जैसे कि शून्य मे
सभी अक है अँके हुए ?

३४०

हे मेरी गुर्वाणि जननि, तव—
शिक्षा है अंकित उर मे,
वैसे ही जैसे जग-पोषण
सचित है लघु गो-खुर मे,
अवधि-अन्त मे देखोगी तुम
लक्ष्मण या तो लक्ष्मण है,
या पहुँचा है वहाँ जहाँ की
स्थिति अज्ञेय, विलक्षण है,
निश्चय जानो, दूध तुम्हारा—
नही लजाएगा लक्ष्मण,
वरदे ! दो वरदान तुम्हारा
लक्ष्मण होवे शुभ लक्षण ।"

३४१

यो कह, आतुर हो लक्ष्मण ने
थामे माँ के पूज्य चरण,
और चरण कमलो मे कर दी
भक्ति-अश्रु की निधि अर्पण,
उठा लिया माँ ने, छाती म भर
गोदी म बिठा लिया,
फिर कँपते-कँपते शब्दो मे
उन को आशीर्वाद दिया,
माँ के आशीर्वादो से सिय—
राम-लखन अभिषिक्त हुए,
विपिन चले हिय-घर्षण-चन्दन
से अर्चित, सलिप्त हुए ।

भर दो, माँ, भर दो अन्तर तर,
तव वेदना, व्यथा, करुणा से, आप्लावित कर दो अभ्यन्तर,
भर दो, माँ, भर दो अन्तर तर ।

इति श्री तृतीय सर्ग
श्री लक्ष्मणार्पणमस्तु ।

अथ श्री चतुर्थ सर्ग

विरह मीमासा

१

निर्गुणता वरणावृतकर,
हृदय-स्पन्दन-रण अपना,—
अर्धोन्मीलित नयनो मे,
भर विश्व-व्यथा का सपना—
अधरो की स्मिति-रेखा से,
आन्दोलित करता कम्पन,—
क्षण-सक्रम से छुटवाता,
परिरम्भण, हिय-अवलम्बन,—
है ऐसा कौन खिलाडी
करता जो यो मनमानी ?
जिस ने सघर्प दिया, वह—
है कौन वेदना-दानी ?

२

अस्तित्व,—तक्र, हिय,—मटुकी,
वेदना,—रई गति चलिता,
आकर्षण,—रज्जु बना है,
छलकी बूँदे रस गलिता ,
किस के अदृष्ट हाथो ने
यह मन्थन-दड सम्हाला ?
यह चिर मन्थन का किस ने,
वरदान शाप दे डाला ?
मथ सृष्टि-तत्व को किस ने
करुणा-नवनीत निकाला ?
किस ने रस-दान दिया यह
नित नया, अतीत, निराला ?

३

जग-हृदय अकारण यों ही
करता रहता हा, हा, हा,
कुछ है जिसके पाने को,
जग होता है नित स्वाहा ,

व्रण है गहरा, कसके है,
धरने को मिला न फाहा,
कुछ ज्ञात नही वह क्या है,
व्रण का अजन मन चाहा ?

कुछ है, है कही, कहाँ है ?
क्या है ? है कितना ? कैसा ?
जिन ने पाया वे कहते
है वह वम इतना, ऐसा ।

४

अति रिक्त-रिक्त-सा हिय है,
सूना सूना जीवन है,
सूना ही जीवन-पथ है,
सूने जीवन के क्षण है ,

अस्तित्व-विटप, करुणा से–
नित सीच रहा है कोई,
फूली जीवन-टहनी पर–
कलिकाएँ धोई-धोई ,

जगती का यह कौतुक लख,
जगती की आँखे रोई ,
जग गई हिये मे सहसा
करुणा कुछ खोई-खोई ।

५

कोई दे रहा यहाँ पर
जीवन मे एक उलहना,
बोलो तो, जग मे कब तक—
होगा एकाकी रहना ?

हो बडे ढूँढने वाले,
देखे, ढूढो हम को तो,
हम यही छिपे है तुम मे,
तुम देखो, कुछ दमको तो,

अवगुठन तनिक हटा दो,
कुछ दूर करो तम को तो,
हम को पाओगे बरबस,
तुम अन्तर मे चमको तो ।

६

ये युग पर युग बीते है,
कुछ खोज रहा है प्राणी,
तुम कैसे ? छिपे किधर हो ?
हो कहाँ, वेदना-दानी ?

अस्तित्व विहग यह जब से—
जग का हो गया निराला,
जिस क्षण से अवश हुआ है,
जग अह-भावना वाला,—

जब से यह द्वैत समाया
जगती के अन्तर तर मे,
तब से मँडराती करुणा
सब के मानस-अम्बर मे ।

७

सुन रहा जगत है कब से
युग-युग की व्यथा-कहानी,
कब मे मँडारती है यह,
आतुरता छानी-छानी,
उद्भ्रान्त वृत्तियाँ आई,
जग भूल गया अपने को,
पागल-सा फिरता, जब से—
सच्चा समझा सपने को,
अपने को सपने मे खो,
लुट गया जगत मतवाला,
चढ गई बहुत ही गहरी
अस्तित्त्व-रूप की हाला ।

८

है बस, इतनी चेतनता
वह ढूढ रहा धन अपना,
है भूला नही अभी तक,
अज्ञात नाम का जपना,
इस मद मे भी तो उसको
वेदना सताती रहती,
भटकाती है वह निशि दिन,
अन्तस्तल रहती दहती,
पीतम के इस बिछुडन की,
वेदना बडी गहरी है,
स्वप्निल अतीत की सस्मृति,
आकर्षक है, जहरी है ।

९

जग मे, प्रशान्त निर्गति से—
गति आविर्भूत हुई है,
उस क्षण से प्रति अणु-कण मे,
वेदना प्रसूत हुई है ,

अव्यक्त भाव से जग यह
जिस क्षण से व्यक्त हुआ है,
यह विश्व ईश के हिय से—
जिस क्षण से त्यक्त हुआ है,

उस दिन से उस ही क्षण से,
उट्ठी है व्यथा पुरानी,
अणु-अणु मे समा गई है,
यह विरह-वेदना-रानी ।

१०

जग को विभु ने अपने से
है अलग किया जिस दिन से,
यह पुर्नमिलन-उत्कठा
हिय मे उमडी उस छिन से ,

है असन्तोष-सा मन मे,
कुछ असम्पूर्णता-सी है,
परितृप्ति नही मिलती है,
यह यात्र्वा्यमोघा-सी है ,

मानो सालस हाथो से,
उड जायँ अचानक तोते ,
ज्यो लुटे सुसचित निधियाँ,
सब रहे नीद मे सोते ।

११

अक्षर से क्षर प्रकटा है,
निर्गुण से सगुण हुआ है,
वह एक अनेक बना है,
वह विगुण, सुनिपुण हुआ है,
अब सगुण, अगुण होने को—,
यों अकुलाता है छिन-छिन,
क्षर, अक्षर से मिलने को
दिन बिता रहा है गिन-गिन,
अपना पन पा जाने की,
है यही एक आकुलता,
खट-खट निशि-दिन होती है,
देखें यह पट कब खुलता ?

१२

रह रह कर कोई गायक,
मन में स्वर सींच रहा है,
तम्बूरे के तारों को,
छिन-छिन में खींच रहा है,
स्वर-साम्य नहीं मिल पाता,
ढीली खूँटियाँ पड़ी है,
है तार-तम्य बिखरा सा,
दरकी तूँबी, लकड़ी है,
स्वर-तान कहा से उट्ठे ?
स्वर-साधन रच नहीं है,
सुस्वर वह नहीं निकलता,
केवल वेदना यही है ।

१३

अचरो मे व्यथा भरी है,
चिर आकर्षण मिस, विभु ने,
सचरो मे करुणा फूँकी,
इस सघर्षण मिस, विभु ने,
जड मे भर दी है करुणा,
अणु को गति-बन्धन दे कर,
चेतन मे व्यथा उँडेली,
जीवन-निस्पन्दन देकर,
अब अखिल विश्व मे प्रति छिन,
यह हा-हा-कार मचा है ,
लीलामय ने यह नाटक
क्या ही अदभुत विरचा है ।

१४

घन उमडे,—हिय भी उमडे,
घन बरसे,——आखे बरसे,
लू चले हृदय मे तब, जब—
जड जग निदाघ मे तरसे,
क्या ही विभु ने भेजा है—
यह अपरस्पर अवलम्बन,
जड-चेतन का प्रकटा है,
आलिगन, मुद परिरम्भण ,
पर, प्यास नही बुझती है,
लग रही आस की फाँसी,
आ जाओ, अलख खिलाडी,
तुम डाले गलबहिया सी ।

१५

जड जग का सारा वैभव
चेतन ने प्रकट किया है,
चेतन को स्थिर अवलम्बन
जड जग ने यहा दिया है,
फिर भी न तोष पाया इन,—
आदानो प्रति दानो से,
सन्तुष्टि नही हो पाई
आपस के सम्मानो से,
रह गई अतुष्ट पिपासा,
है हूक उठ चली हिय की,
यह हूक मिटेगी तब, जब,
मूरत देखेगे पिय की ।

१६

कलियाँ रोती टहनी पे,
रोते प्रसून डाली पे,
पत्तियाँ बिलखती है ये
बेलो की प्रति जाली पे,
लतिकाएँ रो-रो गिरती
विटपो के वक्ष स्थल पर,
झर रहे ओस के आसू
वन-उपवन मे छल-छल कर,
करुणा-जल सिचा हुआ है
जग की क्यारी-क्यारी मे,
है भरा व्यथा का पानी
इस जीवन की झारी मे ।

१७

जब अनिल सिसकती आती
पूछने बात कलियो की,
तब व्यथा सुना जाती है
वह जग की सब गलियो की,

तृण, पर्ण, प्रसून, विटप, दल,
सुनते हैं व्यथा-कहानी,
सुन कर वे ढरकाते है
अपने अन्तर का पानी ,

अपनी स्वीकृति देते है,
डुल-डुल कर मन्द पवन मे
करुणा ही करुणा रहती,
है गृह, वन मे, उपवन मे।

१८

जीवन की सिसक भरी है
तरु मे, गुल्मो मे, तृण मे,
ज्यो कसक भरी रहती है
गहरे पीडामय व्रण मे,

प्रच्छन्न प्रेरणा बन के
छिन-छिन मे उठ उठ आती
तरु मे जीवन-रस बन के,
वह पर्णो मे लहराती,

कोपल बन-बन कर फूटी
जीवन की सिसक रसीली,
बन गई बेल, वल्लरिया,
कलिका बन गई लजीली ।

१६

पतझड में अरुझानी-सी,
नव द्रुम-दल में उलझी-सी,
वेदना नित्य जीवन की,
आई सुलझी-सुलझी सी ,

वल्कल के अन्तर-तर में,
रस-गति सभूत हुई है,
रस-आरोहण के मिस-से
वेदना प्रसूत हुई है ,

जीवन की पैनी पैनी—
नन्ही-नन्ही-सी सुइयाँ,
चुभ गई सृष्टि के हिय मे,
झर उठी बिथा की फुहियाँ ।

२०

अटकी विकास-उत्कठा—
कलियो के अस्फुट उर मे,
ज्यो गमन-लालसा उलझे
पिय के झकृत नुपूर मे,

कुसुमो के फूले हिय से
आसू झर रहे व्यथा के,
कुछ अकथ कथा कहते है,
आडोलित पर्ण लता के ,

है चिर वियोग-दुख अकित
द्रुम की पत्ती-पत्ती मे,
है भरी व्यथा फूलो की
रज की रत्ती-रत्ती मे ।

२१

उद्ग्रीव हुए, आतुर से,
तरु किसको बुला रहे ये ?
कुछ सैन निमत्रण देते,
क्यो बाहे डुला रहे ये ?

है कौन पाहुना जिसकी
हिय बीच प्रतीक्षा धारे,
है खडे खडे कब से ये,
मुरझाए विटप बिचारे ।

इन को आमत्रण देते
है वर्ष सहस्रो बीते,
पर आए नही, अभी तक
वे निठुर अतिथि मनचीते ।

२२

आतुरता लिए पधारी
सज-सज पत्तियाँ नवेली,
है नृत्य कर रही कब से
अकुलाती यहा अकेली,

नव अभिसारिका बनी ये
द्रुत पवन-यान पे चढ के,
पिय को ढूँढने चली है,
उड-उड दिन मे पतझड के,

ससुराल पत्तियाँ चल दी
बिछुडी शाखा-जननी से,
पर मिल पाई न अभी तक
अपने पिय सजन धनी से ।

२३

शाखाओं से हहराती
बह रही निमंत्रण करुणा,
नव किसलय दल के मिस से
कँप उठी वेदना अरुणा,
यह जीवन-सिसक निराली
अभिव्यक्त हो उठी छिन-छिन,
यह क्षणिक चेतना रोई
पूरन अनन्त जीवन बिन,
चिर जीवन का आवाहन
करते शतिया बीती है,
वृक्षो पत्तो को आहे—
भरते शतिया बीती है ।

२४

कोयलिया विरह-भरी-सी
विष बुझे बोल बोले है,
वह कुऊ कुऊ के मिस से
नभ मे करुणा घोले है,
अन्तस्तल की ज्वाला से
पड गई कोकिला काली
उस कूक-हूक से कापी
सब आमो की हरियाली,
उमडी - कोयल कठो से
पिय-मिलन-बिथा मतवाली,
पत्तिया कँप उठी रह-रह
सिहरी प्रति डाली-डाली ।

२५

रो-रोकर बिलख रहा है
यह काग दरद-दीवाना,
का-ओ का हो ! तुम निष्ठुर,
यह भेद नैक बतलाना,
इस की-की, कहा-कहा मे
सब समय बीतता जाता,
आशा कह रही कि पीतम
अब आता है, अब आता,
इस अब-अब की जब तब मे,
लगभग सब जीवन बीता,
जब तनिक टटोला हिय को
पाया रीता का रीता ।

२६

विहगो के कल कूजन से
हिय करुणा उमड रही है,
पखो के फैलाने मे
आतुरता घुमड रही है,
उनको चटपटी लगी है
साजन के दरस-परस की,
हिय के निस्पन्दन के मिस
अन्तर की करुणा कसकी,
है नित अनन्त जीवन वह
सुषमा पाने को जिसकी,—
जग भर की विहगावलियाँ
कूजन मिस रोई सिसकी ।

२७

खजन न फुदक प्रकट की
अन्वेषण मय आकुलता,
प्रकटी मयूर-पखो से
दुख की चित्रित सकुलता,
प्रकटी कपोत-कूजन मे
आकठ व्यथा-मजुलता,
मैना ने अमित प्रकट की
निज अह-स्वभाव-विफलता,
कह के भी मैना, मै-ना,
खोई तन्मयी मृदुलता,
कर दी विनष्ट क्षण भर मे,
अपनी वह परम अतुलता ।

२८

खजन चचलता प्रकटी
अजलिगत चल पारद सी,
कुछ लगी ढूढने रह-रह
वह आतुर विकल दरद सी,
छिन उलझी कुछ दानो मे,
वह छिन ठिठकी, छिन अटकी
छिन इधर, छिन उधर फुदकी
छिन यहाँ, छिन वहाँ भटकी,
वह घडी-घडी अकुलाती,
कुछ ढूढ रही हिय-रजन,
पर पा न सकी वह अब तक
निज खजन-रूप निरजन ।

२९

केकावलियाँ सब नाची
घन-गर्जन की ध्वनि सुन के,
डग मग पग थिरक उठी वे,
हिय थिरक उठे सब उनके,
आँखो से खूब लुटाई
आसू-लडिया चुन-चुन के,
युग-युग से नाँच रहे है,
है मोर बडे ही धुन के,
अकुलाए है दर्शन को
वे सब उस नृत्य-निपुण के,
जिस ने लघु जीवन दे कर,
बाधे दृढ बध त्रिगुण के ।

३०

दिन रैन कबूतर अपनी
कहते है गुटुर-कहानी,
कठो से छलकाते है
वेदना व्यथा अनजानी,
जीवन के वाण लगे है,
हो रही यहाँ मनमानी,
कुछ भेद न खुल पाया है,
है या सब बाते छानी,
यह भेद भरम क्या समझे
मूरख कपोत अज्ञानी ?
पर, व्यथा प्रकट करती है
यह गुटुर गुटुर मय वाणी ।

३१

कहती है छद्म कहानी,
मैना मै-ना कह-कह के,
यदि तू है 'ना' तव फिर क्यो–
कहती 'मै' ना रह-रह के ?

पिय से विरहित हो 'मै' के
धक्के खाए सह-सह के,
क्यो खोया निज को 'मै' की
इस सरिता मे बह-बह के ?

पड कर 'मै' के फन्दे मे
अलबेला पीतम खोया,
वस उसी घडी से निशि-दिन
हिय रोया, मानस रोया ।

३२

सन्ध्या के श्यामल क्षण मे
चिर दीप-शिखा-सी जलती,
जडता के काले तल मे
जीवन की सिसक उछलती,

सन्ध्या आ फैलाती है
अँधियाले रँग का अचल,
उस मे भर देता कोई
गहरी वेदना अचचल,

चल मन्द समीरण के मिस
कँप उठते है सूने क्षण,
अस्तित्व-व्यथा से कम्पित
होते वसुधा के कण-कण ।

३३

झुटपुटे समय मे कोई
नीरव गायन गाता है,
मानस-दिङ्मडल को यह
कम्पित करता जाता है

लाता है कहाँ-कहाँ से
स्वर-सामजस्य निराला ?
ऐसा स्वर फूँक रहा है,
पडता छाले पर छाला,

भर दे, हाँ, निर्दय भर दे,
तू रिक्त हृदय मे करुणा,
अँधिआरे मे उसका दे
तू दीपशिखा वह अरुणा ।

३४

छिन्नाभ्र, लालिमा-रजित
नभ-बीच डोलता रहता,
मानो क्षत, भ्रमित पथिक-सा
वह पथ टटोलता रहता,

या सई साँझ वह नभ मे
मन लगन रोलता रहता,
अथवा दिनमणि किरणो का
सिन्दूर घोलता रहता,

प्रति सन्ध्या को नभ स्थल मे
बादल की नित की क्रीडा,
बरसाती ही रहती है
तन मन की आकुल पीडा ।

३५

सन्ध्या क्या आती मानो
ढल जाता यौवन दिन का,
काला सा पड जाता है
चम-चम उजियाला छिन का,
सन्ध्या बटोर लाती है
दिन की स्मृति आह-भरी-सी,
उजियाली-सी, गोरी-सी,
सुख - सस्मृति - चाह - भरी - सी
सन्ध्या के अनु-अनु छिन क
इस गुँथे हुए धागे मे,
है टँकी सुसस्मृति-मणियाँ
क्षण के काले तागे मे।

३६

उजियाले को अँधियाला
आ ढँक लेता है ऐसे,
श्यामल अचल ढँकता है
सुकुमार गौर मुख जैसे,
झीने अँधियाले पर से ,
उजियाली बिथा चमकती,
ज्यो दर्शन-आतुर आँखे
घूँघट की ओट दमकती,
गहरा होता जाता है
छिन-छिन अँधियाला जग मे,
ज्यो घिरती निपट निराशा
चिर प्रेम-प्रतीक्षा-मग मे।

३७

इन सूने-सूने क्षण मे
मन मे खुट-खुट होती है,
आकाक्षा निरी अकेली
भोली लुट-लुट रोती है,
नित घनी साँझ की बेला
कोई डाकू आता है,
बटमार निपट सूने मे
सब कुछ लूटे जाता है,
हिय-तल अकुलाता रहता
सन्ध्या के प्रति पल-पल मे,
अँधियाला बिम्बित होता
लोचन के कम्पित जल मे।

३८

धूमिल-सा होता जाता
इस नभ का नीला अम्बर,
आती है पहन-पहन ये
दिग्वधुएँ श्याम दिगम्बर,
दुख भरी निराशा-सी कुछ,
कुछ भ्रान्त श्रान्त आशा-सी,
मन-नभ मे छा जाती है
कुछ क्लान्ति, मूक भाषा-सी,
सन्ध्या के इस अचल मे,
कम्पित-सी, अश्रु-सनी-सी,
ना जाने किसने भर दी,
यह इतनी व्यथा घनी-सी ?

३६

सन्ध्या को थपकी दे के
चुपके से गोद सुलाती,
आती है करुण तमिस्रा
निज अचल-छोर डुलाती,

निशि के अँधियारे मे है
सचित दुख की परछाई,
इस घनी कालिमा मे है
चिर विप्रयोग की झॉई,

जल भुन कर ज्योति-विरह से
पड गया अँधेरा काला,
पर कही न दीखा अब तक
अँधियारे मे उजियाला ।

४०

रह-रह कर नभ-मडल मे
उडुगण चमके कँप-कँप के,
अथवा दुख-भरी निशा के
दुख के सब छाले तपके,

इस धीर पवन के मिस से
यह पुज उठा आहो का,
अँधियारे के मिस आया
यह दल निराश चाहो का,

चुपके ओसो के आँसू
ढरका के रतियॉ रोई,
नि शब्द, मौनमय क्षण मे
अपनी सुधबुध सब खोई ।

४१

जब पूर्व-निशा, यह परिणत—
हो जाती अर्ध-निशा में,
तब हृदय-वेदना आकुल
मँडराती सकल दिशा में,
अवलम्ब ढूँढती फिरती
है निरवलम्ब लघु आशा,
अँधियारे मे मिलती है
उसको नित निपट निराशा,
अति श्रान्त, निशा पगली-सी,
यह मार्ग-क्रमण करती है,
चिर अभिसारिका बनी यह
उद्भ्रान्त भ्रमण करती है।

४२

भीजी है ओस-कणो से,
यह अर्ध-रात्रि दुखियारी,
चू-चू कर टपक रही है
उसकी अँधियारी सारी,
पीतम की मगन लगन म
रात्रि ने बिता दी घडिया,
रो रोकर खूब भिगोई
सब समय-श खला-कड़ियाँ,
पर जिस ने दिन-छिन दे कर
यह दिया रात को ताना,
ढूँढे भी मिला न अब तक
वह अलबेला मस्ताना।

४३

ना जाने कहाँ छिपा है?
है कहाँ पिऊ की बस्ती?
कण-कण क्षण-क्षण जन-मन में,
सुनते हैं उसकी हस्ती,
पर हाय, द्वैत-अवगुंठन
हा, अपनेपन की मस्ती,
जग गहरी ढाल चुका है
हस्ती की मदिरा सस्ती,
हाँ, इसीलिए तो रातें–
ये, बुला-बुला कर हारी,
पर अब तक वह न मिला है,
थक बैठी खोज बिचारी।

४४

जब कभी-कभी आती है
निशि पहिन चाँदनी साड़ी,
तब और दूर हो जाता
वह पीतम अलख खिलाड़ी,
हाँ, इसीलिए उजियाली–
रातों में बिथा बढ़े है,
ज्योत्स्ना में, इसीलिए तो,
यह दूना जहर चढ़े है,
निशि ढूँढ रही है पिय को
ममता की ज्योति जगा कर,
पर, वह मिलता है उस क्षण
जब ढूँढो स्वयं ठगा कर।

४५

वह रति-रस-गोप्ता, शाश्वत,
वह प्रीति-रीति-रत, मानी,
वह प्रेम-नेम-निर्माता,
वह अलख-वेदना-दानी,
वह, जो चोटो पर चोटे
देता है छानी-छानी,
वह, जिसकी टेव यही है,
युग-युग की बडी पुरानी,
वह कब मिलने वाला है
अहमस्मि-रूप-ज्योत्स्ना मे ?
वह तो छिटेगा आके
सोऽहं-अनूप-ज्योत्स्ना मे ।

४६

निशि की अपनी उजियारी,
निशि की अपनी अँधियारी,
नित उसको ढूँढ रही है,
ये दोनो पारी-पारी,
ना जाने कितने-कितने
ये युग अनन्त बीते है ?
पर अब तक पडे हुए सब,
क्षण, पलक, हस्त, रीते हैं
है विरह-कथा यह लम्बी,
अन्वेषण-कथा पुरानी,
है प्रीति रहस्यमयी यह,
रस-सनी भाव अरुझानी ।

४७

जब परिणत अपर निशा मे
यह मध्य निशा हो जाती,
तब थकित यात्रिणी-सी वह
झुक कर कुछ-कुछ सो जाती,
यो ही सोती-सोती-सी
वह सहसा लुट जाती है,
उत्सुक ऊषा की झाँई
नभ मे जुट-जुट आती है,
ऊषा निहारने लगती
निशि का अन्वेषण-सपना,
वह भी विस्फारित नयना
ढूँढनी कलाधर अपना ।

४८

ऊषा की उन आँखो मे
है अचरज भी, वाञ्छा भी,
उन मे चिर-जीवन भी है,
नवजीवन की याञ्चा भी,
जग-मग निहार कर जग को
आश्चर्य भरा नैनो मे
जग नायक के पाने का
औत्सुक्य भरा बैनो मे,
ऊषा जग-नट-नागर को
नित ढूँढ-ढूँढ कर हारी,
उत्कठा लिए हिये मे,
यो ही रह गई बिचारी ।

४९

ऊषा के मजुल क्षण मे
कौतुकमय करुणा छलकी,
प्रिय-दर्शन की उत्कठा
मानो नयनो से ढलकी,

लाली सी फैल गई कुछ,
कुछ उजियाली-सी छाई,
ज्यो शुभ्र वस्त्र पर, हिय ने—
आरक्त फुई बरसाई,

जग कुछ चिहुका, कुछ उझका,
कुछ झिझका उन्निद्रित-सा,
कुछ लगा ढूँढने रह-रह,
सालस सा, कुछ तन्द्रित सा।

५०

आता प्रभात कर मे ले,
रवि-दीप-आरती थाली,
मुखरित हो उठती सहसा,
हर पत्ती डाली-डाली,

करता आरती नियम से
प्रतिदिन यह सुभग सबेरा,
पर, उसे मिला न अभी तक
इस जग का चित्र-चितेरा!

यह व्यक्त सबेरा जिस दिन,
अव्यक्त काल हो लेगा,
उस दिन पिय को पाएगा,
जब अपना पन खो देगा।

५१

है अष्टयाम तप करते
रवि अंशुमान तपधारी,
है ढूँढ रहे कुछ, निशि-दिन
यों बने हुए नभचारी,—
है कुछ धुन इन्हें, बने जो—
ये ऐसे गगन बिहारी,
विश्राम नाम को भी ये
भूले है कल्मष हारी,
है खोज इन्हें जिसकी वह
है छिपा कही ऐसे स्थल,
है जहाँ न गति गति की भी,
है वह थल निभृत विविस्थल।

५२

प्रति निमिष, मुहूर्त, प्रतिक्षण,
प्रति पल, प्रति घटिका, सरणी,
ये सब मिल फेर रहे हैं
उसकी सन्नाम-सुमरनी,
आते-जाते ये निशि-दिन,—
यह उजियारा, अँधियारा,
यह आकर्षण, अपकर्षण,—
घन गर्जन, यह जलधारा,—
ये देश काल घटनाये,
ये चलन कलन मय कृतियाँ,—
नित प्रति सब ढूँढ रहे है
विभु के रहस्य की सृतियाँ।

५३

क्षण-क्षण मे इसीलिए तो
अन्वेषण-व्यथा भरी है,
कण-कण मे इसीलिए यह
आकर्षण-कथा भरी है ;

जड आकर्षण, आतुरता—
ढुलका-ढुलका, बहता है,
चेतन हिय यह कँप-कँप के,
नित क्वासि ? क्वासि ? कहता है,

परदे मे छुप के, निष्ठुर,
क्यो देते हो यह पीडा ?
मत विलग रहो इक छिन भी,
अब आओ करते क्रीडा ।

५४

आ जाओ ठुमुक-ठुमुक के
जल-थल मे, जड-चेतन मे,
हो जाओ प्रकट सलोने,
क्षण-क्षण मे, औ कण-कण मे,

जग की वियोग की ज्वाला
कुछ शान्त करो, आ जाओ,
ब्रह्माण्ड निखिल को अब मत
तुम और अधिक बिलखाओ ,

जब से ब्रह्माण्ड हुआ है
तुम से यह अलग अकेला,
प्रत्येक बिन्दु मे तब से
भर गया दरद अलबेला ।

५५

मानव-हिय मे विम्बित है
इस चिर-वियोग की झॉई,
है इसीलिए जीवन मे
पड रही दु ख-परछॉई,
ऑसू, हिचकी, आहे ये
हृदय-स्पन्दन, आकुलता,
यह लगन बावरी, भोली,
यह हिय-वेदना-अतुलता,
हिय का खिच-खिच के क्षण-क्षण
यो टुकडे-टुकडे होना,
हे ये चिर दुख के प्रतिनिधि
यह करुण गीत, यह रोना।

५६

यह चिर अतीत दुख-गाथा,
यह नित नवीन विरहानल,
यह क्रम अनन्त सम्भ्रम का,
यह अचल वियोग हिमाचल,
यह असन्तोष, यह तडपन,
यह लगन अटपटी बौरी,
ऑखो का लग जाना यह
हिय का खिचना बरजोरी,
ये सब मानव-अन्तर मे
चिर विप्लव मचा रहे है,
हृदय-स्पन्दन के मिस ये,
सब जग को नचा रहे है।

५७

आँसू उमडे अन्तर से,
चिर हिय-मन्थन के फल ये,
सम्भूत हुए हृत्तल मे,
वेदना-प्रसाद-विकल ये,
चिर विरह्-वल्लरी पर ये
अभिषिक्त ओस-जल-कण से,
झर उठे आह्-आलोडित,
सुकुमार तरल कम्पन से,
नित मगन लगन-लतिका के
ये कीर्णित, कुसुम कलित से,
अति अतल विरह्-वारिधि के
ये मोती अमल, ललित से।

५८

जीवन मे चलते-चलते
मिल गई वेदना-बाला,
अति प्रखर विरह्-शूलो मे
पड गया हिये मे छाला,
पीतम का मान मनाने
हिय अकुलाया मतवाला,
आँखो ने बडे जतन से
गूँथी यह मोहन-माला,
पिय के अदृष्ट चरणो मे
लिपटी ये तरला लडियाँ
अथवा पड गई अलख-सी
ये स्नेह-शृंखला-कडियाँ।

५९

आँसू से मीच रहा है,
जीवन का पादप कोई
पत्तियाँ मनोरथ की ये
सिहरी हैं धोई-धोई,
जीवन-ऋतुओं को हिय ने
पावसमय बना दिया है,
सब आशाओं को इस ने
क्या ही अनमना किया है ?
जब देखो तो बादल-सा
उमडा-घुमडा रहता है,
जब देखो, दम बेचारा
उखडा-उखडा रहता है ।

६०

वेदना-अथक पनिहारिनि,
है आह लचीली रसरी,
हिय गहर गभीर कुँआ है,
है नयन छलकती गगरी,
है स्मृति रस्सी का फन्दा,
संकल्प बना घट-भ ब भ ब,
श्वासारोहण अवरोहण
है घट का खिचना जब-तब,
भर-भर कर ढरकाती है
वेदना नयन-गगरी को,
पंकिल कर-कर देती है
लघु आशा की डगरी को ।

६१

विस्तीर्ण प्रतीक्षा पथ के
ये समय-क्षण रजकण है,
नैराश्य-कुहू छाई है,
आशका रूप पवन है ,
कम्पित विश्वास-लकुटिया,
है लगन दीप की बाती,
आशा-यात्रिणी अकेली,
छिन-छिन कँपती, अकुलाती ,
मग जोह रही है कब से
प्यासी आँखे अकुलानी,
अन्तर्ज्वाला बह निकली
हो कर के पानी-पानी ।

६२

क्या ही विचित्र कौतुक यह—
अगारो से जल टपके,
पत्थर से पानी निकले,
पानी मे लपटे लपके,
मँडराते हुए धुँए मे
भर देता कोई पानी,
वह अलख वेदना-दानी
करता हैं यो मन-मानी ,
आँसू, विरोध-छाया के
है तत्त्व-रूप ये मानो,
वा मूक पुकारो के है
अपनत्त्व-रूप ये मानो ।

६३

इच्छा–कारीगरनी है,
सुन्दर कल्पना-भवन है,
ऑंखो के ये डह-डहते
आकुल से वातायन है,
सोपान आँसुओ के ये
चढने को बने वहाँ पर,
चढते-चढते फिसले है
आशा कॅप-कॅप कर थर-थर,
ओ निठुर नैक आकर के
तुम पॉव थाम दो इस के,
देखो, वेचारी कब से
यह खडी-खडी है सिसके ।

६४

ये आँखे भिगो रही है
पिय-पथ के धूल-कणो को,
नित्य-प्रति सीच रही है
ये विरह-त्रिशूल क्षणो को,
विस्तीर्ण प्रतीक्षा-पथ को
जल-सिक्त कर रही है ये,
अथवा रसमय हिय-निधि को–
नित रिक्त कर रही है ये,
उतराती सी अकुलाती,
झर-झर आती है जब-तब,
बिन कहे अकारण ही ये,
भर-भर उठती है डब-डब ।

६५

प्रिय-पथ बुहारती रहती
दृग पक्ष्म सुसम्मार्जनियाँ,
आँखे बरसाती रहती
छिन-छिन मे जल की कणियाँ,
पीतम आवे रिमझिम मे,
इस आशा से झर-झर के,
ढरकी रस की धाराएँ,
नयनाजलियाँ भर-भर के,
आते ही होगे प्रीतम,
यह साध हिये मे धर के,
जी उठी शिथिल हिय-आशा,
वह कई बार मर-मर के ।

६६

इस अलग-थलग सत्ता को,
इस स्वार्थमयी रटना को,
इस स्वकेन्द्रिता माया को,
इस वैयक्तिक घटना को,
उत्सर्ग-स्वरूप बनाया,
करुणा-रस पूरित करके,
हिय कूप, समुद्र बनाया,
यह लवण अश्रु-जल भर के,
है बडी ईश-अनुकम्पा,
सकरुण हृदय-स्पन्दन से—
छुट गई भावना मन की
दृढ स्वार्थ मूल बन्धन से ।

६७

है अश्रु–तत्व प्रजनन का,
है अश्रु–सार ससृति का,
है अश्रु–तार विधना की
इस मोहनमाला कृति का,
व्यक्ति मे व्यक्ति गुम्फित कर–
इस जल की तरल लडी मे,–
सामूहिकता उपजाई
वैयक्तिक कडी-कडी मे,
करुणा विगलित धारा के–
धागे मे गुँथा सकल जग,
नयनो से सिक्त हुआ है,
कँकरीला जीवन का मग ।

६८

कितनी ही विरह-स्मृतियाँ
है गुँथी अश्रु-लडियो मे,
उमडी अनेक चिन्ताएँ
इन रोदन की घडियो मे,
है गुथे वेदना-मोती
आँसू की तरल लडी मे,
ज्यो उलझा हो हिय-कम्पन
सकरुण सगीत-कडी मे,
हिय की सब सचित करुणा
नित झरती ही रहती है,
अनजाने लोचन-पथ मे
कुछ डरती-सी बहती है ।

६९

जग क्या है ? करुण विरह की
धुँधली-सी परछाई है,
जग-नयनो की बूँदो मे
अपने-पन की झाँई है,

जब अश्रु-सलिल मे 'मै' ने
प्रतिबिम्ब निहारा अपना,
तब मूर्त्त-रूप बन आया—
मन का यह कल्पित सपना,

अश्रु के बिम्ब से प्रकटी
सचराचर की क्रीडाएँ,
परछाँई से प्रकटी है
ये करुण विरह-पीडाएँ ।

७०

है प्रलय-अश्रु का शोषण,
उद्भाव-अश्रु-वर्षण है,
सकर्षण-शून्य प्रलय है,
उद्भव-हिय सघर्षण है,

आँसू सूखे, जग डूबा,
आँसू बरसे, जग सरसा,
आँसू के सिचन से है
यह सब जग अजर-अमर सा,

जग आँसू की खेती है,
है विश्व बूँद नैनो की,
है सृष्टि एक प्रति-छाया
उन अलख नैन-सैनो की ।

७१

आँसू प्रणोदनामय है,
आँसू है प्रेरक कृति के,
आँसू आधार बने है
इस निराधार ससृति के,
रति-प्रेरक, मति-गति-प्रेरक,
सगीत-प्रणोदक आँसू,
आँसू—ध्वन्योत्पादक ये,
ये प्रीति-प्रमोदक आसू,
प्रतिबिम्बत करते बहते
युग-युग की व्यथा पुरानी,
छल-छल कर कहते रहते,
हिय की वेदना-कहानी ।

७२

करुणा ने विगलित करके,
अन्तर के अटल उपल को,
प्रकटाया प्रीति-व्यथा के
अति विरहित तरल सुफल को,
लोचन-खिडकियाँ उघाडे
आते है ललक-ललक ये,
हिय-भवन रिक्त-सा करते
जाते है ढलक-ढलक ये
भीगा वक्षस्थल, भीगे—
ये लोल-कपोल, पलक ये,
झर गिरे श्वास आकर्षित,
जीवन-तरु के अमलक ये ।

७३

अति दूर, सुदूर न जाने
कितनी दूरी से आता,
वशी का वह स्वर-कपन
आकर हिय तरसा जाता,
आ रही कहाँ से, बोलो,
ध्वनि, मीड, मरोर सिसकती,
अन्तर मे पैठ रही है,
आतुर सो तनिक झिझकती,
स्वर-दरद दिया है जिस ने
वह अलख बाँसुरी वाला,
छिप रहा कही अन्तर मे,
पहने आँसू की माला ।

७४

स्वरमय वादन-साधन मे
भर अमर बिथा अलबेली,
उलझा दी फिर से किस ने
करुणा की गूढ पहेली ?
सगीत-प्रसारण के मिस
कठो से उमडी करुणा,
स्वर-अवलम्बन वाद्यो से,
वह उठी वेदना अरुणा,
गायन मे रोदन भर के
जग लूट लिया छिन भर मे,
किस ने करुणा यह भर दी
सगीत सुधामय स्वर मे ?

७५

भूमडल और खमडल
तूँबियाँ बनी ध्वनि-चलिता,
नक्षत्रो की अगणित-सी
खूँटियाँ बनी प्रज्वलिता,
आकर्षण-अपकर्षण के
तारो का जाल बिछा है,
चिर काल-दारु है, उस मे-
करुणा-सगीत खिचा है,
है वीणकार पट पीछे
स्वर पीडा सरसाता है
ध्वनि-विन्यासो के मिस से,
नित करुणा बरसाता है ।

७६

ब्रह्माड-रूप वीणा की
लघु वाणी प्रतिछाया है,
हाँ, इसीलिए इस मे भी
कारुणिक सुरित-माया है,
करुणा रुण-रुण कर बहती
तारो की झकारो से,
हिय आकुल हो उठता है
कम्पित स्वर-सचारो से,
वर की मरोर से लगती
प्राणो को आकुल फाँसी,
सस्मरण और कस देते
साँसत की वह स्वर-गाँसी ।

७७

आकाश-रूप बाँसुरिया,—
शून्यता-रन्ध्र अगणित हैं,—
नित वायु-श्वास से निशि-दिन
यह मनहर वेणु क्वणित है ;

नित अलख अँगुलियाँ करती
स्वर-गतियो का परिचालन,
यो ही जग मे होता है
करुणा-व्रत का प्रतिपालन ,

वेदना जगा देते है
स्वर पैठ-पैठ अन्तर मे,
भर देते है स्वर-पीडा
जगती के अभ्यन्तर मे ।

७८

बज उठती है कम्पित-सी
मुरली, सुर-लीला करती,
उत्कठा जागृत करती,
अन्तस्तल मे ध्वनि भरती ,

ये प्राण आप ही बरबस
खिच जाते है ध्वनि सुन के,
बन्धन ढीले पडते है
सब लोक-लाज के गुण के ,

दे रहा दरद चुपके से,
वह अलख बाँसुरी वाला,
प्राणो को तडपाता है,
वह पीर-पाँसुरी वाला ।

७६

जब कूक भरी वशी यह
हिय हूक जगा जाती है,
तब सूने अन्तस्तल मे
चिर-लगन लगा जाती है;
रन्ध्रो से सप्त स्वरो की
उलझी-सी पीडा बहती,
वह रोम-रोम को अह-रह
क्षण-क्षण सिहराती रहती,
स्वर-टीप मुरलिया की सुन
हिय-टीस रसक उठती है,
आमन्त्रित अभिलाषा की
यह सिसक, कसक उठती है।

८०

स्वर बडी दूर से आते
सूनेपन मे रह-रह के,
स्वर सग मिलन की स्मृतियाँ
आ जाती है बह-बह के,
आतुरता से भर जाते
पल निमिष, सभी अहरह के,
अन्तर मे स्वर घुसते है
कानो मे कुछ कह-कह के,
ओ विश्व-दरद-दीवाने,
ओ अलख-वेदना-दानी,
क्यो फैली, तनिक बता दो,
जल थल मे बिथा परानी ?

८१

वीणा, तम्बूर, सरगी,
यह बाँसुरिया धुनवाली,
ये तार ताँत के बाजे,
यह मुद मृदग गुणवाली ,
श्वासोत्प्राणित मृदु स्वर ये,
अगुलि-प्रहार-मय यह लय,
ये सब देते रहते है
नित अमित व्यथा का परिचय,
यह विश्व-वेदना क्यो है ?
क्यो है यह चिन्तन-पीडा ?
ओ लीलामय, तुम यो क्यो
करते हो करुणा-क्रीडा ?

८२

सुख की गहराई मे भी
शाश्वत दुःख की झलक है,
आनन्द मुदित नयनो मे
चिर निरानन्द अपलक है ,
दुख ही दुख लहराता है
सुख के अस्थिर हियतल मे,
बडवानल मँडराता है
कल्लोलित क्षुब्ध अतल मे ,
सगीत-लहर से रह-रह
जग मे करुणा उमडी है,
रोदन कपन से झकृत
गायन की कडी-कडी है ।

८३

सभूत महाभूतो मे,
उद्भूत वनस्पतियो मे,
सचरित प्राण लहरी मे,
जीवनोत्क्रमण-गतियो मे,
है छिपी एक आतुरता,
वेदना एक गति चलिता,
सब मे है झलक दिखाती
अरुणा करुणा उच्छलिता,
ना जाने, किस क्षण, कैसे,
जग गई ज्योति प्रज्वलिता ?
है बहा रही आँसू यह,
विगलिता वेदना ललिता ।

८४

अँधियारे-उजियाले मे,—
अणु-अणु मे, रज-कण-कण मे,—
इन सब पार्थिव तत्वो मे,—
पल-निमिषो मे, क्षण-क्षण मे,—
अग्नि मे, वायु-कम्पन मे,—
जल-वर्षण, नभ-घर्षण मे,—
मन-हरण किरण-नर्तन मे—
आकर्षण-अपकर्षण मे,—
निशि-दिन मे, साँझ-सवेरे,—
इस गतिमय चलन-कलन म, —
दुख ही दुख भरा हुआ है,
ससृति के नियम-वहन मे ।

८५

नूपुर के रुन-झुन-झुन मे,–
गायन मे, स्वर-साधन मे,–
आतुरता-पुलकित तन मे,–
निष्ठुर प्रिय-आराधन मे,–
मन मे, हृदय-स्पन्दन मे,–
रोदन-स्वन मे, कम्पन मे,–
हिचकी के गुण-बन्धन मे,–
चुम्बन मे, परिरम्भण मे,–
वेदना अरुण लहराई,
रतनारी करुणा छाई,
हो गई चेतना के मिस
हिय की वेदना-सगाई ।

८६

जल-थल की यह आकुलता,
विह्वलता इतनी सारी,
युग-युग की यह आतुरता,
यह मगन लगन रतनारी,
जगती की इतनी करुणा,
यह शाश्वत व्यथा घनी-सी,
ऊर्म्मिला-हृदय मे उट्ठी
यह टीस मसोस सनी-सी,
इस अचर-सचर जग भर की
वेदना घुमड कर आई
ऊर्म्मिला बहू के आँगन
घन-राशि घुमड कर छाई ।

८७

वैयक्तिक व्यथा जगत की,
जन गण की कसक-कहानी,
अति परिधि-गता करुणा यह,
उत्कंठा छानी-छानी,
यह कसक-सिसक अलबेली,
यह मीड, मरोर पुरानी,
यह टीस, अथोर घनेरी,
हृदयान्दोलिका अयानी,
ये विश्व-वेदना की है
जीवन-बिम्बित प्रतिछाया,
ब्रह्माड-व्यथा ही ने यह
आरक्त विन्दु छिटकाया ।

८८

आती-जाती रहती है
पतझड की आकुल घडियाँ,
झरती-उगती रहती है
पत्तियाँ और पखडियाँ,
निशि-दिन यह पवन निगोडी
सन-सन करती बहती है,
छिन-छिन टल्ला दे-दे के
अपनी कहती रहती है,
यो उमड रही है करुणा
ऊर्म्मिला बहू के आँगन,
हिय मे निदाघ रहता है,
नयनो मे बसता सावन ।

८९

इस विरह-जन्य तडपन मे
नि सीमित करुणा उमडी,
पीडा छाई जन-पद मे,
वन बसा, अयोध्या उजडी,
उखडी आकुल प्राणो की
ये श्वासोच्छ्वास-तरगे,
शिथिला हो गई अचानक
जीवन की सरस उमगे,
कल नयन-नदी बढ आई,
हो गई वेदना गहरी,
ऊर्म्मिला-हृदय मे आकर
यह विश्व-वेदना ठहरी ।

९०

लक्ष्मण-विछोह से हिय मे
जग गई साधना तप की,
आँसू के मिस अन्तर से
श्रद्धा की अजलि टपकी,
यह अवधि-दीप बन आई,
पीतम स्मृति-दीपक बाती,
हिय लगन जगी लौ बन के
मजुल प्रकाश फैलाती,
इस समय प्रतीक्षा-मग मे
ऊर्म्मिला लिए निज दीपक,
बैठी है जोगन् बन के
नित बाट जोहती अपलक ।

९१

आशकाओ की आँधी,
भय, अविश्वास के बादल,
कम्पित करते रहते है
स्मृति-दीप-शिखा को प्रतिपल,
दृढ श्रद्धाचल से रक्षित
वह ज्योति अखड जगी है,
बुझने की कभी नही वह,
लौ ऐसी भली लगी है,
योगिनी सतत जपती है
अपने योगी की माला,
आँसू से बुझा रही है
वह अन्तरतर की ज्वाला ।

९२

लुट गई ऊर्म्मिला पल मे
देकर अपना जीवन-धन,
पिय के विछोह की लपटे
बन आई यज्ञ-हुताशन,
विरहानल मय मरुथल मे
खिल उठी तपस्या-कलियाँ,
हिय धडकन बनी सुमरनी,
सस्मृति बन गई अँगुलियाँ,
वन-वास-अवधि के दिन छिन,
मनके बन गए बडे से,
हो गए प्राण कुछ आकुल,
कुछ-कुछ उखडे-उखडे से ।

६३

क्रन्दन निस्पन्दन व्रण की
विस्तृत-सी करुण कहानी,
बिछुडन के समय-पटल पे
लिख रही ऊर्म्मिला रानी,
आँसू स्याही बन आए,
मसि-भाजन नेत्र बने ये,
बन गए पर्व गाथा के
सकल्प-विकल्प घने ये,
कम्पित लेखनी बनी है
ऊर्म्मिला-हृदय की धडकन,
गम्भीर विछोह व्यथा से
आकुल है कोमल तन-मन ।

६४

है वही ऊर्म्मिला-पीडा
उसकी अपनी ही बीती,
हो गई ढुलक कर उसमे
चर-अचर-व्यथा सब रीती,
उसकी उस विरह-व्यथा मे
बिम्बित है जग की करुणा,
उस के हृदय-स्पन्दन मे
ह विश्व-वेदना अरुणा,
जग का यो अलग-अलग-सा,
सक्रम ही बिछुडन मय है,
लक्ष्मण का विपिन-गमन ही
ऊर्म्मिला वियोग-निलय है ।

९५

सस्मरण-सघन-घन छाए,
नयनो से बरस पडे ये,
मन-नभ मे नि श्वासो के
झझानिल-से झगडे ये ,
मानस दिगन्त मे उट्ठी,—
स्मृति-मेघ-मालिका गहरी,
उठ चली टीस बिजली-सी
आहो मिस घन-ध्वनि गहरी ,
अभ्रावृत, तरणि-किरण-सी
चमकी आशा रह-रह के,
हृदयाकाश मे तडप कर
नित मौन पपीहे चहके ।

९६

सुख-सस्मृति-मय वह जीवन
बन गया क्षणिक सुख-सपना,
रह गया ऊर्म्मिला के ढिग
बस लखन नाम का जपना ;
अपना सर्वस्व लुटा कर,
मानवता के चरणो मे,
ऊर्म्मिला खो गई सहसा,
दुख के घन आवरणो मे
पिय विरह जनित नित दुख से
जीवन बन गया उलहना,
जीवन का ध्येय बना है
यह विषय वेदना सहना ।

९७

अपने पीतम की छबि का
नयनो मे बिम्ब उतारे,
बैठी है लक्ष्मण-रानी
प्रतिबिम्ब हिए मे धारे ,
यह आँख-मिचौनी-क्रीडा,
यह अपलक झलक सुहावन,
वेदना-दानिनी बन के
वरसाती है नित सावन ,
उठ-उठ कर थहराती है
ये मेघावलियाँ काली,
बन गई निमिष मे सहसा,
उजियाली भी अँधियाली ।

९८

दुख के सस्मरणों के ये
गरबीले मेघा बरसे,
जितने बरसे उतने ही
ये प्राण-पपीहे तरसे,
मूसलाधार धाराएँ
उठ धाई मन-अम्बर से,
वेदना हूक उठ आई
जगती के अन्तरतर से,
आँधी, पानी, पकिल थल,
जीवन मे मिले घनेरे,
दुख-सार भूत बन आए
जीवन के साँझ-सबेरे ।

९९

छिन दामिनियाँ, छिन गर्जन,
छिन धाराएँ, छिन बादल,
छिन उपल विपुल, छिन फुहियाँ,
छिन उथल-पुथल, अति चचल,
यो ही ऊर्म्मिला सलौनी
नित बिता रही निज जीवन,
आकुलता से पूरित है
उनके जीवन के क्षण-क्षण,
मन विकल, प्राण ये बेकल,
हिय व्याकुल, चित विरहाकुल,
ऊर्म्मिला-वेदना अमिता,
उमडी नयनो से ढुल-ढुल ।

१००

चल देख, कल्पने, उनको
सन्ध्या के मौन क्षणो मे,
चुपके-चुपके नत हो जा
उनके युग श्रीचरणो मे,
बैठी है देवि सुमित्रा
करके शुचि सन्ध्या-वदन,
उमडी नि श्वास हठीली,
धडका हिय का निस्पन्दन,
अनबोली सी बैठी है
पार्श्व मे ऊर्म्मिला भोली,
ज्यो निपट धीरता के ढिग,
बैठी करुणा अनबोली ।

१०१

दिन थक कर मुरझ गया है
सन्ध्या के पल-अचल मे,
श्रम श्रान्ति व्यथा उमडी है
खग वृन्दो के कल-कल मे,
गोधूली की वेला मे
धूमिल-सा हुआ दिगम्बर,
छाया औदास्य हृदय मे
कँप उठी वेदना थर-थर,
डर-डर कर धर पग धीरे
नभ मे अँधियाला आया,
लुट चला उजेला छिन मे
बढ चली तिमिर की छाया ।

१०२

सस्मरण-विहगम आए
हिय-नीड-निलय मे अपने,
कलरव से मानस-अम्बर—
लग गया निमिष मे कँपने,
क्या दरद पराया जाने
यह बाझ साझ अलबेली ?
सुख-स्मृति बटोर लाती है
नित यह बेदरद अकेली,
मधुमय सँजोग की स्मृतियाँ
हिय की गुप-चुप प्रिय बतियाँ,
सन्ध्या बाँधे अचल मे
लाती है कई सुरतियाँ ।

१०३

वे कई मधुर घटिकाएँ
कल्लोल भरी लहराती,
सन्ध्या के सूने क्षण मे
आ जाती है मदमाती,
अभिशाप रूप बन जाते
सुख क सस्मरण निराले,
दुखदाई हो जाते है
ये अति दुलार के पाले,
बैठी है सॉस-बहू ये
सन्ध्या के नीरव क्षण मे,
जीवन की कसक-कहानी
उट्ठी है उनके मन मे ।

१०४

करुणा की इन छवियो के,
कल्पने, सान्ध्य-दर्शन कर,
चुपके तू, अरी, चली आ,
उनकी पद-रज शिर पर धर ,
चिर-विरह-वेदना की है,
यो उलझी हुई कहानी,
फिर कभी उसे सुलझाना,
सुन अरी, कल्पने रानी !
दर्शन कर, दीक्षित हो जा
तू करुण-रहस्य अगम मे,
तब गाना विरह कथानक
कपित स्वर कोमलतम मे ।

इति श्री चतुर्थ सर्ग
श्री मातृ ऊर्म्मिला चरणकमलार्पणमस्तु ।

अथ श्री पंचम सर्ग

१

छूट्यो सँग सपनो, मिट्यो लघु सँयोग अभिशाप,
चिर वरदान वियोग कौ, मिल्यौ आपु ही आप ।

२

चले जाहु भोरे सजन, अनबोले, सकुचात,
हिय की हिय मे रहि गई, नैकु न निकसी बात ।

३

प्यार कहानी हृदय मे, अरुझानी अकुलाय,
बाणी अटकी कठ मे, हे मेरे रसराय ।

४

वे स्वप्निल रतियाँ मधुर, वे बतियाँ चुपचाप,
ह्वै विलीन हिय मे, बनी आज विछौह-विलाप ।

५

साजन, सस्मृति नेह की, खटकि-खटकि रहि जाय,
अटकि-अटकि आसू झरे, भरै हृदय निरुपाय ।

६

रसक्रीडा, व्रीडा सलज, पीडा बनी गभीर,
रति सस्मृति निशिता अनी, बनी हिये की पीर ।

७

मुरि जनि देखहु तुम इतै, हे सुकुमार कुमार,
अरुझि जाइँगे दृग, इहा बिछे साँस के तार ।

८

बीहड कानन सम भयो, जीवन-वन एकान्त,
सघन विरह-पल्लवन सौं, भयो प्रपूर्ण दिनान्त ।

९

दुसह बिथा के जमि गए, विकट झार-झखार,
नित सकल्प-विकल्प के, ठाढे भए पहार ।

१०

निपट निराशा-सिहनी, गरजि रही घनघोर,
लिए सग भय-शावकन्हिँ, डोलि रही चहुँ ओर ।

११

गहि प्रत्यचा पलक की, भ्रकुटी तीर कमान,
आखेटक, आवहु इतै, साधि निशित दृग बान ।

१२

अहो अरण्यक, ह्वै गयो, जीवन गहन अरण्य,
छाँडि विजन, आवहु, इतै बसहु सनेह शरण्य ।

१३

वन लोभी तुम, विपिन प्रिय, अहो सुमित्रालाल,
मम जीवन-वन मे तनिक, चलहु अटपटी चाल ।

१४

जीवन-अटवी मे बिछ गत सस्मृति के शूल,
कटक प्रिय, कबहू इतै, तुम आवहु पथ भूल ।

१५

जा छिन जीवन की उठी, प्रथम पुलक मुदमान,
ताई छिन तै हौ तुम्हे, ढूढि रही अनजान ।

१६

देस काल के गरभ मे, हौ पैठी अकुलाय,
ढूढि थकी तुमकौ, सजन, भेस अनेक बनाय ।

१७

उद्भिज, अडज, खनिज लौ, स्वदज, जलज अनेक,
रूप धरे, पै ना मिट्यो, यह वियोग अविवेक ।

१८

कछु छिन, तुम ने करि कृपा, या जीवन मे आय,
दियो दान सयोग को हौ हुलसी हरषाय ।

१६

अब वे छिन सपने भए, गए सुदूर पराय,
निपट निराशा-जलधि मे, रह्यो हृदय उतराय ।

२०

विपिन बिहारी हौं नटी, तुम नट सुघर प्रवीन,
मो बिन कैसे होउगे, रग-मच-रस-लीन ?

२१

सूत्रधार तुम, सुनट तुम, तुम नाटक के प्रान,
हौ प्रवीन नट नागरी, रस-भावना-प्रधान ।

२२

अहो तनिक ठाढै रहो, झटकि बाँह जनि जाहु,
निभृत नृत्य शाला भई, आहु, सजन, गृह आहु ।

२३

जीवन नाटक के परे, रीते अक अनेक,
आवहु खेलहु तुम इतै, छिटकावहु स्मिति-रेख ।

२४

विकल प्राण, आकुल नयन, व्याकुल मन, तन छीन,
बुद्धि चकित, हिय दुख-निरत, 'अह' सुरत-रस-लीन ।

२५

जग सूनो, हिय रचि रह्यो, सजन, बिथा के रग,
मानस - मडल मे छई, यह वेदना ग्रनग ।

२६

मन-ग्रम्बर मे कँपि रही, विरह-वेदना-चग,
ग्रवधि-डोरि काटहु, पिया, चलहु मोहि लै सग ।

२७

सपने की खिरकीन तै कबहू तो प्राणेश,
झाकि देखि जायो करो, ग्रर्ध-चेतना देश ।

२८

जनम जनम की साधना के मम फल हृदयेश,
भले गए तुम विजन, लै नव चेतन सन्देश ।

२९

जानि गई सहसा, सजन, यहै बात सविशेष,
मोहि मिले है एक सग, क्लेश ग्रौर प्रेमेश ।

३०

सिहरि-सिहरि रहि जाति है, हृदय-वल्लरी दीन,
नैक समाश्रय देहु, हे मेरे विटप नवीन ।

३१

मो अँगना फुहिया बरसि, सुइयाँ-सी चुभि जाँय,
घन-छहिया, बहिया पकरि, लाई विरह बुलाय ।

३२

धोए-धोए-से सघन, द्रुम पल्लवन्हि निहारि,
कसक, सिसक मिस बहि चली, नयन उघारि-उघारि ।

३३

घन आए, छाई घटा, हहरि गिरी जल धार,
घहरि-घहरि गरजी बिथा, हिय बिच बारम्बार ।

३४

छाय रह्यो हिय गगन मे, घटा टोप घनघोर,
चमकावहु स्मित-किरण निज, इत अहो चितचोर ।

३५

भई भली, संगिनि मिली, यह करुणा गुणहीन,
चलै साधना-पथ, पथिक, हौ, तुम, करुणा तीन ।

३६

मन डोल्यो-डोल्यो फिरै, पावस मे दिन रैन,
कहा कहौ याकी कथा ? पावत नैक न चैन ।

३७

जल बरसत, कसकत हृदय, भारी-भारी होय,
बरसावत मद रग कोउ, घन चूनरी निचोय ।

३८

गिरत परत उठि-उठि चलत, गूधत बीच सनेह,
ढूंढि रही इत-उत तुम्हे, हिय-वेदना अदेह ।

३९

जलधारा मिस ढुरि पर्यो, नभ-करुणा-उद्रेक,
बुद्-बुद् मिस भू वक्ष पे छाले परे अनेक ।

४०

जल भीनी द्रुम-वल्लरी, झुमि-झूमि इठलाति,
अश्रु-सिक्त नित हरित ज्यो, बिया-बेलि लहराति ।

४१

सिहरि-सिहरि रहि जात है, वायु-विडोलित पात,
ज्यो उसाँस ते कँपत है रोम-रोम सब गात ।

४२

पवन-बीजना लगत ही, झरत विटप-जल-बिन्दु,
आह उठत ही झरत ज्यो, नयन बिन्दु मय सिन्धु ।

४३

मेरी हलकी चुनरिया, रँगी तिहारे रग,
देखहु, इत-उत चुअत है, अरुणा करुण उमग ।

४४

रँग्यो-रँग्यो-सो लगि रह्यो, नभ को नील दुकूल,
पवन उडावत जात ये, मेघ खड के तूल ।

४५

नील-गगन-हिय मे उडे, दल बादल के ठाट,
यो सकल्पन को उडत , हिय बिच धूम्र विराट ।

४६

कबहुँ-कबहुँ बदरान के, वक्षस्थल को चीर,
दिनकर प्रकटत, ज्यो प्रकट होत हिये की पीर ।

४७

गग-जमुन ज्यो मिलत है, श्री प्रयाग मे आय,
त्यो अँखियन की दोउ नदी, अक मध्य मिलि जायँ ।

४८

सिसक--लहर, हिचकी--भवर, आह भई कल नाद,
नयन--द्विवेणी तै उमडि, छलक्यो फेन-विषाद ।

४६

उतै जात बढि दृग नदी, जितै प्रपूर्ण समुद्र,
करै कृपा जो उदधि, तो मिटै भावना क्षुद्र ।

५०

भूलि अ्रह लघु हौ तुम्हे पाय न सकिहौ, प्राण,
हौ दासी, तुम सेव्य मम, मेरो यहै विधान ।

५१

मैं तुम रूप न होउगी, तुम मो मे रमि जाहु,
सूनी परी कुटीर मम, आहु सजन गृह आहु ।

५२

शून्य रूप ह्वै कै तुम्हे, कैसे पावो नाथ ?
मेरे या लघु 'अ्रह' कौ, करौ सनेह-सनाथ ।

५३

नित्य निवेदित हृदय मम, शून्य रूप ना होय,
हिय ढरकावत नयन तैं, नेह निचोय-निचोय ।

५४

एक रूप ह्वै कै कहहु, कैसे करिये प्रेम ?
प्रेमी प्रेमिक एक, तब, कितै नेह को नेम ?

५५

दरस-पिपासा जो मिटै तो यह कैसो नेह ?
बरसावहु प्रिय, द्वैत को रिमझिम-रिमझिम मेह ।

५६

ह्वै अदेह कोऊ भजै, हौ सदेह सुकुमारि,
चरण वन्दना करति हौ, हृदय निहारि-निहारि ।

५७

जोहत-जोहत बाट, ये बीते दिवस अनेक,
पिय मम हिय मे ह्वै रह्यो, यह बिछोह अतिरेक ।

५८

रात अँधेर पाख की, दीपक-हीन कुटीर,
आय सँजोवहु दीयरा, हियरा भयो अधीर ।

५९

तैल हीन, रीती, इतं मम प्रदीप की सीप,
उत सिगरे घर घरन मे, जगे सँजोग प्रदीप ।

६०

कारो अम्बर ओढि कै आवत कारी रात,
वह छानी मानी कहत, अति अँधियारी बात ।

६१

मॉय-सॉय हिय करि रह्यो, मॉय मॉय जिय होत,
सॉय-मॉय निशि करति है बहत नयन-जल-सोत ।

६२

कारी निशि, कारी अवनि, कारी दिशि चुपचाप,
कारी नयन कनीनिका, कारे केस-कलाप ।

६३

कारे द्रुम, कारी लता, कारो सब ससार,
कारो-कारो ह्वै रह्यो, हिय-बिछोह-सचार ।

६४

पिय, इन कारे छिनन मे, तिय हिय अति अकुलाय,
मौन रुदन मन करि रह्यौ तुमहि बुलाय-बुलाय ।

६५

कारी निशि ते भर गई, हिय मे झाई श्याम,
भई जाति हौ बावरी, टूटत सयम-दाम ।

६६

झिल-मिल झिल-मिल करतु है, श्याम नैग आकास,
तपकि-तपकि रहि जात ज्यो, हिय-वेदना-विकास ।

६७

अँधियारी अध रात की, कँपि-कँपि अम्बर बीच,–
सीकर–कण मिस, वेदना रही हिये बिच सीच ।

६८

नीद निगोडी छाँडि के दृग को निर्झर देस,
चली गई वा पार, पिय, कहूँ दूर परदेश ।

६९

घन अँधियारो, रात की निपट बलैयाँ लेत,
ज्यो झुकि-झुकि कोउ नेह-घन, हृदय उडेले देत ।

७०

निशा बनू हौ, तुम बनौ निबिड तिमिर घन, प्रान,
झुकि छावहु ह्वै के, गहन, गहर, गभीर, महान ।

७१

नभ मडल को चक्र यह चल्यो जात दिन रैन,
गति मय यह ब्रह्माड सब, नैकु न पावन चैन ।

७२

तारक मडल मालिका, गूँथी ईश बनाय,
फेरि रहे छिन-छिन वहै, हिये सिहाय-सिहाय ।

७३

अतल, वितल, पाताल लौ, सकल खमडल लोक,
ढूँढि रहे, पिय ना मिले, मिट्यो न हिय को शोक ।

७४

विचलित हिय, विगलित नयन, दलित भाव सुकुमार,
खड-खड अस्तित्व को करत वियोग-कुठार ।

७५

निशि के सूने छिनन मे हिय मे खुट-खुट होय,
लघु आशा घन तिमिर मे, ठाढी-ठाढी रोय ।

७६

सूनेपन मे करि उठत, यह हिय हा-हाकार,
तडपि-तडपि रहि जाति है, दरस-परस-मनुहार ।

७७

हार कहौ या कौ, कहौ अथवा हिय की जीत,
जो निबहतु है हृदय यह, निशि-दिन प्रीति अतीत ?

७८

रीति अनौखी प्रीति की, जीत समझिये हार,
हार भरे सपनेन मे, करियें विजय-विचार ।

७६

रार करत हिय बावरो, अपने ही सौ खीझ,
बिना मोल किमि बिक गयो, वा श्रीमुख पै रीझ ?

८०

नयनन ते बोलत गए तुम अनबोले बोल
मौन अनी वह चुभि गई, हियहि टटोल-टटोल ।

८१

प्रेम—फास अस्तित्व की, प्रेम—हिये की प्यास,
प्रेम—प्रणोदन स्रजन को, प्रेम—प्राण की आस ।

८२

प्रेम—रज्जु, अस्तित्व—घट, पन घट—नयन अधीर,
पिया मिलन की भावना, कूप गहन गभीर ।

८३

हौ पनिहारिन घाट की, तव सजोग-सुख-नीर,
हुलिस कलस भरिबे चली, लिए प्यास की पीर ।

८४

लोचन-पनघट पै फँस्यौ, घट सनेह की डोर,
उतरि गयो गहरो बहुत बिल्यो न नीर अथोर ।

८५

सजन, तनिक-सी गगरिया, क्यो खाली रहि जाय ?
नैक निकट आवहु इतै, भरहु याहि मुसिक्याय ।

८६

या पनघट के सुनट तुम, या पनघट के राज,
खेलि खेल ओझल भए क्यो पनघट ते आजु ?

८७

मम नागरिया गगरिया, भई आज निस्तब्ध,
काकरिया मारहु, करहु झन झकृतिमय शब्द ।

८८

विहँसि कॉकरी मारहू, भरहु गागरी आय,
प्यासी मेरी कलसिया, लटकि रही निरुपाय ।

८९

पनिहारिनि एकाकिनी, हौ प्यासी, सतप्त,
रोम-रोम प्यासौ, रह्यो यह अस्तित्व अतृप्त ।

९०

बडे दिनन तैं, जतन तैं, बडी दूर तें, नाथ,
हौ आवतु हौ घट लिए, या को करहु सनाथ ।

६१

तुम पन-घट-पति, कूप-पति, तुम घट-पति, हे प्रान,
पनिहारिनि-पति, नीर-पति, प्रेम-रज्जु-गुण वान ।

६२

"भव भव" करि घट-रिक्कता भागै, जागै भाग,
नीर-पीर छूटै, मिटै, रीतेंपन को दाग ।

६३

सोरठा

मोहि आपुनी जानि, करहु कृपा एती, सजन,
करि सँजोग जल दान, भरहु रिक्त अस्तित्व-घट ।

६४

सार हीन अति ह्वै गयो, तुम बिन मम ससार,
छिन-छिन भए पहार सम, सुनहु जीवनाधार ।

६५

लगन बावरी हृदय की, अभिसारिका प्रवीन,
बौरानी-सी फिर रही, इत-उत, तव रस लीन ।

६६

योग-छेम को मोह तजि, दीप नेम को साजि,
लगन अँधेरी डगर मे, चली गेह तै भाजि ।

९७

लाज गई, कुल कान सब, बिकी तिहारे सग,
फैल परी, इत उत बगरि आकुल हृदय-उमग ।

९८

मेरे या हिय की कसक छलकि उठी सव ठौर,
सकल चराचर ते उठी चेतन सिसक-मरोर ।

९९

जगद्व्यापिनी मम बिथा भई, अहो, प्राणेश,
मम कपन ते कँपि उठ्यौ, सब जग को हिय-देश ।

१००

क्लेश मिल्यौ, किवा मिल्यौ कपित नेह प्रसाद,
व्यथा रूपिणी ह्वै गई विगत दिनन की याद ।

१०१

यह सयोग वियोग को अपरस्पर अवलम्ब,
करि कै या जग मे घटित, क्यो बैठे, हेरम्ब ?

१०२

प्राण पिरीते, तुम बिना सूनौ भयो दिगन्त,
उदित होहु मन-गगन मे, भरहु प्रकाश अनत ।

१०३

मम सनेह-नैया परी, विरह-समुद्र मॅझार,
छिन-छिन मे यह बढि रह्यौ, उग्र पवन सचार ।

१०४

आय तनिक देखहु इते, कैसो हाल बिहाल
डग मग, डग मग ह्वै रही या नौका की चाल ।

१०५

बन्ध-हीन, गुन गलित, है सडी लकरिया चार,
का जानौ का ह्वै गए, सुदृढ डाड पतवार ?

१०६

उफनि रह्यौ है सिन्धु यह, विकट लहर की मार,
फेनन के मिस उमडि कै, आयो सिन्धु विकार ।

१०७

टेर गगन मे उठि रही मेरी बारम्बार,
भनक कान क्यो ना परी, ओ मेरे सरकार ?

१०८

तुम वन-विचरण करि रहे निपट अकेले नाथ,
बही जाति है यह इतै, मेरी नाव अनाथ ।

१०६

रसरी बाधो नेह की, नैन सैन के छोर,
खीचि लेहु टूटी तरी, श्री चरणन की ग्रोर ।

११०

पीतम, साधन हीन हौ, निस्साधन मम नाव,
केवल नेह-निबाह को, ग्रहै साधना-भाव ।

१११

या विछौह के सिधु मे, केवल यहै प्रतीति,
सजन, निबाहौगे ग्रवश, चिर पिरीत की रीति ।

११२

एतो जिय विश्वास है, केवल एती ग्रास,
कबहूँ तो बहि जायगी तरी तिहारे पास ।

११३

ग्राशका को उठि रह्यौ, झझानिल घनघोर,
भीति-बीचि-विक्षोभ को घहर्यो घोर ग्रथोर ।

११४

यह विरहाम्बुधि तट रहित, ग्रवधि-नीर गम्भीर,
मास, वर्ष, दिन, छिन भए, चचल लहर ग्रधीर ।

११५

नित सशय को उठि रह्यो, उंभरि-उभरि तूफान,
प्रकट्यो सर्व विनाश को, फेनिल क्रुद्ध विधान ।

११६

गरजि-गरजि घिरि-घिरि, घुमडि घटाटोप घन आय,
अम्बर मे ऊधम करत, खर बिजुरी चमकाय ।

११७

दिग्भ्रम मे मेरी तरी, परी निरी असहाय,
याहि उबारहु करि कृपा, हे मेरे रस राय !

११८

करहु तरगित शून्य मे, निज वशी की तान,
इक छिन मे मिटि जाइगो, मन-दिग्भ्रम-अज्ञान ।

११६

अथवा तुम करिके कृपा, करहु धनुष टकार,
भय भागै, पहुँचै तरी सागर के वा पार ।

१२०

लखन-नाम मम दीप लघु, लखन-शरण मम आस,
लखन-चरण मम भक्ति दृढ, लखन-नेह विश्वास ।

१२१

लखन-सस्मरण-मत्त हौ, लखन-चरण मम नेह,
लखन-सतरण-भाव मम, लखन-आमरण देह ।

१२२

लक्ष्मण-लक्ष्मण धर्म मम, लक्ष्मण-लक्ष्मण कर्म,
लखन-लखन हिय मर्म मम, लखन-लखन मम शर्म ।

१२३

सोरठा

हे मेरे पर पार, बढि आवहु या सिन्धु बिच,
नैया लेहु उबार, डग-मग, डग-मग ह्वै रही ।

१२४

कलरव कूजन करि रहे, भाव विहगम-बृन्द,
निशा सिरानी, जगि उठ नव उमग के छन्द ।

१२५

नील गगन मे रुपहरी छहरी छटा अपार,
मानो नील तडाग मे वहीं दुग्ध की धार ।

१२६

दिन-मणि प्राची सो मिल्यो विहँसि, हुलसि, हरषाय,
जग जाग्यो, भाग्यो तिमिर, जग्यो बिहग-समुदाय ।

१२७

दिन के सँग दिन की बिथा जगी, ठगी, रस लीन,
रवि-कर-ग्रथिता-जाल मैं, फँस्यो दीन मन-मीन ।

१२८

पछिन के सँग, प्रीति की चहकी चाह अतीत,
हृदय मुरलिका तैं उठ्यो, विरह-भैरवी-गीत ।

१२९

कुसुम दलन तैं कँपि गिरे ओस–बिन्दु सुकुमार,
मनो कपोलन तैं ढरत, अश्रु-बिन्दु द्वै चार ।

१३०

लहरे दूर्वादल सिहरि, प्रात-समीरण पाय,
ज्यो निश्वास समीर तै, सस्मृति-तृण लहराय ।

१३१

डरिया-बहिया द्रुमन की, डोलि उठी मुदमान
भुज-सैनन तैं होत ज्यो, पियतम को आह्वान ।

१३२

देखि उषा को बिहँसिबो, प्राची को मृदु हास,
विरहिनि इन दिन-छिनन मे खीझत, होत उदास ।

१३३

प्राची सो दिन-मणि मिले, मिट्यो विरह-दुख द्वन्द,
विकसे जन-गण-हिय-कमल, विलसे मन-मकरन्द ।

१३४

प्रकृति, किरण-जल अमल मे, छल-छल उठी नहाय,
नील-गगन-अम्बर पहिरि, लहराई हरषाय ।

१३५

तरणि-मिलन तै प्रकृति को, भयो विरह-दुख अन्त,
किन्तु विरहिनी के हिय हूक अचूक उठन्त ।

१३६

हृदय-नीड मे भाव-खग, बैठे बोलत बोल,
कहा तिहारो प्रात है, कितै किरण-कल्लोल ?

१३७

दक्षिण अटवी मे दुर्‌यो, मम दिग्भानु ज्वलन्त,
याही ते मन-गगन मे, छायो तिमिर अनन्त ।

१३८

भाव विहगम वृन्द हे, करहु तरणि आह्वान,
क्यो हू तो या विरह-निशि को होवे अवसान ।

१३९

निशि ते दूनी प्रात मे, बढत विरह की पीर,
दिन ते दूनो, रात मे जियरा होत अधीर ।

१४०

सोरठा

सूरज बस पतग, उदित होउ मम गगन में,
हुलमावहु अंग अग, कोमल दृढ कर-परस तै ।

१४१

बही जात जीवन-नदी, सही न जात उपाधि,
कही जात मुख तै न कछु, या प्रवाह की व्याधि ।

१४२

निकसी उद्गम तै, लिए हिये अमन्द उमग,
लहर चुनरी पै चढ्यौ, नव प्रवाह को रग ।

१४३

छलकि बही कल गीत तै, प्रीति अतीत पुनीत,
द्रुत गति मे प्रकटी भलकि उत्कठा की रीत ।

१४४

'पिता-वश, पति-वश, इन द्वै कूलन के बीच,
जीवन-तटिनी बहि रही, बिरह-पीर-जल सीच ।

१४५

तुम समुद्र, मिथिला ढुरे, लहराए वा ठौर,
मो मरिता हित तुम सजन, भए और के और ।

१४६

हौ, लघु सरणी, मिल गई, पिय, तुम मे मकुचाय,
सतला हौ, अतला भई, तुम सम सागर पाय ।

१४७

लहर-लहर सो मिलि गई, बुझी अपूरन प्यास,
जीवन मो जीवन मिल्यो, मिट्यो प्रवाह-प्रयाम ।

१४८

पै इक दिन तुम मम उदधि, गए नाँघि मर्याद,
तब ते तटिनी मे उठ्यो कोलाहल, प्रतिवाद ।

१४९

उमड्यो सागर विजन मे, छाडि नदी को सग,
असभावना मिस भयौ, विधि-विधान को भग ।

१५०

फिर प्रवाह को दाह वह, फिर वह हाहा-कार,
फिर वियोगमय वेदना, फिर गतिमय अभिसार ।

१५१

सूने-सूने ह्वै गए, विस्तृत दोऊ कूल,
सिकतामय निस्सारता प्रकटि भई प्रतिकूल ।

१५२

पल-पल बिकल बिलाय जल, कल-कल कलपत जाय,
मचलि-मचलि, चलि-चलि थक्यो, जात न अतल समाय ।

१५३

अतल,–अवध मे ना मिलै, अतल–अवध ते दूर,
अतल,–अवधि लौ उमडिहै निर्जन मे भर पूर ।

१५४

बही चलहु जीवन-सरणि, या मे कछु न बसाय,
कबहू तौ ढुरि परहुगी, अतल शरण मे जाय ।

१५५

साधन पथ लम्बो बडो, निपट प्रतीक्षा-पूर्ण,
देखौ श्रद्धा-साधना, कब होवै सम्पूर्ण ।

१५६

सोरठा

कहू विरह-मरु बीच, लुप्त न होवै मम नदी,
आवहु सिन्धु नगीच, नाघि अवधि-मर्याद यह ।

१५७

उजडि गई गुजन मयी, मम सयोग निकुज,
ठाढो भयो पहार सौ, यह वियोग को पुज ।

१५८

तुग शिखर,–हिय वेदना, शिलाखड–दिन मास,
विकट चढाई ह्वै गई, दरस-परस की ग्रास ।

१५९

गिरि पै घने विषाद के जमे गुल्म सर्वत्र,
रोमाचक सस्मरण वे, भए विकम्पित पत्र ।

१६०

टेढी, सँकरी, कटकित, बनी प्रतीक्षा-बाट,
दृग-जल,–गिरि निर्भर उमडि चित्तहि करत उचाट ।

१६१

ग्राशका गह्वरन मे, भभके हिसक जीव,
गरजि गरजि कै ह्वै रहे, पद-पद पे उद्ग्रीव ।

१६२

पुर्नमिलन-क्षण -दूरता, कुज्भटिका-सी फैलि,
विरह-शैल पै करि रही, स्वप्निल क्रीडा-केलि ।

१६३

हौ एकाकी यात्रिणी चढी जात अकुलात
गिरत, परत, पुनि पुनि उठत, सहत घात-प्रतिघात ।

१६४

चिर विश्वासाश्रय भयौ मम अवलम्बन-दड,
पथ प्रकाशिका बनि गई, श्रद्धा-ज्योति अखड ।

१६५

एक-एक करि कै, करत शिलाखड कौ पार
विरह-शैल पै चढि रही, मगन लगन मनुहार ।

१६५

कबहु-कबहु यह लकुटिया लचक जात, हे प्रान,
चरण-विकम्पन कौ, कबहुँ होत देह कौ भान ।

१६७

कबहू-कबहू दीप की शिखा निरी अकुलात,
कबहुँ निराशा पवन तै, विचलित ह्वै-ह्वै जात ।

१६८

हौ गरीबिनी यात्रिणी, रँगी तिहारे रग,
सजन, छुडावहु तनिक यह ईति-भीति-दु सग ।

१६६

विकट पहाड प्रदेश के, परै पिया को देश,
गिरि-लघन विन किमि मिलै पुन्य प्रेम परमेश ।

१७०

सोरठा

विरह-शैल के पार, पीतम, तुम क्यो रमि रहे ?
आवहु, अहो उदार, दुर्गम गिरि कौ भेदि कै ।

१७१

क्षीरोदधि मे ज्यो रमे, अशिशायी भगवान,
नम मम हिय उदधि मै रमहु ऊर्म्मिला-प्रान ।

१७२

जैसे सागर मे उठत, केलि मयी कल्लोल,
हिय-समुद्र को करहु त्यो आन्दोलत हिडोल ।

१७३

ज्यो समुद्र मन्थन भए, निकसे चौदह रत्न,
त्यो तुम सश्रम करहु प्रिय, हिय मन्थन ो यत्न ।

१७४

मृदु परिरम्भण-भार को मेरु-सुमन्थन-दड,
प्राणाकर्षण की बनै, रसरी पूर्ण अखड ।

१७५

ढरकावहु मो हृदय मथि, प्रिय, नवनीत प्रवाह,
सरसावहु अनुरागिणी, अनबोली मनचाह ।

१७६

मेरे हृदय-समुद्र कौ जल श्यामल गम्भीर,
अतल तलातल लौ भरी, वामे सचित पीर ।

१७७

हिय-सागर तै उठि रही बडवानल की आह,
प्रिय, खैचहु दोउ भुजन तै, अन्तरतर को दाह ।

१७८

कब लौ हिय हहरे, कहहु, एकाकी विक्षुब्ध ?
कब लौ आवौगे बिहँसि, हे प्रिय, मन्थन-लुब्ध ?

१७९

चिन्ता सम्भ्रम के बडे ग्राह नक्र विकराल,
या समुद्र मे बढि रहे, सुनहु, अहो व्रतपाल ।

१८०

नीलगगन सम तव स्मरण, झलकत सिन्धु मझार,
पै थिर रहत न एक छिन, मेरो पारावार ।

१८१

परछाँई सस्मरण की, कम्पित ह्वै-ह्वै जात,
लहरन सम यह उठत है हिय-बिछोह अकुलात ।

१८२

चलित, थकित, नित व्यथित, इत, अमथित हियको सिन्धु,
याहि करहु कर्षित , मथित, हे मम पूरन इन्दु !

१८३

शशि, मम नभ मे उदित ह्वै, मथित करहु हिय-सिन्धु,
युग कपोल-तट पै छिटकि, झलके श्रम-कण बिन्दु ।

१८४

पूरण ताहि न जानिए, पूर्ण ताप बिन जोय,
ताही तै हिय-उदधि मे भर्‌यो अनलमय तोय ।

१८५

रोम-रोम जो भरि गए तो यह ऊनो प्रेम,
हहरि हहरि हिय हारिबौ, यहै पिरीतो नेम ।

१८६

विप्रयोग-बडवाग्नि जो सोखे सागर नीर,
तौ, फिर सहज सनेह की रही अधूरी पीर ।

१८७

युग अनन्त लौ हहरिबौ, युग अनन्त लौ दाह,
अथक जोहिबो बाट को, यहै सनेह निबाह ।

१८८

साँचो प्रेम अकाल मम, प्रेम देश-गुण मुक्त,
प्रेम निरन्तर, अनवरत, अथक प्रतीक्षा युक्त ।

१८९

सोरठा

कसौ कसौटी नाथ, जेती मोको कसि सकौ,
हृदय तिहारे हाथ, युग अनादि तै बिकि गयो ।

१९०

दृग रजन, मम नयन मे, अजन बनि अँजि जाहु,
लोचन की फुहियान मे, कुछ छिन बैठि नहाहु ।

१९१

काजर की रेखा बने बसहु लोचनन बीच,
बाँधहु अजन गुण बने नयन खञ्जनन्हि खीच ।

१९२

कबहुँ ढरकि अँसुवान सँग, होउ अङ्क आसीन,
कबहुँ कपोलन पै ढरकि होउ सुरति रस-लीन ।

१६३

कबहुँ नयन-खिरकीन तै, कूदि हृदय के गेह,
आत्मलीनता मिस करहु बरबस मोहि अदेह ।

१६४

हियनिधि मम अनमोल तुम, तुम मम काजर-रेख,
दृग-कनीनिका तुम बने, तुम मम नेह-विवेक ।

१६५

जा दिन ते तुम वन गए, करिके अवध अनाथ,
तब ने नयनन को छुट्यो, काजरहू को साथ ।

१६६

हौस मिटी, काजर छुट्यो, मच्यो नयन मे कीच,
कारी झाई पीर की परी पुतरियन बीच ।

१६७

ये तैरे-तैरे फिरै, नयना निपट अधीर,
युग लोचन मे ह्वै रही दरस-काकरी-पीर ।

१६८

सोरठा

ये नैना अनजान, प्रकट करत हिय दरद को,
ज्यो कोऊ नादान, घाव दिखावतु आपुनो ।

१९९

जीवन-डगरी में छिपी निशि अँधियारी पीर,
तकि-तकि कै कोउ दै रह्यो, विरह वेदना तीर ।

२००

भाति-भाति के राग की चपल भ्रान्ति उद्भ्रान्ति,
करिबै कौ आई यहाँ, नवल क्रान्ति उत्क्रान्ति ।

२०१

चल्यो जात हौ हिय सहज, बिध्यो नेह के शूल,
सिसकि रही पीडा-लली, भई लाज उनमूल ।

२०२

धसकि-धसकि, मिटि-मिटि गए, मधुर मनोरथ-मौन,
बात पूछिबे को, कहहु, रह्यो भौन मे कौन ?

२०३

कित सँजोग ? कित सरलता ? कितै सुनिश्चय-साज ?
इत-उत जित-तित तै उमडि, परी विकलता आज ।

२०४

क्षत-विक्षत हिय बहि रह्यौ, लगे प्रश्न के तीर,
मौन निरुत्तर वेदना मन, चित, धुनत शरीर ।

२०५

चिन्ता-कठिनी लिखि रही प्रश्न-चिन्ह प्रति वार,
क्यो ? कित ? का ? कैसे ? कहाँ ? को फैल्यो विस्तार ।

२०६

युग अनादि के गरभ सो निकसी जीवन-बाट,
युग अनन्त लौ जात यह, ज्यो नभ-गग विराट ।

२०७

भेदि लोक लोकान्तरहि, भेदि अड-ब्रह्माण्ड,
निर्झरिणी सम फटि परी, जीवन-डगर प्रकाण्ड ।

२०८

निखिल सृष्टि के चक्र पै, मण्डित यह मग-रेख,
जिमि ललाट पै खचित है, बिथा-कथा के लेख ।

२०९

या पथ-रेखा पै धरत, हौले-हौले पाँय,
ढूँढति-ढूँढति तुमहि, हौ आइ गई एहि ठाय ।

२१०

दीख परत अजहू, सजन, डगरी लम्बी मोहि,
हृदय हारिबे लगत है, यह अनन्त पथ जोहि ।

२११

कितै तिहारी मृदु छटा ? कितै तिहारो देश ?
कितै तिहारो नेह मय चिर सयोग विशेष ।

२१२

कितै पिया की नगरिया ? अजहु न जानी जाय,
का जानौ साजन रहे कौन देश मे छाय ?

२१३

चलिबो–चलिबो रैन-दिन, तनिक न रहिबो बैठि,
अष्टयाम को जागिबो, अन्तर तर मे पैठि ।

२१४

सुनिबो धनु टकार की अनहद धुनि हिय बीच,
करिबो मानस अर्चना , नयनन तै जल सीचि ।

२१५

जीवन मग मे चलन के ये साधन निष्काम,
जीवन को साफल्य है, नित प्रयत्न अविराम ।

२१६

जिय एतो विश्वास है, हिय मे एती आस,
देस तिहारो है कहूँ, जहॉ तिहारो बास ।

२१७

गिरि परिये, फिर चलिय उठि यहै नेम-निरवाह,
दूर पास जानत नही, लगन मगन की राह ।

२१८

सोरठा

क्षत आशा के शूल, जीवन के पथ मे बिछे,
हिय की भोरी भूल, मग की कॉकरियॉ भई ।

२१९

अहो दुरे क्यो समय के अन्तर-पट मे जाय ?
आवहु, पीतम, अवधि की यह यवनिका हटाय ।

२२०

भग्न मनोरथ की बिछी जीवन-पथ मे धूर,
परि कै घटना चक्र मे, भई कल्पना चूर ।

२२१

दूरि-दूरि लौ धूरि ही धूरि दिखाई देत,
धूरि-धूमरिन ह्वै रह्यो, अँग-अँग हृदय समेत ।

२२२

आशका के पवन मे रजकण नाचि उडाय,
छिन-छिन उडि-उडि धूलिकण नैनन मे परि जॉय ।

२२३

या मग मे षट् ऋतुन को रहि-रहि ऊधम होत ।
कबहू चमकत शरद् शशि, कबहुँ भाद्र खद्योत ।

२२४

ग्रीषम, वर्षा, शरद् मुद, शिशिर, मधुर हेमन्त,
अन्तवन्त अनुराग मय, मजुल मदिर बसन्त ।

२२५

पारी-पारी सो सकल, ऋतु वैभव मिलि जात,
पै एकाकी पथिक को, हृदय और अकुलात ।

२२६

विप्रयोग ग्रीषम भयो, आँसू—पावस पीर,
नित निरभ्र विश्वास की, भई शरद् ऋतु धीर ।

२२७

निपट निराशा को शिशिर, सशय को हेमन्त,
चिर आशा को बनि गयो, कुसुमित वरद बसन्त ।

२२८

जीवन-पथ मे मिलत जब, विकट निदाघ दुरन्त,
तब अँग-अँग तै उठत है दाहक ज्वाल ज्वलन्त ।

२२९

झुलसत हिय, दहकन हृदय, आशा बरि-बरि जात,
तड़पत मन, सूखत अधर, रोम-रोम मुरझात ।

२३०

दलित मनोरथ-बालका, होत अग्नि अगार,
नग्न चरण मग-गामिनी, तड़पत पन्थ मँझार ।

२३१

मन-नभ-मंडल में तपत, प्रबल बिछोह-पतंग,
चलत लूक उच्छ्वास की, लै मरीचिका संग ।

२३२

विश्व तपत, ब्रह्मांड सब होत विदग्ध विशेष,
वापी कूप तड़ाग में, रहत न जल निःशेष ।

२३३

लिए बालुका-धूलि-कण, उठत बवंडर घोर,
धूमिल सो ह्वै जात है, नभ-अम्बर को छोर ।

२३४

लगत प्यास, श्रमकण चुवत, छूवत लपट मय पौन,
चली जात, तोऊ सतत, पथ गामिनि यह कौन ?

२३५

यो जीवन-पथ मे निरखि, विकट निदाघ-प्रकोप,
हिय तै उठि, मन गगन मे, गरजि उठत घन तोप ।

२३६

अँसुवन की पावस झडी, लगत आपुही आप,
ज्यो वर्षा शीतल करत, खर निदाघ-अभिशाप ।

२३७

कारे, कजरारे, भरे, निरे मेघ के कोट,
मन-नभ मे करि उठत है, भय-विद्युत-विस्फोट ।

२३८

हहरत हिय, लहरत पवन घहरत गहर उमग,
आँखिन ते बहि बहि उठत दुसह वेदना-रग ।

२३९

अँसुवन तै जीवन-डगर, पकमयी ह्वै जात,
फिसलत-फिसलत यात्रिणी, चली जात अकुलात ।

२४०

ज्यो निदाघ दुख देत है, त्यो पावस को काल,
ये दोऊ ऋतु करत है हिय को हाल बिहाल ।

२४१

जब अधीरता बढत है, तब कछ धीरज देत,
आवत शरद् मुहावनी पूरन इन्दु समेत ।

२४२

अति वियोग मय छिनन मे, अति अधीर पल माँहि,
दृढ प्रतीति जागत हिये, रहत कुसशय नाहि ।

२४३

हिय-आकाश निरभ्र, मुद, सुस्थिर भासित होय,
शारदीय नभ रहत ज्यो, नील, निरभ्र, अतोय ।

२४४

निपट शुद्ध विश्वासमय, मन-दिगन्त ह्वै जात,
चिर सनेह के सस्मरण हिये उठत मुसकात ।

२४५

मगन लगन अम्बर रुचिर, होत धीरतापूर्ण,
गहर सिन्धु नद होत ज्यौ, युग तट लौ आपूर्ण ।

२४६

ज्यो पूरन शशि उदित ह्वै, लसत गगन मझार,
त्यो विलसत हिय-गगन मे, पीतम-छबि साकार ।

२४७

उडगण मिस चमकत, झरत, नैश हास्य के फूल,
शरद्-निशा हुलसत, पहिरि मुद चाँदनी-दुकूल ।

२४८

त्यो पिय की मुसक्यान की स्मिति को अचल ओढ,
लगन ठगौरी बदतु है, शरद निशा तैं होड ।

२४९

कबहुँ शीत की कँपकँपी, ज्यो हिय मे छ्वै जात,
त्यो विचलित ताको, कबहुँ कम्पन हिये समात ।

२५०

चिर प्रतीतिमय शरद् ऋतु, ठिठुरि शिशिर ह्वै जात,
ज्यो धीरज नैराश्य मे, परिणत ह्वै अकुलात ।

२५१

अग-अग कँपिबे लगत, पहुँचत हिय लौ ठड,
दरस परस की चाह अति, चलित करत हिय खड ।

२५२

आलिगन की भावना, सँग रहिबे की चाह,
शिशिर-निराशा मे करत, शीतल हिय-उत्साह ।

२५३

दुश्चिन्ता की हसन्ती धधकत है दिन रैन,
तऊ हृदय ठिठुरत रहत, लहत न इक छिन चैन ।

२५४

चली जात पथ गामिनी, करन शिशिर को अन्त,
पुनि, मग मे मिलि जात है, सशय को हेमन्त ।

२५५

शीतल हिय, शीतल चरण, शीतल सब बहिरग,
अन्तरग शीतल अमित, शीतल सब रँग-ढग ।

२५६

शीतल दिशि, शीतल निशा, बडी-बडी विकराल,
ऊबत चिर-पथ-गामिनी, होत न प्रात काल ।

२५७

इत सशय, चिन्ता उतै, जित-तित सभ्रम मूक,
कहिये का सो ? किमि ? कहहु, हिय बनियाँ दो-टूक ?

२५८

गरजत बरसत माघ के मेघ घिरत सब ओर,
कँपत चरण, लरजत हृदय, होत शब्द घनघोर ।

२५९

ज्यो अनचाहे अतिथि गण, घर घेरत है आय,
गगन घेरिबे मे न त्यो, माघ-मेघ शरमाय ।

२६०

सशय के हेमन्त मे, आशका-घन धाय,
भय-भैरव-उद्घोष सो भरत हृदय असहाय ।

२६१

रोम-रोम कँपि उठतु है, ठिठुरि जात अँग-अग,
आँखिन ते चुइ परतु हैं, हिय-वेदना अनग ।

२६२

निर्जन जीवन-डगर मे चली जात यह कौन ?
कितै देस याको ? बन्यो कित धौ याको भौन ?

२६३

साजन, तुम मेरे निलय, तुम हो मेरे देस,
ओ परदेसी, तुमहि मै ढूँढत देस-विदेस ।

२६४

छाडि शिशिर नैराश्यमय, सशयमय हेमन्त,
पावत तव पथगामिनी, पुनि चिर आश बसन्त ।

२६५

उठि आवत है हृदय तै, पुनि नवजीवन साँस,
आशा सुहरावति सम्हरि, दुमह वेदना फास ।

२६६

सोरठा

हे मेरे प्रेमेश, सूनी मम जीवन डगर,
मम ऐकान्तिक क्लेश, हरहु आय गहि बाँह मम ।

२६७

फूल्यौ मन-मर मे अमल, हृदय-कमल रसपीन,
तव चरणन मे ह्वै रह्यो यह उत्पल तल्लीन ।

२६८

सहज सहस-दल-कमल यह, प्रेम-नाल-सलग्न,
लिए समर्पण-भावना, झूमि रह्यौ रसमग्न ।

२६९

नि स्पन्दन की पाँखुरी, अरुण नेह को रग,
मदिर सुरित की गन्ध मधु, रेणु अमन्द उमग ।

२७०

झूमि कमल नित करि रह्यौ, आशा-पवन-विलास,
सतत श्वास-नि श्वास मिस करत समर्पण-रास ।

२७१

मम अर्चन-साधन-चरण विचरि रहे वन-वीथि
कहहु, करौ सम्पूर्ण किमि कमल-समर्पण रीति ?

२७२

या मन के कासार मे उठत तरगे लोल,
मौन कल्पना, लहर सम, करत रहत कल्लोल ।

२७३

कम्पित मर मे हिय-कमल डुलि-डुलि उठत अथोर,
आत्म-निवेदन की सतत, आकुल उठत मरोर ।

२७४

देखत नहि तुम प्रेम को नेम, अहो रसराय,
छाडि चिरन्तन नेह-निधि, रमे विपिन मे जाय ।

२७५

तुम निष्ठामय, तुम सुदृढ, निपट धीर व्रतपाल,
कहा नेह ऊनो परत, जब हिय होत विशाल ?

२७६

सोरठा

वन तै हाथ बढाय, लेहु पूर्ण निधि आपुनी,
हृदय-कमल अकुलाय, कछु-कछु मुर्झत जात है ।

२७७

हिय की कोमलता सकल, घुलि-घुलि बहत अधीर
ढरकि नयन तै अर्घ्य-मिस, बहत हृदय की पीर ।

२७८

जग को मधु-सौन्दर्य सब, नयन-बिन्दु मे आय,
झलकि-झलकि, इत-उत बगरि, प्रकटि रह्यौ अकुलाय ।

२७३

बने सत्य-शिव-रूप तुम, हौ सुन्दरता-रूप,
मो बिनु, पिय, किमि होउगे तुम सम्पूर्ण अनूप ?

२८०

बिना सत्य-शिव के रहत सुन्दर सदा अपूर्ण,
त्यो सुन्दर बिनु सत्य-शिव, किमि ह्वै है सपूर्ण ?

२८१

जीवन को माधुर्य सब सुन्दरता कौ सार,
वा दिन तै, तुम बिन भयो, जड अस्तित्व विकार ।

२८२

कहा सुघड सुकुमारता ? कहा मोद उल्लास ?
तुम बिन सुन्दरता कहा ? कित विलास ? कित हास ?

२८३

भई विरह-विधुरातुरा तव अनुचरा प्रतीति,
अन्तस्तल मे झलकि, झुकि, सरसावहु रसरीति ।

२८४

तव चरणन की हौ सदा, शुक्ल दासिका दीन,
मोहि करहु, हे सत्य-शिव, नित निज रस तल्लीन ।

२८५

प्रति दिन दृग जोहत रहत, सतत तिहारी बाट,
ज्योति चिरन्तन जगि रही, मुक्त-कुटीर-कपाट ।

२८६

बिछे प्रतीक्षा-बाट मे लोचन-मुकुल सनीर,
पलक-पॅखुरियॉ ह्वै रही पल-पल ललकि अधीर ।

२८७

मो बगिया मे ढुरि परौ कबहू तौ सुकुमार,
डोलि रह्यो व्याकुल पवन, करि वियोग सचार ।

२८८

हारि गई नैनान की कली निमत्रण देत,
पलक-पॉवडे परि गए नेह-पराग समेत ।

२८९

अव तौ सूनी कुज पै करहु कृपा की कोर,
छिटकि खिलहु निशि-नाथ-से ह्वै कै ग्रात्म-विभोर ,

२९०

सघन कुज की गलिन मे, ग्रावहु खेलहु खेल,
करहु सनाथ छुवाय पद मेरी जीवन-बेल ।

२९१

ग्रॉख मिचौनी मिस दुरहु उझकि-उझकि द्रुम-ग्रोट,
कछु कॉकरिया-सी चुभै, देहु सैन की चोट ।

२९२

मेरी झीनी चुनरिया रँगी तिहारे रग,
हौ रति, तुम दूलह बने मेरे नवल-ग्रनग ।

२९३

बैठि रहति है मन-लगन, हिय कुटीर के द्वार,
नेह-मगन जोहत रहत, निशि-दिन पथ तिहार ।

२९४

पक्ष्म-लोम-सम्मार्जनी, लोचन झारी पूर्ण,
झारत, सीचत रहत नित, पथ-मृत्तिका चूर्ण ।

२९५

द्वार देहरी पे धरे चिर अनुराग-प्रदीप,
कब ते उत्कंठा ललकि, बैठी द्‌वार-समीप ।

२९६

कासो कहियत प्रेम को नेम ? कहा अनुराग ?
कहा दरस की लालसा ? कहा हिये को दाग ?

२९७

परिभाषा चिर प्रेम की निपट अटपटी होय,
वाको तत्व निगूढ अति, जानत है कोउ कोय ।

२९८

प्रेम सगुण कोऊ कहत, कोउ निरगुन कहि देत,
कोऊ द्वैत अभाव कौ कहत सनेह-निकेत ।

२९९

मो मन प्रेम-स्वरूप है कम्पन मय अविराम,
स्वर, लय, यति, गति मय बन्यौ प्रेम रूप अभिराम ।

३००

प्रेम–चटपटी हृदय की, प्रेम–अटपटी बात,
प्रेम–भूमिबो मत्त ह्वै, इतै उतै बतरात ।

३०१

प्रेम–बन्यो अस्तित्व की सार रूप मनुहार,
प्रेम–दरस की प्यास है, उत्कंठित अभिसार ।

३०२

प्रेम–मौनमय वेदना, प्रेम–प्राण की प्यास,
प्रेम–हिये मे रोइवो, अधरन में कछु हास ।

३०३

प्रेम–सृष्टि की परिधि को केन्द्र-विन्दु सुकुमार,
प्रेम–पुरातन हिय-कथा, प्रेम–हिये की हार ।

३०४

हिय-व्रण नित्य दुराइबो, कहिबो कछु न बनाय,
प्रेम-नेम की रीति यह, रहिबो मन समुझाय ।

३०५

कहा भयो जो छाडि के चले गए हृदयेश ?
प्रथा सनातन प्रीति की, पालत है प्रेमेश ।

३०६

प्रेम–चिरन्तन विकलता, प्रेम–चिरन्तन आह,
प्रेम–सतत अवहेलना, प्रेम–दरस की चाह ।

३०७

प्रेम–विरागी, प्रेम–यह चिर अनुराग अतीत,
प्रेम–अहं विस्मरणमय, आत्म-स्मरण पुनीत ।

३०८

प्रेम–नेम की निठुरता, प्रेम–छेम-उपहास,
प्रेम–हेम इव शुद्धता, प्रेम–कसौटी-त्रास ।

२०९

प्रेम–सस्मरण नाम को, प्रेम–सुकीर्तन-भाव,
प्रेम–चरण सेवा विकल, प्रेम–अर्चना-चाव ।

३१०

मन मोती को खोइबो, नित्य ठगैबो प्रान,
अनबोले सहिबौ बिथा, यहै प्रेम की कान ।

३११

छाडि धर्म की व्याधि सब, छाडि सुकर्म उपाधि,
अव्यभिचारी नेह की, रहौ साधना साधि ।

३१२

नेह-भक्ति-बन्धनन मे, मोहि मिलि गई मुक्ति,
भली हाथ सहसा लगी, यह समाधि की युक्ति ।

३१३

गुण–बन्धन-विरहित भयो, राग–भयो सुविराग,
द्वैत–भयो अद्वैतमय, प्रेम–योग, तप, त्याग ।

३१४

धूनी तपी, न चीमटा खनक्यौ एकौ बार,
तऊ प्रेम-मन्यासिनी, भई वियोगिनि नार ।

३१५

सतत ध्यान, नित सस्मरण, तपश्चरण दिन-रैन
पुण्य प्रेम को नेम यह, यहै साधना ऐन ।

३१६

जा हिय मे नित बसत है, प्रेम पुनीत विशुद्ध,
तहॉ राखिये कहहु किमि सस्कृति धर्म्म विरुद्ध ?

३१७

पिय-सनेह को वरत जहँ पुण्य दीप अविराम,
तहॉ अन्धतम वासना रहत न एकौ याम ।

३१८

सोरठा

प्रेमी को ससार, सतत साधनामय बन्यौ,
वहॉ कहॉ कुविचार, तार नेह को जहँ बॅध्यौ ?

३१९

नेह-सगाई ह्वै गई, प्रणय-पाणि पिय हाथ,
दृढ अनन्य आश्रय मिल्यो जीवन भयो सनाथ ।

३२०

बॅधी चूनरी पीय के, उत्तरीय के सग,
गठबधन चोखो भयो, उमड्यो नेह अनग ।

३२१

विप्रयोग के क्षणन मे भनक परी यह कान,
होत न तप-आचरण बिन, पिय दरसन मुदमान ।

३२२

धारि हिये मे, अहर्निशि, पीय ध्यान अनमोल,
अलख जगावत नेह को बोलि अबोले बोल ।

३२३

बाला जोगिनि बावरी चली जात अलमस्त,
त्रस्तभाव भागे सकल, भयो भोग-भय अस्त ।

३२४

दग्ध वासना-क्षार की भस्म विभूति रमाय,
ध्यान-मग्न जोगिनि भई, अलख चरण मन लाय ।

३२५

जागरूकतामय भयो जोगिन को सब काल,
गुडाकेश जाके सजन, किमि सोवे सो बाल ?

३२६

प्रीति जगी, निद्रा भगी, लगी समाधि प्रचड,
नाम रटन की धुनि लगी अहरह, सतत अखड ।

३२७

मोह छुट्यो, माया मिटी, टूटे अनियम दाम,
निरलसता पूरित भये निशि-दिन के सब याम ।

३२८

विरह-अग्नि-धूनी तपत, काढ़ आसन बैठि,
सजन-ध्यान-मग्ना भई, अन्तस्तल मे पैठि ।

३२९

सोरठा

भय उनीदे नैन, मन राच्यौ पीतम-चरण,
लखन नाम के बैन, निशि-दिन निकसत हृदय तै ।

३३०

प्रेम-योगिनी हौ बनी, पीतम-ध्यान—समाधि,
छूटि गई ससार की, सब व्यवहार उपाधि ।

३३१

नाम-सस्मरण कर्म मम, मानस-अर्चन धर्म,
मगन ध्यान पिय को बन्यौ या जीवन को मर्म ।

३२२

गत सँजोग के दिनन की, सस्मृति जब जगि जात,
तब हिय रोवत, अधर दोउ, पुनि कछु-कछु मुसकात ।

३३३

हौ चाहत ही बाँधिबौ, समय-दाम मे प्रेम,
चाहत ही हौ उलटिबौ या अनन्त को नेम ।

३३४

देश-काल-बन्धन रहित, कैसे बाँध्यो जाय ?
किमि अनन्त आकाश यह, अजलि बीच समाय ?

३३५

प्रिय, त्वदीय सीमा-रहित नेह अनन्त, अछोर,
यह समुझी इन दिनन मे विवश हियहि झकझोर ।

३३६

अब समुझी यह व्यर्थ है, हिय को हा-हाकार,
चहिय राखिबौ मौनमय दुसह बिथा-सचार ।

३३७

सहिये, सब सहिये बिहँसि, तनिक न कहिये बात,
रहिये गुप-चुप मारि मन, यहै नेह-सघात ।

३३८

राजयोग, हठयोग ते, प्रेम-योग बड होय,
प्रेमेश्वर-प्रणिधान मे, जात विचलता खोय ।

३३९

आसन, प्राणायाम, यम, नियम, धारणा, ध्यान,
चिर समाधि, सब कछु मिलत, रहत न जड अज्ञान ।

३४०

अनचाहे, सब यम-नियम, सधत आपही आप,
चित्तवृत्ति को योगमय होत निरोध अमाप ।

३४१

जा आसन मे जमि गए, प्रीति-वियोगी जीव,
सोई आसन होत है सफल सुसिद्ध अतीव ।

३४२

प्राण श्वास उच्छ्वासमय बनत चलित हिन्दोल,
दुलरावत उल्लसित ह्वै, पीतम नाम अमोल ।

३४३

ध्यान आपुने सजन को धरिबौ नित दिन-रैन,
तजिबौ प्रेय विचार मय योग छैम को ऐन ।

३४४

सतत धारणा मिलन की, हिये राखि अनुरक्त,
चलिबो जीवन डगर मे, लोक-लाज करि त्यक्त ।

३४५

प्रेम-योग मे मिलत यो नित समाधि-आनन्द,
चिदानन्द मय, भक्ति युत, मिलत मुक्ति स्वच्छन्द ।

३४६

ज्ञान योग सायास है, प्रेम-योग अनयास,
एक शून्य मय ध्यान है, दूजो दरस-बिलास ।

३४७

ज्ञान योग मे रहत है नित निरोध को त्रास,
प्रेम योग बन्धन रहित विनिर्मुक्त आभास ।

३४८

ज्ञान योग अभ्यास मे बरजोरी को सग,
प्रेम योग के पाठ मे, स्वेच्छित हृदय-उमग ।

३४९

किन्तु प्रेम के योग मे, होत सबै वह बात,
ज्ञान योग मे जो सतत, पद-पद पै दरमान ।

३५०

वहै यम, नियम, धारणा, वहै सुप्राणायाम,
वहै ममाधि अनिगिता, वहै ध्यान निप्काम ।

३५१

तोऊ प्रेम-सॅजोग मे, कछु विशेपता आहि,
ज्ञान योग पावक सतत, कोटि कष्टकर जाहि ।

३५२

अन्तर एतो जानिए, प्रेम जोग के बीच,
एक चलत मस्तिष्क ते, दूजो , हृदय उलीच ।

३५३

सोरठा

अचला भक्ति अबाध, मोहि मिली पिय-कृपा ते,
मिल्यो सनेह अगाध, इन वियोग के छिनन मे ।

३५४

प्रेम योगिनी हौ बनी, कारण जानौ नॉहि,
मम निष्कारण नेह को, राखहु, पिय, हिय मॉहि ।

३५५

का जानौ क्यो होत है प्रेम-बावरे प्रान ?
छिन-छिन कसकत रहति है , हिय की नेह-उठान ।

३५६

उठि-उठि आवति है ललकि, हृदय-समर्पण-हूक,
एक-लग्नता-मिस लगत, प्राण-समाधि अचूक ।

३५७

जब स्मृति हँसि, कहि जात कछु, विगत दिनन की बात,
तब सँजोग के सस्मरण हिय मसोसि अकुलात ।

३५८

भरत हृदय, बरसत नयन, सरसत हिय की बेलि,
सूने मानम-गगन मे, करत वेदना केलि ।

३५९

प्राण कहत, हम बावरे, हृदय कहत, हम रक्त,
मन बोलत, हौ ध्यान रत, जीवन, चरणासक्त ।

३६०

प्रेम, योग-सयुक्त ह्वै रह्यो सकल अस्तित्व,
हिय, अनादि तै, करि चुक्यो वरण त्वदीय पतित्व ।

३६१

मम हिय-बगिया मे खिले, भक्ति-कल्पना-फूल,
अर्चन सौरभयुत कुसुम लेहु, अहो सुखमूल ।

३६२

पुहुप सुकोमल ये रँगे विविध भावना-रग,
श्वास वायु डोलित, करत प्रकट विकास उमग ।

३६३

ये वियोग-कटक जमे फूलन के सँग आय,
करहु कृपा एती, सजन, कटक देहु हटाय ।

३६४

कुसुमन न खिलि उठि रह्यौ आत्मसमर्पण भाव,
विस्फारित पँखुरी भई, नैकु न रह्यौ दुराव ।

३६५

वनमाली सीचत पुहुप, नयन-कणन तै नित्य,
इत रस शोषत रहतु है, नित वियोग आदित्य ।

३६६

रग-विरगे भाव के कुसुम खिले सुकुमार,
आवहु गूँथहु इनहि तुम, हे मम मालाकार ।

३६७

लै शूची परिहास की, ललित केलि को तार,
भेदि छेदि, करि मृदु चयन, करहु पुहुप निरवार ।

३६८

ललित, कलित, कोमल, मदिर, मधुर सुमन की गन्ध,
फैलि रही उद्यान बिच, अहो जीवनानन्द ।

३६९

हिय सिहाय, इत आय, पिय, माला मृदुल बनाय,
पहिरहु पहिरावहु बिहँसि, मन-मन मे हरषाय ।

३७०

आत्म-निवेदन-सुमन को, पिय, करिये स्वीकार,
हरिये इनकी उल्लसित उत्कठा को भार ।

३७१

सोरठा

असमर्पित रहि जाय, क्यो विकास-अस्तित्व यह ?
आवहु मान बिहाय, नयनन मे स्वीकृति लिए ।

३७२

देखि व्यर्थ श्रम आपुनो देखि शून्य उद्यान,
छिन-छिन मे अकुलात है, मन-माली अनजान ।

३७३

सीचि-सीचि हिय-वाटिका कर्‌यौ . प्रयास अथोर,
तऊ तिहारी ना भई, तनिक कृपा की कोर ।

३७४

लै निग्रह की कतरनी, मनमाली नित बैठि,
राग द्रुमन्हि छाटत रहत, हृदय-वाटिका पैठि ।

३७५

अमल सुमन फूलत हिये, नही वासना सग,
लखन-चरण-रति को चढ्यौ उन पै चोखो रग ।

३७६

करत रहत उद्यान मे भाव-भृग गुजार,
रोम-रोम लौ ह्वै उठत, गुन-गुन-धुनि-सचार ।

३७७

पुहुप-पँखुरिया ह्वै रही, लोचन-सीकर-सिक्त,
सद्य नेह-मधु सो भर्‌यो, कुसुमन को हिय रिक्त ।

३७८

एती नव-रस सो भरी यह सनेह निधि पीन,
युग अनादि तैं ह्वै रही तव चरणार्पण-लीन ।

३७६

मेरी जीवन-वल्लरी, तव अवलम्बन-हीन,
निरादृता सी ह्वै रही, धूरि-धूसरित, छीन ।

३८०

तुम द्रुम मम अश्वत्थ दृढ, लेहु बेलि लिपटाय,
अवलम्बन की साध मम, क्यो असफल रहि जाय ?

३८१

तुम आश्रयदाता, सजन, रस जीवन-दातार,
या भू-लुठित बेलि कौ, नेकु सम्हारहु भार ।

३८२

या सुकुमारी बेलि कौ, कौन बडो है भार ?
भुज-अवलम्बन तनिक तै, ह्वै जैहै उद्धार ।

३८३

छाय रहौ तव वक्ष पै, केवल एती चाह,
बस, इतनोई सो रह्यौ, या जीवन मे दाह ।

३८४

लिपटि लपैटौ भुजन तै, तुमहि जीवनाधार,
छाय, निछावर ह्वै रहौ, बस इतनी मनुहार ।

३८५

सोरठा

द्रुम-वल्लरी अधीर, वन्यौ निराश्रित हृदय मम,
निरलम्ब की पीर, आश्रय दै, हरि लेहु, पिय !

३८६

मानस-नभ मे दूर लौ, चढी कल्पना-चग,
लप-झप लप-झप करि रही, यह अनुरक्त पतग ।

३८७

नेह-डोर-अवलम्ब लै, चढी चग आकास,
ठुमकत, सर-सर करत नित, बढी जान मायास ।

३८८

लगन-मगन मन-गगन मे, लहरत इत-उत धाय
ठहरि-ठहरि भाजत, मनौ, कोउ कछु ढूँढत जाय ।

३८९

तुमहि ढूँढिबे यह चली, बँधि सनेह की डोर,
उत्सुक आकुलता लिए, लहरत कँपत अथोर ।

३९०

ठुमकावहु यह चग, पिय, श्री कर मे गहि डोर,
याहि डुलावहु हरषि हिय, मन-नभ बिच चहुँ ओर ।

३६१

कबहुँ डोर की ढील दै, कबहुँ खैचि कै, प्रान,
मन-नभ-मडल मे करहु, चग-केलि गुणवान ।

३६२

सोरठा

मेरी चचल चग, सजन, निहारहु नैन भरि,
ऐंच पैच को रग, सरसावहु मन-गगन मे ।

३६३

हृदय विपची तै उठै, किमि स्वर-मय झकार ?
का जानो कैसे भयो स्वर-साधन-सहार ?

३६४

जज्जर तूँबी हृदय की, दारु-खड-मन, मग्न,
तार भावना के सबै बिखरि, भए निर्लग्न ।

३६५

गायन-स्वर है रुदनमय, बहे आप ही आप,
मधुर मीड ध्वनि ह्वै गई, हिय हिचकी चुपचाप ।

३६६

चतुर कलाधर तुम निपुण वीणकार, हे नाथ,
या वीणा जर्ज्जरित की, लाज तिहारे हाथ ?

३९७

स्वर अरुझे, धुनि रुँधि गई, कहाँ तान-लय-कूक ?
हिय वीणा ते उठति है, एक मूक सी हूक ।

३९८

लुप्त भई सब स्वरन की, झन-झकार-मरोर,
मूक रुदन-कम्पन-मयी, हिय ते उठन हिलोर ।

३९९

वीणकार वीणा तजी, वीण तज्यो स्वर-भार,
स्वरन तज्यो गायन-नियम, भयो रुदन-मचार ।

४००

सोरठा

स्वर अरुझे, लय मूक, तार-तार ढीले परे,
हिय वेदना अचूक, हृदय विपची तै उठी ।

४०१

प्राणन मे फासी परी, पर्यो श्वास म फन्द,
रुँध्यो नाम-सस्मरण शुभ, प्रकट भयो दुख-द्वन्द ।

४०२

जीवन मे सुख-दुख को, देख्यो यहै हिसाब,
भरी मिली दुख की बही, सुख की रिक्त किताब ।

४०४

अन्तरतर रीत्यो पर्‍यो, भग ताल, रस, रग,
भई घोर रव रहित मम, यह अस्तित्व-मृदग ।

४०५

ध्रुपद ताल अटपट भई, तीनताल सम हीन,
अमित दीपचन्दी भई, चाचर गति अति छीन ।

४०६

दृढता मय हिय ध्रुपद गति, भई विकम्पित आज,
बिगरि गयो नैश्चिन्त्य मम, तीनताल सम साज ।

४०७

मधु सँजोग सुख मय ललित अमित सुरति रसलीन,
सहज दीपचन्दी भई, ताल हीन, सम हीन ।

४०८

उत्कठित अति चलित नित, मन गति चाचर ताल,
सम गति रहिता ह्वै गई, भई अटपटी चाल ।

४०९

सोरठा

ताल हीन, रव हीन, रीती परी मृदग यह,
करहु याहि रवपीन, भरि उद्घोष गभीर मृदु ।

४१०

तुम अनादि, शाश्वत, सजन, अन्तहीन मम आम,
उत अनादि मय ध्येय मम, इतै अनन्त प्रयाम ।

४११

तुम अनन्त आकाश, प्रिय, हौ अछोर नभ-गग,
तव वक्षस्थल पर उठत, मम उत्ताल तरग ।

४१२

तुम प्रकाश के पुज प्रिय, हौ लघु किरण निहारि,
हौ तव चिर अनुगामिनी, आज रही हिय हारि ।

४१३

तुम सगीत स्वरूप नित, हौ स्वर श्रुति लघु एक,
तुम बिन किमि निबहै, सजन, मम मृदुला स्वर-टेक ?

४१४

गहर गभीर समुद्र तुम, हौ लघु वीचि-विलास,
तुम न करहु जो कछु कृपा, तो कित कल उल्लास ?

४१५

गूँजि रही मन-गगन मे, पिय, तव धनु-टकार,
करहु नैन नाराच तै मम वियोग-सहार ।

४१६

कब लौ ? यो मन बावरो, पूछि रह्यो अकुलाय,
तब लौ, जब लौ काल को, चलन-कलन मिट जाय ?

४१७

रे मन, नेह निबाह को, पन्थ अगम्य, अनन्त,
या मारग को होत है, कहु, कब, केहि विधि, अन्त ?

४१८

नित सँजोग हू मे रहत, सदा पियासे प्रान,
सतत चटपटी ही अहै, शुचि सनेह वरदान ।

४१९

शारदीय नभ, नील तुम, नेह—सुपूरन-इन्दु,
आकर्षित हहरात मम वय अगाध हिय-सिन्धु ।

४२०

तुम आकाश असीम, हौ उदधि ससीम, गभीर,
मे॰ बनी तुम लौ गई, मम उसास की ॰ोर ।

४२१

नित जप, नित तप, ध्यान नित, नित पिय चिन्तन-योग,
नित्य नाम को सस्मरण, यो हो कटत वियोग ।

४२२

निशि-दिन चहकत रहतु है, यह मेरो मन-कीर,
कब अइहै जीवन धनी, निपट धनर्धर, धीर ?

४२३

वे सँजोग के सस्मरण, अजहूँ बने नवीन,
बीते युग-युग सम बरस, तऊ भए ना छीन ।

४२४

पैनी-पैनी दुख-अनी, अरु पैनी ह्वै जात,
ज्यो-ज्यो बीतत दिवस ये, ज्यो-ज्यो बीतत रात ।

४२५

जो न पावती प्रीति को, यह वेदना प्रसाद,
तो किमि सुनि सकते श्रवण, अनहद नेह-निनाद ?

४२६

विफल मनोरथ-तृणन सो छाई हृदय-कुटीर,
तृणन्हि उडावत जात यह, विथा-वायु गभीर ।

४२७

निर्जनता नीकी लगत, कोलाहल न सुहाय,
जन-सकुलित प्रदेश तै, चित्त उचटि अकुलाय ।

४२८

बैठि निपट एकान्त मे, धरिय ध्यान अविकार,
• तहँ रहि रचिये आपुनो, सपने को ससार।

४२९

जन-पद, जन-रव, जन-नगर, जन-गण हो अति दूर,
कहूँ कुटीर बनाइए, जहाँ मौन भरपूर।

४३०

सोरठा

रमि रहिए सब काल, अति नि शब्द प्रदेश मे,
चलिय अटपटी चाल, अति अबाध गति-रूप ह्वै।

४३१

जहाँ न पहुँचत शब्द, जहँ वायु-विकम्प न लेश,
जहँ न होत मति-गति चलित, तहाँ पिया को देश।

४३२

जहाँ धीर गभीरता, जहँ न रार, अविचार,
जहँ सम भाव-स्थिति सहज, तहँ पीतम-दरबार।

४३३

जहँ न कलह की कालिमा, जहँ न अलस अनुरक्ति,
तहाँ रहत पीतम, जहाँ जागरूक आसक्ति।

४३४

जहाँ मौन को राज, जहँ वाणी की गति नाँहि,
अलबेले पीतम चतुर, मतन बमन तेहि ठाँहि

४३५

आँखिन आँखिन मे जहाँ, होत प्राण-पण-मोल,
तहाँ कहहु, किमि वोलिए, निपट अधूरे वोल ?

४३६

आत्म-निवेदन मौनमय, हृदय-समर्पण मौन,
मौन दान-प्रतिदान यह, हिय सघर्पण मौन।

४३७

बजत सजन की मुरलिया, मौन-राग-स्वर साधि,
उत्प्राणित हिय ते बहत, पूरन प्रेम अनादि।

४३८

जहाँ मौन की पूर्णता, चहाँ मौन उपराम,
तहँ शब्दोच्चारण लगत, निपट असस्कृत, बाम।

४३९

शब्द-समुद्र मँझाइ कै मम नीरव प्रमेश,
पहुँचि गए वा पार, जहँ पूर्ण मौन को देश।

४४०

चढि उसाँस की नाव, हौ पहुँचौगी वा पार,
या वचनोदधि के परे, जहाँ मौन मय प्यार ।

४४१

सोरठा

कबहुँ न करिए भग, अनबोली आराधना,
जब सिहरत अँग-अग, तब मुखते का बोलिए ?

४४२

शब्द, दीन ह्वै कठ मे, अटकि-अटकि रहि जात,
अति नीरव स्वर-हीनता, उठि आवत, अकुलात ।

४४३

ध्वनि-शून्यता-प्रसार तहँ, पूरनता जहँ होय,
चहिय राखिबो आपुनो, नेह मरम सब गोय ।

४४४

जहाँ भरित चिर नेह, तहँ कहाँ शब्द-व्यापार ?
हिय-कम्पन हू थम्हत जहँ, तहँ किमि सरव विकार ?

४४५

वायु-विकम्पन श्रवण-गत, अहै शब्द-ध्वनि-रूप,
पै मन-इन्द्रिय के परे, राजत मौन अनूप ।

४४६

श्रवण, नयन, मुख, नासिका, मन, शरीर, अँग-अग,
ना जाने कब के बिके, अपने पिय के सग।

४४७

अब कैसी ध्वनि-निपुणता, कैसो स्वर-सचार ?
शब्द थके, रसना मगन, छूट्यो भव-रव-भार।

४४८

सोरठा

मौन धारि, मन वारि, मन ही मन आराधिबौ,
हिय के नैन उघारि, रहसि देखिबौ पिय-छटा।

४४९

अन्तर पट करि राखिये, अपनी प्रीति नवीन,
मन की मन मे जो रहै, कबहु न होवे छीन।

४५०

प्रीति लजीली रहत नित, घूँघट-पट की ओट,
कबहु न वाको दीजिए, जग-नयनन की चोट।

४५१

प्रेम-सुगोपन हित निरत, अहै श्याम-पट एक,
जासौ लगै न नेह कौ, जग कुदृष्टि की रेख।

४५२

सरल नन्तु को पुज यह, बन्यौ सुगोपन-मत्र,
तन्तु वाय मन बनि रह्यौ, जीवन भयो सुयत्र ।

४५३

ताना लै एकान्त कौ, बाना—वचन-निरोध,
कारीगर ने पट बुन्यौ, हिय मे धारि प्रबोध ।

४५४

मन ने यह शुचि पट बुन्यौ, लै गोपन के तार,
मौन-सॉवरे-वस्त्र को, फैलि रह्यौ विस्तार ।

४५५

श्यामल अचल मौन को, ओढि चिरन्तन प्रीति,
दरसावतु है मौन मय, हृदय-समर्पण-रीति ।

४५६

कर कम्पन, लोचन सजल, विचलित विकल उसॉस,
कबहुॅ-कबहुॅ कहि देत ये, गुप्त प्रीति-रस-फास ।

४५७

कैसे इनहि निवारिये, ये नहि छाडत सग,
हठ करि रहत समीप नित, करत मौन-रस भग ।

४५८

झलकत लोचन कणन मे प्रीति-विश्रा-अनिग्क
ज्यो झलकत सत्वृतिन मे हिय को अमल विवेक ।

४५९

मौन श्याम पट मे दुरी, जदपि प्रीति सुकुमार,
तऊ सकल ससार म चरचा भई अपार ।

४६०

छानी मानी राखिबौ, सबै चहत रस-रीति,
फैलि जात पै वह, यहै बडी जु प्रीति अनीति ।

४६१

कैसे प्रीति दुराइए ? है अति कठिन दुराव,
हाव-भाव रँग-ढग सौ, छलकि उटत हिय-चाव ।

४६२

गुप-चुप के अरमान वे, गुप-चुप को हिय-दान,
गुपचुप के रस भाव, सब प्रकट होत अनजान ।

४६३

तऊ न मुख तै बोलिए, या मे है बड भेद,
अनबोली हिय लगन मे, मिलत भक्ति निर्वेद ।

४६४

आत्मवन्त निर्द्वन्द ह्वे, प्रेम-योग रसमत्त,
अनबोले प्रिय चरण मे, करिये हृदय प्रदत्त ।

४६५

अव्यवसायी बुद्धि ते, प्रेम योग ना होय
अव्यभिचारी भक्त जे, पावत पीतम सोय ।

४६६

कल्मष रहित, प्रशान्त चित, प्रेम मगन सब काल,
तेई पावत आपुनो, सजन प्रीति प्रतिपाल ।

४६७

सतत ध्यान को धुन लगै, तब कित शब्द-प्रमाद ?
भूलि जात उन छिनन मे, या तन हू की याद ।

४६८

शब्द ब्रह्म हू ते परे, पीतम की पद-पीठ,
देखि सकत सोई, खुल जिनकी अन्तर दीठ ।

४६९

सोरठा

ठाढी कब सो प्रीति, घूँघट-पट की ओट ह्वै,
डिगी जात रस-रीति, पिय, वियोग-अन्तर हरहु ।

४७०

मम लघु जीवन-परिधि के, केन्द्र-बिन्दु तुम, देव,
तुम साधन, तुम सिद्धि मम, तुम सुमिद्ध म्वयमेव ।

४७१

खचित भाग्य रेखान के, तुम रेखा-गणितज्ञ
उलटी-सीधी रेख सब, जानत तुम, सर्वज्ञ ।

४७२

परिधि होत ज्यो-ज्यो बडी, होत केन्द्र सो रद्द,
अह-भाव के वढत ज्यो, बढत अन्धतम कर ।

४७३

बढत जात ज्यो-ज्यो सतत, अपनपन को गर्व
दर होत तितनो अधिक, आत्म-निवेदन पर्व ।

४७४

जितनी ही छोटी परिधि, जितनो लघु विस्तार
उतनो केन्द्र नगीच है, समझ ममझनहार ।

४७५

काका कहियत चेतना ? जीवन कहा कहाय ?
कहा तत्त्व या स्फुरण को, जो इत-उत चलि जाय ?

४७६

जीवन - यह नव चेतना, अहै दरस की प्यास,
याही तै उत्क्रमण को, यहाँ प्रवास - प्रयास ।

४७७

जा छिन तैं वा एक के भए स्वरूप अनेक,
प्रकटचो ताई समय तै, यह चेतना - विवेक ।

४७८

चेतनता प्रकटी भली, जीवन मिल्यो अनन्त,
जीवन के सँग - सँग चली दग्सन - प्यास ज्वलन्त ।

४७९

अवश गुणन तें बँधि रह्यो, वह निरगुनी महान,
अगुन होइबे को पुन मचलि रह्यो गुणवान ।

४८०

पुन प्राप्ति निज रूप की, पुन पूर्ण विस्तार,
याई सतत प्रयत्न तै, मचत हिये मै रार ।

४८१

जीवन मे अरुझे अमित इच्छा, द्वेष, विकार,
द्वन्द्व - विमोहन - भाव ये, काम, राग, अविचार ।

४८२

क्यो आवत कुविचार ? यो पूछत है नर - नारि,
यह हू है उन सजन की, एक अदा सुकुमारि ।

४८३

लीला मय, लीला निरत, लीला करन अपार,
पाप, पुण्य मिस करि रहे, निज लीला - विस्तार ।

४८४

ह्वे मोहित इत- उत अटकि, भटकि जात नर-नारि,
मार्ग - भ्रष्ट ह्वे जात है, प्रिय की डगर विसारि ।

४८५

गिरि परिबौ, उठिबो पुन , नेकु न रहिबौ हार,
पीतम की या गैल मै, कैसौ हार - विचार ?

४८६

हिय मे लिए चिरन्तनी प्यास - प्रणोदित आस,
युग अनादि त हौ, चली आवतु हौ, सोल्लास ।

४८७

अब पाये, पाये पिया, भाजि न सकिहौ और,
पट - अचल मे बाँधि कै, राखहुँगी बरजोर ।

४८८

मम युग-युग की साधना, या जीवन मे आय
ह्वै है पूरन-काम ध्रुव, अपनो पीतम पाय।

४८९

जब ह्वै है पिय दरस, तब का ह्वै है हिय-बीच ?
तब मो मन ह्‌वै जायगो, कालातीत नगीच।

४९०

क्षर-अक्षर तै, काल तै, कारण हूँ ते दूर,
जो झलकै, तो रिक्त-हिय, क्यो न होय भरपूर ?

४९१

अटल परन्तप सजन मम, गुडाकेश, उद्‌बुद्ध,
उनकी पद रज ते बनत हिय तद्रूप, विशुद्ध।

४९२

काम, क्रोध, मद, लोभ तजि, मत्सर, द्वेष विकार,
चलिए पिय की डगरिया, यहै चिरन्तन प्यार।

४९३

भव्य राजप्रासाद यह, सुदृढ प्राचीर,
तुम बिन सब सूने भए, हे धनुधारी धीर।

४६४

उचटि रमत मन वन विषै, भावत नाहिन भोन,
रहित चित्त औदास्यमय, जीभ रही गहि मौन ।

४६५

दखिन पौन, री, मद भरी, हौले-होल आय,
मेरे ऑगन डोलि तू, पिय-बतियाँ बनराय ।

४६६

कहु, कहु, कैसे है सजन ? एरी दखिन बयार,
कहु, शिर पे केतो बढ्यो, जटा-जूट को भार ?

४६७

केती गहरी, बोलि री, भई बिवाई पाय ?
कुलिश शूल केते गए, तलुअन बीच समाय ?

४६८

रघुकुल की श्री कीर्ति वह, मिथिलाकुल की कान,
कैसी है मम अग्रजा, कोमल पुहुप समान ?

४६९

जिनके स्वप्निल नयन मे, देश, काल, आकास,
आर्य राम वे, करत किमि, कहु, वन-बीच निवास ।

५००

पहिरत ह्वेहै कौन विधि, सीता बल्कल चीर ?
सजन सम्हारत होइगे केहि बिधि पर्ण-कुटीर ?

५०१

वर्षातप, आँधी प्रखर, शीत, उपल को त्रास,
अरु वन-वन को डोलिबो, तृण-कुटीर को वास।

५०२

दक्षिण दिशि दूती, अरी, ओ अटपटी बयार,
अजहूँ धारण करि रही, हौ जीवन को भार।

५०३

धनु धारे, तणीर कसि, करि आखेटक वेश,
विचरत ह्वेहै प्राण-धन, हरत विजन को क्लेश।

५०४

वल्कल—पट सो अरुझि कै, वन-झारिन के शूल,
कहत होयगे सजन सो, आए कित पथ भूल ?

५०५

चढि ऊँचे गिरि-शिखिर पै, लै दृढ धनु की टेक,
पीय निहारत होइगे, दूर, क्षितिज की रेख।

५०६

आखिन म सपनो भरे, नासा में उच्छ्वास
होत होइगे, देखि इत, पीतम कछुक उदास ।

५०७

सीय - राम - लक्ष्मण - चरण - रेणु गहन वन माँझ
वन-जन-दुख ह्वैहें हरत, प्रति प्रात , प्रति माँझ ।

५०८

करि विनष्ट अज्ञान-तम, हरिवो जड भू-भार,
बडो कठिनतर कर्म्म यह, करिवौ ज्ञान - प्रसार ।

५०९

धर्म-भावना जगत की, उठी हिए मे पीर,
राजमहल ऊजड भए, वन मे बसी कुटीर ।

५१०

सूने परे गवाक्ष ये, शून्य भई सब ठौर,
जा दिन ते कमलाक्ष मम, मुरे विपिन की ओर ।

५११

वातायन मो सदन के, भये उदास अपार,
अब कोउ उत्सुक ना रह्यो, उनतै झाँकन हार ।

५१२

लता गुल्म तरु बाग के, लगत अनमने दीन,
पुहुप दुखारे ह्वे रहे, गन्ध हीन, श्रीहीन ।

५१३

अवध विकल, जनपद विकल, विकल अवध की गैल,
वन हुलसिन, वन-जन मुदित, मुदित विन्ध्य को शल ।

५१४

विकट नियम यह राम को, जानत है कोउ कोय
कछु व्यक्तिन को हिय दरद, जग को मरहम होय ।

५१५

एक खपै, वरु, जग जिए, यहै धर्म को तत्व,
नतरु निमिष मे जगत मब, ह्वे जैहै नि सत्व ।

५१६

निश्चय, यह गृह, अवध यह, यह सरयू को तीर,
राजभवन, उद्यान, सब सूने भए अधीर ।

५१७

निहचै, हिय सूनो पर्‌यो, मम कुटीर हू शून्य,
रजत बालुकामय भए, नदी-तीर हू शून्य ।

५१८

मानु सुमित्रा देवि को, धीर हृदय हहरात,
भरत बन्धु को नयन-जल, नैकु नाहि ठहरात।

५१९

बढ़ि-बढ़ि आवत नैन ते, विकल द्विवेणी-धार,
फुर, उन बिच हिय-धैर्य हू, भयो अधीर उभार।

५२०

पै व्याकुलता तै कहू, मर्‍यो करत है काम ?
जीवन-मूल्य चुकाइए, दै-दै चौखे दाम।

५२१

जीवन-धारण है कर्‍यो हँसी-खेल कछु नाहि,
विना प्राण-उत्सर्ग के, ठौर नाहि, जग माहि।

५२२

पूज्य श्वसुर निज प्राण दै, थाप्यो नव आदर्श,
अब ह्वैहै इक नाम तें, प्रण-वात्सल्य-विमर्श।

५२३

त्याग और सन्यास की परिभाषा अब एक,
भरत पूर्ण सन्यास है, भरत त्याग तप टेक।

५२४

मानवता किमि पावती, ये अमोल उपहार,
यदि न ऊर्म्मिला सदन मै होतो हाहाकार ?

५२५

कहा भयो जो वन गई सीता सती पवित्र ?
जन-मन अंकित होयगो वह आदर्श चरित्र ।

५२६

मानवता जब मत्त ह्वै, भूलेगी सत् रूप,
तब सीता को स्मरण शुभ दै है शाति अनूप ।

५२७

कहा भयौ जो ऊर्म्मिला तडपति है दिन-रैन ?
याई मिस जग ह्वै रह्यो, पुण्य ज्ञान गुण ऐन ।

५२८

यज्ञ, आत्म बलिदानमय, भई जगत की सृष्टि,
मम साजन पोषण करत, करि दृग-जल की वृष्टि ।

५२९

आखे रोवति बावरी, हिय मूरख हहरात,
पै विवेक गम्भीर ह्वै, कहत तितिक्षा बात ।

५३०

मन मातौ मानन नही, भटकि जात वा गेल,
जहाँ रुदन की हाट मे, विकत स्निग्धता-तैल ।

५३१

हँसि-हँसि सहिये वेदना, कहत ज्ञान यो वान,
रोय लीजिए कबहुँ तौ, यो कहि मन बिलखात ।

५३२

जब अधरन तै भरत है ललित हास्य के फूल,
तब खटकतु है दृगन मे, गलित रुदन के शूल ।

५३३

जब प्रकटत है अधर त कोमल हास-विलास,
ताई छिन चुइ परत है दृग तै कमक उदास ।

५३४

ललित हास्य, विगलित रुदन, फुल्ल वदन, दृग आर्द्र,
ये प्रसाद विभु ने दिए, ह्वै प्रसन्न करुणार्द्र ।

५३५

झलकत ज्यो नभ वक्ष पै, नैश तारिका-माल,
त्यो हिय मे तपकत रहत, रजित व्यथा-प्रवाल ।

५३६

हिय क हा-हाकार को, नेह न कहत प्रवीन,
नेहा गहर गभीर है, थिर है, नित्य अदीन ।

५३७

नेह न हा-हा खातु है, भीख न मागत नेह,
नित्य मगन, नित तुष्ट जे, नेह-नीति - धर तेह ।

५३८

मँगता मागत दीन ह्वै, कृपा कोर की भीख,
बिना मोल बिकि जाइबो, यही नेह की लीक ।

५३९

बिन मोचे, बिन कछु कहे, बिना भाव अनजान,
न्योछावर ह्वै जात हैं, दृग, मन, हिय, जिय, प्रान ।

५४०

कहा मागिबो रोइ कै, पिय को नेह प्रसाद ?
हौ न याचिका, जो करौ ठाकुर सो फरियाद ।

५४१

जोगी जोगिन प्रेम के, आतुर याचक नाहि,
वे है प्रेमी, बावरे, ठाकुर जिन हिय माहि ।

५४२

हॉ कवहू हिय कहि उठत, व्यथा इत्यलम् देव ।
कहा करौं कछु परि गई, हिय की दुर्बल टेव ।

५४३

ज्यो अनचाह कढि उठत, अन्तस्तल की आह,
त्योई कवहू दैन्य-मिस, प्रकटत हिय को दाह ।

५४४

पै अब पिय लौ जाहुगी, हौ ह्वै निपट अदीन,
तापस पिय ढिग जाय किमि, हृदय-दीनता छीन ?

५४५

हे हिय, अब छाडहु इतै, अपनो हा-हाकार,
धरहु धीर उपरामता, अरु निर्वेद अपार ।

५४६

साजन बन तप तपि रहे, प्रज्वल दिवस-मणीव,
धरहु ध्यान, हे हृदय तुम, अव ह्वै के उद्ग्रीव ।

५४७

दीन बने, नत ग्रीव ह्वै, अब न बितावहु काल,
शुद्ध सनेह-प्रवाह है, नित अदीन, उत्ताल ।

५४८

रसमाती घहरत सदा मगन लगन की बाढ,
अलस दैन्य कैसो वहा, जहा सनेह प्रगाढ ?

५४६

होत जात है नेह-नद अब अति गहर-गभीर,
निज सागर दिशि बढि रह्यौ, श्री यमुनैव सुधीर।

५५०

अवश मिटैगो एक दिन, यह प्रवास को त्रास,
निहचै इक दिन होइगो, सागर-हृदय निवास।

५५१

नित्य, सनातन, ज्योतिमय, मेरे पिय की कान्ति,
उनके चिन्तन, ध्यान मे, कितै दैन्य ? कहँ भ्रान्ति ?

५५२

विगतज्ज्वर ह्वै, दैन्य तजि, धरिय ध्यान मन लाय,
नित पीतम को ध्याइए, सुख-एषणा विहाय।

५५३

कबहुँ न करिये प्रार्थना, कहिय न कातर बैन,
हिय को सदा बनाइए ध्यान, भक्ति, रति ऐन।

५५४

नन सेन तै हूँ न कहुं, छलकै कानर भाव,
या त लोचन म सदा, भरिय अचचल्ल चाव ।

५५५

दिन दूनी, निशि चौगुनी पुनि याही अनुपात,
बढै जु हिय की विकलता, तउ रहियें मुसकात ।

५५६

कबहुँ न कीजै सजन की, कहूँ सिकायत जाय,
यो न ढिढोरा पीटिए, हिय-लघुता दरसाय ।

५५७

रस-प्रतिदान निबाहिबौ, है यह उनको काम,
अपनो एतो काम है, बिकि जैबौ बेदाम ।

५५८

काऊ कौ यदि ठसक यह, कि हम बडे रस राय,
हमे ठसक यह, भक्त हम, नि साधन, निरुपाय ।

५५९

लेहु, चहै ठुकराहु, पिय, हिय तव चरणन पाँहि,
ठकुर सुहाती क्यो कहौ ? चाटुकारिणी नाहि ।

५६०

दरस प्यास की आस बड, तडपावतु है प्रान,
तऊ डगर ना छाँडिहौ, करिहौं सतत पयान ।

५६१

तुम इतमो जनि देखियो, चढि उत्तग पहाड,
या दिशि मे उमडी अहै, दृग-सरिता की बाढ ।

५६२

पिय कहिहौ ना हिय-बिथा, अपनौ धीरज खोय,
सीखि गई हौ राखिबौ, बिथा हिये म गोय ।

५६३

पिय के दुसह वियोग मे, केहि बिधि निकसै प्रान ?
स्मरण ध्यान के पाश मे, अटके रहत निदान ।

५६४

हिय, जिय, दृग उच्छ्वास मे, पीतम रहे समाय,
रोम-रोम मे पिय रमे, प्राण कहा तै जाय ?

५६५

बलिहारी या नेह की, प्राण जान नहि देत,
निशि दिन तडपावत रहत, कठिन परीक्षा लेत ।

५६६

छाडि प्राण यो सेत मे, पियहि न मिलिए धाय,
प्रेम-नेम प्रतिपालिए, आजीवन मन लाय ।

५६७

प्राण त्यागि देवौ, अहै कछु न कठिनतर कर्म्म,
जीवित रहि, महिबौ विथा, यहै प्रेम को मर्म्म ।

५६८

अमर प्रेम-रसमत्त ह्वै, प्रमी साधत योग,
मृत्यु एक मदिरा अहै, पियत न नहीं लोग ।

५६९

कहा बडाई मद पिय, भए शून्य, मदहोश ?
जागरूक ह्वै साधिबो, प्रम योग निर्दोष ।

५७०

प्रेम वियोगी मृत्यु को, नहि मागत वरदान,
अमृत भक्ति अनुरक्ति जहँ, तहँ कैसो अवसान ?

५७१

सूत्रधार जहँ प्रेम चिर, अमृत नटी, नट राज,
मृत्यु यवनिका को तहाँ, कहौ, कोन सो काज ?

५७२

छकि छकि दृग-मधुकरन ने, कर्‌यो रूप रस-पान,
वियोगाग्नि मे करत वे, अब छकि-छकि असनान ।

५७३

ह्वै वैश्वानर रूपिणी, विरह्-हुताशन-जाल,
दहत मोह्, आवत निखरि, प्रेम-हेम तत्काल ।

५७४

प्रेम कहा, जो ना पर्‌यो, विरह् अनल की आच ?
बन्हि परीक्षित नेह है, नित्य चिरन्तन साच ।

५७५

जब नाचै मन मगन ह्वै, विरह्-अशनि के बीच,
तबै समझिये, वह भयो कछुक सनेह् नगीच ।

५७६

अनल-रास-क्रीडा बनी, प्रेम-परीक्षा शुद्ध,
ता बिन नाहिन होतु है शुद्ध नेह उद्‌बुद्ध ।

५७७

क्यो न अनल-ताडव मचै ? क्यो ना धधके ज्वाल ?
क्यो न लपकि लपटै बढ़े, हिय-दाहक विकराल ?

५७८

जहा मिलन को लास्य है, जहँ सँजोग-माधुर्य,
तहा विरह-ताडव अथिर, तहँ वियोग-प्राचुर्य ।

५७९

बनी मजन प्रच्छन्नता, अग्नि चड, विकराल,
दरस चाह की वढि चली, ललकि लपट द्रुत लाल ।

५८०

भए भसम वा अग्नि मे, मबे कुशल अरु छेम,
एक वस्तु यह वचि रही, शुद्ध प्रेम को नेम ।

५८१

छिन-छिन ज्यो-ज्यो तपतु है, त्यो-त्यो निखरत रग,
खूव बनायो ईश ने, अग्नि-प्रेम को सग ।

५८२

लोभ, लाभ, सुख, धाम, धन, लौकिकता, कुसलात,
प्रेम-पन्थ जो चलिय, तौ, भसम करिय ये सात ।

५८३

लघु लौकिक उपचार ते होत न नेह-निबाह,
ऐडी-बैडी, अटपटी अहै नेह की राह ।

५८४

ज्ञानानल ज्यो दहत है अज्ञानान्धकार,
त्यो विकार कौ, विरह की अग्नि करत है क्षार ।

५८५

सोरठा

कसर न कछ रहि जाय, विरह ज्वाल धधके अमित,
सैत गई पिय पाय, कहै न यो कोउ अन्त मे ।

५८६

प्रेम भावना तो अहै, अन्वषण सायास,
जाको आदि न अन्त है, ऐसो अथक प्रयास ।

५८७

प्रीतम मति गति अनुसरण, अहै प्रेम को तत्व,
प्रेम कहा ? है खोइबो, अपनो क्षुद्र निजत्व ।

५८८

देखिय अनहकार न, अपनौ मदा लघुत्व,
आत्म - निवेदन - भाव म, कैसो आत्म गुरुत्व ?

५८९

अनुसरिये मब काल म, प्रियतम की पद-रेख,
आकुल ह्व न बिसारिये, हिय को अमल विवेक ।

५९०

पुण्य प्रेम मादक अहै, किन्तु न रहित विवेक ।
प्रेम मत्त, छाँडत नहीं निज विशुद्धि की टक ।

५९१

जानत हौ, मानत नही, कसकत पीर अधीर,
जानत हौ, दृग तै छलकि उठत नीर हिय चीर ।

५९२

जानत हौ, यह प्रेम को पन्थ अटपटो होय,
तऊ हृदय या गल पै चलत, अपुनपो खोय ।

५९३

जानत हौ, सव बात, पै, हिय तैं कहा बसाय ?
सिसकत, मचलत, हँसत कछु, वा मारग चलि जाय ।

५९४

एक विवशता-सी अहै, हिय लगिबे की वात,
बरबस सिच जैबौ परत, जब हिय ललकि लुभात ।

५९५

रात दिना के दरद को, लेत विहँसि हिय मोल,
फिर खोयो-खोयो फिरत, नैनन मे मद घोल ।

५९६

जानि दरद की अमिटता, यदि न करे कोउ नेह,
कहा कहिय वा मनुज को ? वृथा धरी नर देह ।

५९७

वहिरन्तर के, दृगन के, खुले होत है प्रेम,
जौ न हिये की खुलि सकै, तौ नहि निबहत नेम ।

५९८

नैकहु नैना ना नमे, जब देख्यो वह रूप,
वह किशोरपन की ठसक, वह छवि शुभ्र अनूप ।

५९९

अजहूँ या स्मृति-पटल पँ, बरसन की वह बात,
अंकित ऐसी है मनहुँ चढी जु काल्हि बरात ।

६००

धनुष-यज्ञ की वह छटा, राजन्हि के वे ठाठ,
तुम ऐसो दुर्धर्ष वह, मानहु उकठ कुकाठ ।

६०१

आर्य राम को धैर्य वह, उनको वह उल्लास,
राम नयन गभीरता, लखन नयन चल रास ।

६०२

वह उत्साह अदम्य अति, उनकी वह ठकुरास,
सद्यस्मृति सी अजहुँ वह, हियहि करत सोल्लास ।

६०३

वह विवाह-मडप विशद, वे गुरुजन, वे तात,
आह, काल कब थिर रह्यो ? भई पुरानी बात ।

६०४

बडी पुरानी बात है, पै नित नई लखात,
वाई दिन तो हृदय मे, भयो नेह-सघात ?

६०५

युग-युग को सम्बन्ध वह, वा दिन भयो नवीन,
फिरि कै जगि आई वहै, प्रीति-रीति प्राचीन ।

६०६

वा दिन की उनकी गुनौ, कौन-कौन सी बात,
उनकी तौ प्रति बात मे, दीखत मधु छलकात ।

६०७

उन बातन कौ सुमिरि कै, हिरदौ भरि-भरि जात,
उन मधुमय घटिकान मे, हतौ न विधि उत्तपात ।

६०८

वा दिन जब आई घडी पाणिगहन की, आह,
हिय मे तब कितनौ हतौ, आतुर, अमल उछाह ।

६०९

धरकि रह्यो हो बेग तै मेरो हिय सुकुमार,
उन तन झिझकत रहि गई, नैन उघारि निहारि ।

६१०

ममात्मजा यह ऊर्म्मिला - कर गहु, लक्ष्मण धीर ।
तात चरण बोले गिरा यो सागर गभीर ।

६११

उनने कम्पित पाणि गहि, भर्‌यो हिये रस-रग,
उन लोचन मे प्यार हो, मो दृग भक्ति तरग ।

६१२

आह सुदृढ कर - गहन वह, मम अवलम्बन - भाव,
मोहि स्मरण है वा निमिष, मिटि गौ द्वैत-दुराव ।

६१३

मिली ऊर्म्मिला लखन मे, लखन ऊर्म्मिला आय,
उत्तरीय सौ बँधि गयो, मेरो अचल जाय ।

६१३

वह गठबधन, हिय चलन, पाणि - गहन वह मूक,
वाई छिन जागी हिए, रस-भावना मलूक ।

६१५

गठबधन वह ना हतो, वह न हतो पट-बन्ध,
वह तो जीवन-गाँठ ही, वह प्राणन को फन्द ।

६१६

यज्ञ, अनल, नक्षत्र, शशि, सूर्य, लग्न, शुभ वर्ष,
ये क्षर, अक्षर प्रेम के साक्षी भए सहर्ष ।

६१७

यज्ञ-हुताशन की बढी, जब ज्वाला उत्ताल,
तब हम दोउन के, मनो, हिय ह्वै गये निहाल ।

६१८

स्वाहा ! स्वाहा ! को उठी हुती सुध्वनि गभीर,
ता छिन स्वाहा ह्वै गई, अह-भावना-पीर ।

६१९

उन सँग अग्नि - प्रदक्षिणा पूर्ण भई जा काल,
तब तै अर्पित ह्वै गयो, हृदय भूलि निज हाल ।

६२०

वा दिन की इक बात तो, अजहुँ मोहि हुलसात,
अजहूँ हौ हँसि लेतु हौ, सोचि-सोचि वह बात ।

६२१

इतनी दृढता सो गह्यो, मो कर उन, करि प्यार,
हौ विदेह-तनया, नतरु, करि उठती सीत्कार ।

६२२

पाणि गहन के समय के वे सब स्मरण-उमग,
मन मे उठि करि देत है, हृदय आज हू भग ।

६२३

वे दिन का जानौ किते, सहसा गए पराय ?
पछी के-से उडि गए अपनो नीड बिहाय ।

६२४

वे दिन सुख सपने भय, उलटयो दैव-विधान,
भयो जागरण स्वप्न, अरु, स्वप्न जागरण मान ।

६२५

सुख की स्वप्निल कल्पना, जागृत भई सशक,
सुख कौ ध्रुव जागरण वह पर्यो स्वप्न-पर्यंक ।

६२६

खोई-खोई वृत्ति इक, उठि आवत है म्लान,
इत-उत सब दिशि मे लगत निरानन्द मुनमान ।

६२७

उडत नयन-अलि गगन तन यो ई से अकुलात,
उदासीन हिय होत है, अग शिथिल वै जात ।

६२८

शून्य नील आकाश मे, नैना विचरत जाय,
कढि आवत है हृदय ते, विफल आह निरुपाय ।

६२९

भ्रमित श्रमित ह्वै जात हैं, मग्न मनोरथ मौन,
थकित शिथिल सो चलत है, यह उसाँस को पौन ।

६३०

मथित, गलित, अति चलित हिय, दरसावत है क्लान्ति,
प्रतिक्रिया मिस यो कबहुँ, वह पावत विश्रान्ति ।

६३१

सुरति अथक, पै, अधिकरण शिथिल होत एहि ठाहि,
तन धरिबे की यह बिथा, मिटत पूर्णत नाहि ।

६३२

श्रान्त, अहो प्रिय, श्रान्त अति, बहुत भई हौ श्रान्त,
पै ध्रुव पद धरती, चली आवतु हौ निभ्रान्ति ।

६३३

थकी अमित, पै रचहू, हौ न मानिहौ हार,
छोड चुकी कबकी, सजन, हिय को हार विकार ।

६३४

लेहु गोद, हौ थकि गई, यह न कहौगी, देव,
अब तौ पथ पै चलन की खूब परि गई टेव ।

६३५

हारै इन्द्रिय उपकरण, तो न कछू बडि बात,
अथक रहै जो हिय लगन, तौ न साधना घात ।

६३६

पथ को महदन्तर निरखि, निरखि मार्ग विस्तीर्ण,
सत्य साधना को हृदय, कबहुँ न होत विदीर्ण ।

६२७

अथक चरण, दरसन लगन, अथक साधना नीक,
सन्नेहाराधन अथक, अमिट नह की लीक ।

६३८

अमिट नेह की लीक पै धरत-धरत ध्रुव पाय,
निहचै इक दिन लेहुँगी अपने पियहि मनाय ।

६३९

ऊँची पै • ऊँची चढत जात प्रेम की बाट,
चढि चलु, चढि चलु, विरहणी, खोले नैन कपाट ।

६४०

काल सान्त वामे लगे तीन काल के जोड,
वह मम नित्य सनेह सो, किमि बद सकिहै होड ?

६४१

अवधि रहित, अन्तर रहित, अन्तर्हित, अन अन्त,
अपलक, अमल, सनेह चिर, इति वदन्ति गुणवन्त ।

६४२

बरस, मास, दिन, रात, पल, घटिका, निमिष, मुहूर्त,
इनकी का गिनती, जहाँ भयो नेह-रस स्फूर्त ।

६४३

छूटि गयो दिन गिनन को मेरो विकल स्वभाव,
जागि गयो है अब हिये, कछु-कछु अविकल चाव ।

६४४

यह वियोग हू ह्वै रह्यो, अब सयोग-प्रतीत,
धृति गृहीत मय ह्वै चल्यो कछु-कछु द्वन्द्वातीत ।

६४५

तपत विरह धूनी, भई मति-गति कछुक समान,
हौले-हौले हटि रह्यो, यह अन्तर अज्ञान ।

६४६

ध्यान योग ही मै झलकि, मिलत मधुर सयोग,
कहा सँयोग-वियोग को छूटि जायगो भोग ?

६४७

धरकहु मत, हे हृदय तुम, करकहु मत, हे नैन,
दरकहु मत, तन-भाड हे, उफनहु जनि मन-फैन ।

६४८

होहु उपरमित शमित नित, धरहु ध्यान, धरि धीर,
पीतम आए गेह मम, बने चिरन्तन पीर ।

६४९

आज वेदना-रूप धरि, आए सजन सुजान,
लेहु बलैयाँ हुलसि, हिय, करहु समर्पित प्रान ।

६५०

वे आए आसू बने, वे वन आए चोट,
वे आए है विरह बनि, ह्वै नैंनन की ओट ।

६५१

हिय-कम्पन-मिस करि रहे, पिय, उत्पल माल्राॅच,
रोम-रोम मे रमि रहे, वे बनि चिर रोमाच ।

६५२

अधरन मे लाली बने, रजित भए सुजान,
नयनन्हिँ बने कनीनिका, भए कृष्ण रँग खान ।

६५३

सघन केस मिस उडि सजन, या मुख पै मँडरात,
लट मिस लटकि कपोल पै, चुम्बन करत सिहात ।

६५४

आकुलता बनि कै हिये, छाय रहत पिय आय,
कबहूँ ह्वै रस-लीनता, आवत लाज बिहाय ।

६५५

आवत है कबहूँ सजन, बनि कै हिय की खीझ,
कबहूँ मन प्रसाद बनि, छाय रहत पिय रीझ ।

६५६

अरी ऊर्म्मिले, बावरी, छटा निहारहु आज,
भीतर-बाहर सजन के, लखहु अटपटे काज ।

६५७

कबहूँ आवत है सजन, बने माघ के मेह,
प्रलयकर प्लावन भरत, मोरे आगन-गेह ।

६५८

गरजत, हहरत, करत है, भीम भयकर घोष,
घन - गर्जन-उद्घोष मिस प्रकट होत पिय-रोष ।

६५९

झकझोरत तन सजन, बनि झझानिल-सचार,
दिक्-दिगन्त लौ होत है, जड थिरता सहार ।

६६०

घन-गर्जन ? अथवा अहै यह पिय धनु-टकार ??
किवा उनकी सुनि परत, यह गभीर हुकार ?

६६१

बने शीत हेमन्त की, ठिठुरावत अँग-अग,
कुज्झटिका बनि पिय भरत, दृग मे धूमिल रग ।

६६२

कबहू बिलसत गगन मे, पिय बनि पूरन इन्दु,
पुनि कबहू चुइ परत हैं, बनि-बनि सीकर बिन्दु ।

६६३

बरसन कबहू उपल बनि कबहु बने जलधार,
कबहू बनि घन बीजुरी, चमकत सौ-सौ बार ।

६६४

पतझड की पीडा बने, बने वसन्त विलास,
मरण-जनम के वक्ष पै, करत रहत पिय रास ।

६६५

पात-विलगता मिस भयौ, उनको प्रकट विराग,
नव किसलय-दल मिस प्रकट भयो रुचिर अनुराग ।

६६६

देत मृत्यु-सदेश प्रिय, प्रकटे पतझड-काल,
थिरकि उठे कोपलन मे, देत सजीवन ताल ।

६६७

लता, पत्र मे, बेलि म, द्रुम-वल्लरी मँझार,
फैलि रह्यो है छलकि यह, मेरे पिय को सार ।

६६८

डार-डार मे पिय रमे, लता-पत्र मे पीय,
प्रकटि रह्यो-तृण दलन मे पिय को भाव स्वकीय ।

६६९

अमिय फुई कलिका बने, नव बसन्त के मध्य
सरसावत है सजन नित, चिर जीवन-रस सद्य ।

६७०

फूटी नवल प्रवालिका, बल्कल को हिय फारि,
अथवा बिहँसे मम सजन, जडता अमित बिदारि ?

६७१

छलक्यौ पाटल कुसुम मे, अमल गुलाबी रग,
अथवा पिय के अधर तें छलकी हास्य-तरग ?

६७२

कलियन ने उन्मुक्त ह्वै, खोले नैन अधीर,
या मिस प्रकटी सजन की, चिर विकास की पीर ।

६७३

पुहुप पँखुरियन म रही, सुकुमारता समाय,
मानहु झलकी पीय की, हिय-करुणा अकुलाय ।

६७४

झूमि वृन्त पै सुमन घन, झूलि रहे सोल्लास,
मानहु पिय-हिय कल्पना करति झूमि-झुकि रास ।

६७५

मम पिय की मृदुता भरी पुहुप पँखुरियन मध्य,
गूजे अलि-गुंजार मिस, उनके कोमल पद्य ।

६७६

कुसुम हृदय मे नहि भर्यो, यह पराग अधिकाय,
मम पीतम की चरण-रज, उनमे प्रकटी आय ।

६७७

कुसुम दलन मे, पत्र मे, कटक हूँ मे आय,
त उत क्रीडा करत है, मेरे पिय हरषाय ।

६७८

ऊँची नील अटा चढ्यौ, बैठि शून्य की सेज,
कटि करि रह्यौ खर तरणि, मम पीतम को तेज ।

६७९

ावस ऋतु की मदभरी मादकता मिस आय,
ीतम सालस देत है, अपनो रँग छलकाय ।

६८०

शुभ्र शर्वरी नाथ मिस, विचरि अगम आकास,
नील गगन सर, करत पिय, जल क्रीडा सायास ।

६८१

सीकर-कण भू वक्ष पै नहि टपकावत इन्दु,
जल-विहार प्रक्षिप्त है, ये पिय-कर जलबिन्दु ।

६८२

रज के प्रति कण-कणन मे मिले मोहि पिय आज,
मैंने अणु-अणु मे लख्यौ, पिय को आज स्वराज ।

६८३

खर निदाघ मे पिय बसत, पीतम बसत बसन्त,
भई पीय-मय प्रकृति यह, पिय को आदि न अन्त ।

६८४

पिय अनन्त आकाश सम, पिय अनन्त ज्यो काल,
पिय अनन्त मम आश सम, पिय अनन्त व्रत पाल ।

६८५

काल देश मय पीय मम, काल देश तै दूर,
पास, दूर, सब ठौर, हौं पिय पायौ भरपूर ।

६८६

भली भई, दुविधा गई, मिट्यो सँजोग-वियोग,
या वियोग हू मे मिल्यौ, मोहि चरम सजोग ।

६८७

पल-पल म, क्षण-क्षणन मे, सबै ठौर, सब काल,
मोहि मिले कण-कणन म, अपन सजन कृपाल ।

६८८

मिट्यौ काल को भेद यह, मिट्यो विरह को दाह,
चन्दन-लेपन ह्व गयो, हिय को अनल-प्रवाह ।

६८९

प्रीति-रीति अमला भई, रति-गति भई अदेह,
भई अनिगिन भक्ति हिय, भयो अपार्थिव नह ।

६९०

अब आई उपरामता, अब पायो निर्वेद,
अब रति अबला ह्वै गई, मिट्यो स्वद को खेद ।

६९१

लक्ष्मणमय अन्तर भयौ, बाहिर लखै न कोय,
रहसि ध्यान चिन्तन करौ, कबहूँ प्रकट न होय ।

६६२

निरखौ केश-कलाप मे छटा जटा की भव्य,
रहौं, तपत तप नेम को, यह मेरो मन्तव्य ।

६६३

पिय, तुमने मम 'मै' हर्‌यौ, देहु मोहि 'मै' रूप,
काहू दाम न लेहुँगी, यह अद्‌वैत अनूप ।

६६४

पै कैसे झगरहु, अहो, अपने ही सौ जाय,
कहा करौ, यह मैं' गयो अपने आप बिहाय ।

६६५

बारि नेह को दीयरा, अन्तर मे धरि गोय,
पिय को ढूँढन जो चली, तो गइ आपुहि खोय ।

६६६

कहा भयौ यह, ऐ ? अरे, मिट्‌यौ जात यह द्वैत ?
कैसे सहसा बहि उठ्‌यो यह प्रवाह अद्वैत ?

६६७

देख्यो जो निज नैन भरि भयो द्वैत को अन्त,
सहज द्वैत की यवनिका उठि-उठि चली तुरन्त ।

६९८

यह कैसी अद्वैत गति, जहा न आकुल भाव ?
अहो, कौन यह नेह जहँ, चुवत न दृग ते चाव ?

६९९

का पूरनता मिलि गई ? हिय क्यो धरकत नाहि ?
पै, कब कम्पन होत है लक्ष्मण के हिय माँहि ?

७००

भयो ऊर्म्मिला को हृदय, लक्ष्मण हृदय अनूप,
बनी ऊर्म्मिला लखन मय, लखन ऊर्म्मिला रूप,

७०१

ओ जगती के लोग सब, गावहु मगल-गान,
आज ऊर्म्मिला को भयो पृथग्देह-अवसान ?

७०२

अब तो ये कटि-कटि परे, देश काल के बन्ध,
दुई मुई मरि-मरि मिटी, अह भावना अन्ध ।

७०३

मेरे कर मे धनुष है, मेरे कर करवाल,
भई जनकजा ऊर्म्मिला लक्ष्मण, दशरथ लाल ।

७०४

वन विचरौ, कौतुक करौ, हरौ जनन के क्लेश,
अवध भई अटवी गहन, रही न दुविधा लेश ।

इति श्री पचम सर्ग

श्री मातृ ऊर्म्मिला चरणकमलार्पणमस्तु ।

अथ श्री षष्ठ सर्ग

पूर्ण प्रणाम

१

राम—श्याम तन, चिरजीवन-धन,
जन - गण - मन - रजन - कारी,
राम,—धर्मधर, राम,—धनुर्धर,
उद्भव - भय भजन हारी,
राम,—अविचलित,करुण चलित-चित,
ललित राम लीला कर्त्ता,
राम,—नित्य निष्काम राम वे,—
सतत कर्म - निष्ठा - भर्ता,
राम,—लोकनायक, मतिदायक,
खर सायक-धर, जय-जय, हे,
राम,—सदय हे, विजय-निलय, हे,
जय जय जय कल्मष-क्षय, हे।

२

इन्द्रिय-पति, इन्द्रिय गोचर पति,
अहकार मन बुद्धि पते,
कायापति, माया छाया पति,
सीतापति, नित शुद्धमते,
महामहिम योगेश्वर हरि हर,
जागरूक उद्बुद्ध यते,
गुडाकेश, कूटस्थ अचल अति,
गति पति, अन अवरुद्ध गते,
सदा शान्त चित, अनुद्विग्न नित
मर्यादा पुरुषोत्तम, हे
जय जय दशरथनन्दन, जय, हे,
जय जय जयति नरोत्तम, ह ।

३

गहन विजन अज्ञान तिमिर हर,
प्रखर दिवाकर सीताराम,
भूमिभार हर, वन मगलकर,
नित करुणाकर, सीताराम,

वन विजयी, खरदूषण विजयी,
लका विजयी, सीताराम,
कोटि-कोटि विपदा विजयी, नित
आत्म-जयी श्री सीताराम,

पूर्ण हुई तपमयी साधना,
बाधाएँ सब चूर्ण हुई,
अवधि कट गई बनोवास की
पितुराज्ञा सम्पूर्ण हुई ।

४

चौदह बरस विलीन हुए वे,
भूतकाल के अचल मे,
रहा काल कब सुस्थिर ? अस्थिर—
इस गतिमय जग चचल म ?

क्षण-क्षण भीषण-चक्र-प्रवर्त्तन,
क्षण - क्षण परिवर्तन - छाया,
क्षण-क्षण कालोत्क्रमण निरन्तर,
क्षण - क्षण पुर सरण - माया,

तन-मन-जीवन, रोम-रोम मे,
है गति अनुगति अनस्थिरा,
काल ? काल है महाशून्य मे,
केवल गति का ज्ञान निरा ।

५

क्षण - आवर्त्तन - अनुक्रमण मय,
चलन-कलन मय काल सदा,
है त्रिकाल-मंडित त्रिपुंड युत,
महाकाल का भाल सदा,
धूप, छाह, प्रात , सन्ध्या, निशि,
दिवसो की शृंखला बनी,
सूर्य, चन्द्र, भूमंडल, ग्रह, सब—
चलते गति अपनी - अपनी,
काल सदा आकाश-देश मे,
चलिता गति से बोधित है,
मानव मन मे देशान्तर से
समय सदा अनमोदित है।

६

अवधपुरी से लंका तक जो,
बनी एक पथ की रेखा,
जिससे होकर आर्य-सभ्यता
ने दक्षिण जन-पद देखा,
जिस रेखा ने, किरण-जाल बन,
किया प्रकाशित अन्ध विजन,
उसका मंडित होना ही है,
अवधिकाल का चलन-कलन,
अत अवध से लंका तक का
नाम हुआ चौदह वत्सर,
देश काल का प्रकट हुआ यो,
चिर अवलम्बन अपरस्पर।

७

अतिक्रमित वन - देश हो गया
अवधि - उत्क्रमित काल हुआ,
अग्नि-परीक्षा मे पारगत,
रघुवर दशरथ लाल हुआ,
निर्जन घन वन हुआ प्रफुल्लित,
अज्ञानान्धकार कटा,
जन-गण - मन-मदिर मे जागी
ज्ञान ज्योति, भूभार हटा,
पाप कटा, अन्याय मिट गया,
अनाचार का अन्त हुआ,
सीता राम लखन का तप,
जन-मगल-कर फलवन्त हुआ ।

८

यो तो दिन पर दिन प्रतिदिन ही,
कटते रहते है नर के,
समय बिताना लिखा हुआ है,
छिन-छिन एक-एक करके,
कुछ को काल कलित करता है,
कुछ करते है काल कलित,
कुछ को समय चलाता रहता,
कुछ करते है समय चलित,
काल-प्रवर्त्तक, गति-परिवर्त्तक
रामचन्द्र ने युग बदला,
लुप्त हो गई त्रेता-युग की,
घन अज्ञान-निशा प्रबला ।

९

विश्वजयी रावण की लका,
राम चरण नत हुई भली,—
रही न पर-पीडन-आशका,
अनाचार की घडी टली ;
एक दुखद दु स्वप्न कल्पना—
सम रावण का युग बीता,
भूमि विमुक्त हुई, बन्धन से
छूटी भूमि-सुता सीता,
कुटिल रावणीया विभीषिका
भूतकाल गर्भस्थ हुई,
लका की निर्ह्लादवती सब
सेना अस्त-व्यस्त हुई ।

१०

राम नही भौतिकतावादी,
सत्य सन्ध श्रीराम सदा,
नही भूमि-अर्जन लोभी वे,
है अलिप्त निष्काम सदा,
सदा लोक-कल्याण-भावना—
प्रेरित पुण्य कर्म उनका,
आत्यन्तिक सन्यास स्वार्थ का,
बना स्वभाव धर्म उनका,
इसीलिए लका नगरी मे,
फैला था उल्लास महा,
राम-करो से नृपति बिभीषण
का जब था अभिषेक वहाँ ।

११

बहुत दूर लका नगरी है,
सुनो कल्पने, अरी सखी,
बहुत दूर पीछे त्रेता युग–
है, सुन लो सहचरी सखी,

पर, तुम चली चलो, करती हो
क्या कालोदधि की शका,
सेतु-बन्ध श्रीराम नाम का,
स्मरण करो, पहुँचो लका,

क्या पराजिता ? नही सत्-जिता,
लका की निरखो शोभा,
राजमार्ग की, प्रति गृह गृह की,
छटा निहारो मन लोभा ।

१२

आर्य राम की विजय नही यह,
है प्रचार सत्-सस्कृति का,
अत लक मे नही रहा भय,
विजय गर्व की दुष्कृति का,

गृह-गृह मे उल्लास-हास है,
नगर निवासी अमित सुखी,
आर्य राम चालित सुराज्य मे,
कैसे कोई रहे दुखी ?

आज विभीषण राजा होगे,
हो अभिषिक्त राम कर से,
देगे ये ही हाथ राज, है–
जिसने जीता खर - शर से ।

१३

आज त्याग, सग्रह की शोभा,
सँग - सँग लका मे निखरी,
आज त्याग की, जन-सग्रह की,
शोभा छहर - छहर बिखरी,
इन्द्रियजित, सयमी, आत्मजित,
नर को लोकेषणा कहाँ ?
लोभ कहाँ उस पुण्य हृदय ये,
शुद्ध सत्गवेषणा जहा ?
जो जग-जन के हृदयो मे नित
विश्वधर्म के भाव भरे,
वह जन-मन पति अपने सिर क्यो
पर - शासन का भार धरे ?

१४

रामचन्द्र के जय-निनाद से,
गूँज रही लका-नगरी,
सुमति विभीषण के प्रसाद से
पुलक रही डगरी - डगरी,
सब आबाल वृद्ध पुरवासी
हर्षित फूले - फूले से
अति प्रसन्न मन डोल रहे है
निज पथ भूले - भूले से,
हुई सज्जिता लका नगरी,
घर - घर सज कर पुलक उठा,
आज लक मे प्रति गृह से सुख
स्वर्णिम बह-बह, ढुलक, लुटा ।

१५

स्वर्णगृहो के स्वर्ण-शिखर सब,
चमक उठे प्रातर्वेला,
करने लगे गवाक्ष वायु से–
डोलित, किरणो से खेला,
स्वर्ण-खचित सब द्वार देहली,
रवि-किरणो मे चमक उठी,
गृह - कपाट - मडित कर-कौशल,
कृतियाँ छिनमे दमक उठी,
प्रातर्वेला लका निखरी,
लज्जित अरुणा - बाला - सी,
अथवा राम - यज्ञ - वेदी की,
लोहित रजित ज्वाला सी ?

१६

हेम कलश नाना विधि चित्रित,
मधु जल भरित धरे द्वारे,
वे लका के वैभव कौशल
के प्रमाण न्यार - न्यारे,
नगर वासियो के कृतज्ञता-
भरित हृदय के द्योतक वे,
राम विभीषण क सत् प्रेरित–
कार्यो के अनुमोदक वे,
द्वार-द्वार पर दमक रही है
मजुल कचन - कान्ति भली,
चिर अशान्ति के बाद मिली है,
लका को यह शान्ति भली।

१७

मुक्ता - हीरक गुम्फित तोरण,
द्वार-द्वार पर फूल रहे,
जग-मग ज्योति निहार नागरिक—
गण, मन ही मन फूल रहे,
झल-मल झल-मल झलक रहे है
रवि - किरणो से वन्दनवार,
हार धार कर सिहा रहे है
लकपुरी के नन्दन-द्वार,
निर्भयता गृह-गृह मे व्यापी,
विस्तृत हुई शान्ति की बाट,
आज पूर्ण उन्मुक्त हो गए
लका-गढ के भीम कपाट ।

१८

कदली, नारि केल दल वेष्टित,
प्रतिगृह के कपाट - आधार,
मरकत इव शोभित करते है,
अपनी आभा का विस्तार,
द्वार देहली पर अकित है,
कुकुम, स्वस्तिक चिन्ह अनेक,
भीतो पर है लिखित अनेको,
भाव भरे सुन्दर, लघु लेख,
कही लिखा है 'रामो जयति,
भवतु चिरजीवी विभीषण'
कही लिखा है
'भवतु सच्चिदानन्द स्वरूप इद मन'

१९

विस्तृत राजमार्ग जल-सिंचित,
जन - संकुलित, तरंगित है,
नाना वस्त्राभरण - कान्ति से,
आलोकित, अति - रंजित है,
दोनो ओर सघन वृक्षो मे
राजमार्ग आच्छादित है,
उस पथ पर जनगण की गति अति
सुखकर तथा अबाधित है,
जन-समूह कल्लोलित सर - सम-
इधर - उधर हिलता - डुलता,
चला जा रहा है लहरो सा,
हँस सब से मिलता-जुलता ।

२०

लहरा रही गृहो पर सुन्दर
मन मोहिनी ध्वजाएँ ये,
ऐसी लहरा रही कि सहसा
सागर - वीचि लजाएँ ये,
अठखेलियाँ कर रही है ये
चंचल प्रात समीरण मे,
कुछ मिसरी - सी घोल रही है
ये अपने मन ही मन मे,
ये फहराई थी उस दिन भी
जब रावण का व्याह हुआ,
और आज भी फहराती है,
जब रावण का दाह हुआ ।

२१

किन्तु आज की बात और है,
आज और ही है आनन्द,
आज मुक्ति का मिला सँदेशा,
सकल दिशाएँ है स्वच्छन्द,
वरुण मुक्त है, मुक्त मरुद्गण,
वायु मुक्त, उन्मुक्त सभी,
अब जग मे कोई क्यो होगा
परवश, बन्धनयुक्त कभी ?
इसीलिए उन्मुक्त पताकाएँ
हर्षित लहराती है,
विश्व-मक्ति-सन्देश वाहिनी
ये सब दिशि फहराती है।

२२

लक दुर्ग के कोट - कँगूरे
नव सज्जित हो विहँस रहे
राम-चिन्ह - युत केतु अनेको
दुर्ग-शिखर पर विलस रहे,
गढ प्राचीर हरित पल्लव से,
चीनाशुक - स सज्जित है,
अथवा दुर्भेद्यता, दुर्ग की
कोमलता मे मज्जित है,
बुर्जो से सैनिक दल की यह
बहती अट्टहास - धारा,
ज्यो नर, शिलाखण्ड भेदन कर,
प्लावित करते जग सारा।

२३

सिंह-द्वार खुले हैं गढ के,
प्रहरी खडे शस्त्रधारी,
पुरवासी गढ में है आते—
जाते, लिए भेंट भारी,
घोर नगाडों से, दुन्दुभि से,
घन निनाद की धार बही,
गोमुख, शृंग, शंख बजते हैं—
अम्बर में ध्वनि गूँज रही,
आज लंक - राजेश्वर होंगे
नृपति विभीषण विज्ञानी,
अभिषेकोत्सव के कारण है
सज्जित लंका राजधानी।

२४

राज सभा मे पुर-नर-नारी
अति प्रसन्न, एकत्रित हैं,
चतुर शिल्पकारों की कृति से
सभा-भवन अति चित्रित है,
मुक्ता, मणि, हीरक, नीलम की—
जग-मग जग-मग ज्योति जगी,
मानो अम्बर में अनगिनती
नक्षत्रों की भीड लगी,
बहुरंगी वस्त्रों की मणियों—
मे है झलक रही झाई,
मानो झलक रही दर्पण-गत
इन्द्र - धनुष की परछाई।

२५

तीन उच्च - सिहासन - मडित
राज - सभा का मच बना,
ज्यो जग-रग-मच पर मडित
आसन त्रिगुणो का अपना,
सिहामन के पीछे सज्जित
चॅवर-छत्र - धर दास खडे,
उनके पीछे नतमस्तक, पर
अतिशय सजग, खत्रास खडे,
सिहासन से कुछ नीचे दो
इधर-उधर उच्चासन है,
उनके नीच सामन्तो के
सुन्दर जटित सुखासन है ।

२६

है मध्य म विभीषण नरपति,
राज्ञी मन्दोदरी सहित,
कैसे कोई राजेश्वर हो
यदि वह है अर्धांग-रहित ,
ह दाहिनी ओर सीता सह—
अवधेश्वर रघुवर आसीन,
बाई ओर विराज रहे है
किष्किन्धेश्वर नीति प्रवीण,
नीचे आसन पर श्री लक्ष्मण,
अगद राज, विराज रहे,
उनके नीचे सामन्तो क
सचिवो के दल भ्राज रहे ।

२७

राम आज भी वही राम है,
जो कल तक थे वनवासी,
वही वेश है, वही भाव है,
सदा एक - रस, अविनाशी

हुआ पूर्ण वनवास काल, वन—
जाग उठा, रावण हारा,—
सीता मिली, हुआ तप सुफल,
मिटा जगत का अँधियारा,—

उनके चरण - प्रताप - मात्र से
यह जादू हो गया, सही
किन्तु अविचलित, नित्य अनिगित
बने आज भी राम वही।

२८

स्वस्ति-पाठ की ध्वनि उच्चारित—
हुई,—सभा निस्तब्ध हुई,
श्रुति गायन के स्वर-साधन में,
जन - रव - गति नि शब्द हुई,

शब्द ब्रह्म बन कर, यह लहरा
उठी पताका संस्कृति की,
हुई सांस्कृतिक विजय पूर्ण श्री—
आर्य राम की मति धृति की,

नहीं शस्त्र विजिता यह लंका,—
यहाँ विजय है शास्त्रों की,
यह जय है तापस आर्यों के
शुद्ध शब्द - ब्रह्मास्त्रों की।

२९

उठे राम निज सिंहासन से,–
धन्य मंजु छवि स्वप्निल-सी,
धन्य योग निद्रिता, जागृता,
वह लोचन छवि झिल-मिल सी,
धन्य-धन्य उन्नत ललाट, जिस–
पर मण्डित चिन्तन-रेखा,
धन्य सभी जन की आँखें जो
बनी राम की छवि-लेखा,
बलि जाऊँ आजानु बाहु वे,
चिर रक्षक, जग-पोषक वे,
धन्य वरद कर कमल अमल वे,
जन रंजन, जनतोषक वे ।

३०

वह विशाल वक्षस्थल जिस पर,
रावण-शर के चिह्न बने,
वे सुन्दर कपोल द्वय, जिन से—
ढरके करुणा - अश्रु घने,
धन्य चरण वे, जिनने उत्तर–
को दक्षिण से जोड़ दिया,
जिनने नव-पथ निर्म्मित करके
मानव गति को मोड़ दिया,–
बलि जाऊँ, वे चरण बने जो
आश्रय दाता शूलों के,
वे पद जो विचरे हैं शोधन–
करते जन - मन - भूलों के ।

३१

शिर पर जटाजूट है, अथवा—
जग-रक्षण का भार बढ़ा,
अथवा कच कुडलियों के मिस
जन - कृतज्ञता - भार चढ़ा,

अथवा श्यामल भूतकाल के
गर्भस्थित चौदह वत्सर,
जटाभार बन कर छाए है
रामचन्द्र के मस्तक पर,

एक-एक कुन्तल-अवली मे
उलझ रही सौ-सौ स्मृतियाँ,
ग्रथिता है प्रति जटा कुडली—
मे तप की अनेक कृतियाँ।

३२

जिस निद्रा मे विगत काल यह,
लय हो कर सो जाता है,—
जिस निद्रा की श्याम गली मे,
उद्बोधन खो जाता है,

जिस निद्रा मे है अतीत का
मद अति समोहन कारी,
जिस निद्रा मे है विराम अति
सुखकारी, सस्मृति - हारी,

वही नीद अँज रही नयन मे
दशरथ नदन निर्गुण के,
उस निद्रा के आधिपत्य से
नयन उनीदे है उनके।

३३

जिस जागृति मे उद्योद्भव है,
जिस जागृति मे मति-गति है,
जिस जागृति मे वर्तमान की–
निरलस, सजग कर्म-रति है,
जिस जागृति मे है भविष्य की
नव आशा निर्माणो की,
जिस जागृति मे सुस्पन्दन है,
चलिता गति है प्राणो की,
जिस जागृति मे मोह विनाशक,
जागरूकता मय बल है,
भरा हुआ श्रीराम नयन मे
वही जागरण अविचल है ।

३४

जिस के बल पर मानव जन-गण,
शुभ भविष्य दर्शन करते,–
जिस पर नित अवलम्बित हो कर
नर हिय मे आशा भरते,
वह सुदूर दर्शन - समर्थता–
भरे राम निज नैनो मे,–
खडे हुए है अमित भाव ल
अपने अकथित बैनो मे,
चित्रलिखी - सी राजसभा सब,
उन्हे निहार - निहार रही,
पल-पल मे अपलक शोभा पर
अपना तन-मन वार रही ।

३५

युग कर में ले राज मुकुट शुभ,
गज-गति से आगे जाकर,
धरा राम ने नृपति विभीषण—
के शिर, मुकुट ज्योति-आकर,
किया प्रतिष्ठित राज-दण्ड फिर
दक्षिण कर में नर पति के,
चन्दन लेपन किया भाल में
लंकेश्वर स्वधर्म मति के,
फिर सागर-नद-नदियों का जल
कुश से ले मस्तक सींचा,
या कि त्याग की परिसीमा को
प्रभु ने धीरे से खींचा।

३६

देख राम-लीला यह, कुछ-कुछ—
लंकेश्वर के अधर हिले,
रोके भी न रुके, नयनों में—
आकर आँसू विन्दु खिले,
सादर अभिवादन कर लौटे
अपने सिंहासन पर राम,
शत-शत कण्ठों से ध्वनि उट्ठी,
जयति राम, जय-जय निष्काम,
तब श्री रामचन्द्र की वाणी
मेघ घोष इव गहर गभीर,
सभा भवन में उठी विकम्पित,
करती भीम दुर्ग प्राचीर।

३७

"राजन, राजेश्वरी, आज क्या
कहूँ ? सँकोची शब्द बड़े,
कैसे उद्गीरित हो ? वे तो–
अन्तस्तल मे अटक पड़े,
मै वाणीपति भी, अभिलाषी–
हू कि मौन वरणीय गहूँ,
कैसे शब्दातीत हृदय की
बात अनिर्वचनीय कहूँ ?
हिय मे, मन मे, चिन्तन मे है
उलझी इतनी बात पड़ी,
जिन्हे नही कह सकती वाणी,
शब्दो की न बिसात बड़ी ।

३८

राजन, आप समझते है सब
निपट कृतज्ञ भाव मेरे,
भवत प्रति, किष्किन्धेश्वर प्रति,
सुहृद्भाव मम बहुतेरे,
मत्त परिवर्तित सुधर्म यह,
जिस विधि से अनुसरित हुआ,
उसे देख कर रामचन्द्र का
हिय कृतज्ञता भरित हुआ,
धर्माचरण, निरत, तत्परता–
लख-लख दाक्षिणात्य जन की–
अति प्रसन्न है राम, हुई है–
पूर्ण तुष्टि उसके मन की ।

३९

नरपति, मेरे यज्ञ कर्म की
यह पूर्णाहुति आज हुई,
वह जीवन-साधना राम की
आज यहाँ कृत-काज हुई,
आज हुई है पूर्ण कामना
मम निष्काम तपस्या की,
तत्त्व-दीपिका मिली राम को,
जग की सकल समस्या की,
आज पूर्णता मिली परन्तप—
लक्ष्मण के नैष्ठिक तप की,
आज हुई है पूरी माला
जनक - नन्दिनी के जप की ।

४०

बातें कहने को अनेक हैं
इस मंगलमय अवसर पर,
यदि हो कुछ विस्तार अधिक तो
क्षमा करें मुझको, नरवर,
जीवन - इति - कर्तव्यता हुई—
हो पूरी जिस शुभ क्षण में—
उस क्षण उठ-उठ आते ही हैं
भाव अनेकों जन मन में,
आज राम की यही दशा है,
क्या कह दूँ ? क्या-क्या न कहूँ ?
कहूँ या कि कुछ भी न कहूँ ? मन
मौन गहूँ ? चुप साध रहूँ ?

४१

अपने मन की बात कहूँगा—
आज नही होगा प्रवचन,
केवल प्रकट रूप से होगा
आज राम-मन का चिन्तन,
एक-एक जीवन की घटना
सम्मुख आ-आ जाती है,
कई दुख सुख की सस्मृतियाँ
वह सँग सँग ले आती है,
चौदह वर्षो के जीवन का—
पूर्ण चित्र-पट सम्मुख है,
उसमे घटनामय जीवन के—
अकित कई दु ख-सुख है ।

४२

राजन् राम, सीय-लक्ष्मण सह,
बरसो पहले, निज घर से,—
एक साध लेकर निकला था,
अपने नगर सुखाकर से,
उसी साध से प्रेरित हो कर,
लक्ष्मण भी सँग-सँग धाए,
कुल-लक्ष्मी ऊर्म्मिला बहू को
लक्ष्मण वही छोड आए,
चौदह वर्षो के पहिले का
अनुज वधू का वह श्रीमुख,
वह विषाद मडित मुख आता,
राम हृदय-दृग के सम्मुख ।

४३

कौन साध थी वह जीवन की ?
कैसी थी मन मे आशा ?
जो कुछ मन मे था, उसको, नृप,
कैसे प्रकट कर भाषा ?

विश्व-विजय की चाह नही थी,
और न रक्त-पिपासा थी,
केवल कुछ सेवा करने की
उत्कण्ठित अभिलाषा थी,

इतना था विश्वास कि हम है
लोकोत्तर धन के स्वामी,
लोक हिताय बाँटना जिसका,
धर्म हमारा निष्कामी ।

४४

यही साधना, यही कामना,
यही भावना ले मन मे,
इधर-उधर विचरे है लेकर
यही भाव हम निर्जन मे,

इस प्रणोदना ही से प्रेरित,
हुए सकल मेरे कृत कर्म्म,
शुद्ध विचार-प्रचार-आचरण
यही राम लक्ष्मण का धर्म,

जो कुछ भी थोडी सी सेवा
है यह, उसका श्रेय कभी–
नही राम को, उसके तो है
यश के भाजन आप सभी ।

४५

साधन की परिपक्वावस्था
वन मे हमे मिली सुखदा,
दक्षिण वन बन गया हमारे–
लिए सकल उद्भव दुख-हा,
इसीलिए यह दक्षिण मुझको
प्रियतर है उत्तर से भी,
इसीलिए अटवी है मुझको
प्रियतर अवध नगर से भी,
हुए विपिन मे हमको दर्शन
पूर्ण विराट् विश्व भर के,
हम सब के हो गए, न वन के
रहे, न रच रहे घर के।

४६

वन मे सीता, राम, लखन ने
अपना शुद्ध रूप जाना,
सब को अपना करके हमने
निज स्वरूप को पहचाना,
भूमि विजय, साम्राज्य-स्थापन,
यह न आर्य का ध्येय कभी,
आर्य सभ्यता छोड चुकी है
कब की सृतियाँ प्रेय सभी,
जो अपने को जग भर मे,
जग भर को अपने मे लेखे,–
वह परपीडन की दुष्कृति मे,
क्यो न आत्म-पीडन देखे ?

४७

महामहिम रावण का, मेरा,
नही व्यक्तिगत था झगडा,
आत्मवाद, साम्राज्यवाद का
वह था अनमिल भेद बडा,
विकट सुभट, उद्भट सेनापति,
महा प्रतापी रावण थे,
वे प्रचण्ड जगदाक्रान्ता थे,
उनके पोषक भाव न थे,
भू-अर्जन, पर-शासन, मारण,
रण, धन, सुख-उपभोग, विलास,—
इतने ही तक, हन्त, रह गया,
सीमित उनका मनोविकास ।

४८

इधर राम ने बचपन ही से
पढा लोक - रक्षा का पाठ,
उधर बली रावण ने अपने
साजे विश्व-विजय के ठाठ,
इधर त्राण के भाव, उधर थे—
जग—आक्रमण—भाव दुर्धर्ष,
अत अवश्यम्भावी था यह
कि हो राम-रावण-संघर्ष,
एक खेद है यह शस्त्रोमृत
हो कर सत्य हुआ विजयी,
यदि अशस्त्र जय होती, तो वह
होती पूर्ण विशुद्ध नयी ।

४९

यदि श्री रावण के विचार भी
हो जाते मेरे अनुरूप,
यदि वे किसी तरह तज सकते
अपने सबल विचार कुरूप,
तो फिर सत्य जानिए, नरपति,
जग कुछ का कुछ हो जाता,
मानव-हिय का असुर-भाव वह
चिरनिद्रा मे सो जाता,
यही दुख है कि मै वीर वर
रावण-हृदय न जीत सका,
इतना भर ही नही रह गया,
दशरथ नन्दन के वश का ।

५०

रावण हारे, खेत रहे वे,
पर बदले न भाव उनके,
सभी जानते है कि बडे थे
वे पक्के अपनी धुन के,
अन्तिम समय, रणागन मे जब
विनत लखन पहुँचे सम्मुख,
तब वे बोले 'रामानुज, है—
एक बात का मुझ को दुख,
तुम दोनो हो महा प्रतापी
पर हो स्वप्न लोक-वासी,
मत समझो कि बन सकोगे तुम
जन - अज्ञान - शोक - नाशी ।

५१

यदि कोई जगदीश्वर है, तो—
उसकी यह भी है लीला—
कि वह असत् के द्वारा ही ह
प्रकटाता मति गति शीला,

मत समझो कि कर सके हो तुम,
असद्भाव का उच्चाटन,
हो सकता है असत् उसी का
जिसका है जग पर शासन,

सत्य-असत्य तत्त्ववित् मूर्खों—
का यह एक बखेड़ा है,
यह पथ-जिस पर तुम दोनों हो,
अतिशय टेढा - मेढा है ।

५२

मत समझो रावण मरने से—
रावणत्व का अन्त हुआ,
यों मरने से और अधिकतर
विस्तृत मेरा पन्थ हुआ,

रावणवाद चिरस्थायी है,
वह है सृष्टि-तत्त्व लक्ष्मण,
धर्म-भावना मे मन भूलो,
पहचानो निजत्व, लक्ष्मण,

आओ, मम निर्दिष्ट मार्ग पर—
चलो, भोग भोगो जग के,
जग के त्राता मत कहलाओ,
तुम यों अपने को ठग के ।

५३

जग-तारण? यह एक ढोग है,
जग का त्राण असम्भव है,
उसी तरह जैसे मृत शव को—
जीवन-दान असम्भव है,

जग अपनी गति से चलता है,
वह गति है अज्ञेय, लखन,
कैसे राम कर सकेंगे उस—
गति का स्वेच्छारूप चलन ?

लखन, कदाचित् अदमनीय है
कोई गति जग जालन मे,
कहो राम से जाकर, तुम मत—
पडो जगत् - प्रतिपालन मे,

५४

दुर्दमनीय चक्र है यह तो,
यो ही चलता जाएगा,
किसी तरह भी नही किसी के—
वश मे यह जग आएगा,

रावण ने भी खेले हे ये,
सब जप-तप के खेल, लखन,
पर, सच कहता हूँ पाई हे—
सब बाते बेमेल, लखन,

मम अनुभव से तुम दोनो कुछ
सीखो, यह है अभिलाषा,
किन्तु राम मन मे है जग के—
त्राता होने की आशा ।

५५

मेरा मार्ग प्रशस्त मार्ग है
उस पर चलो, बनो विजयी,
तव अग्रज पद-नत-लका की,
भोगो श्रीसम्पत्ति नयी,
रावण मरता है, पर जीवित—
है मम रावणत्व का तत्त्व,
ऐसा तत्त्व कि पद-पद पर जो
ललकारेगा श्री रामत्त्व,
लक्ष्मण, सुखी रहो, कह देना—
अपने अग्रज से कि बली,—
रज्जु जल चुकी थी, पर उसकी,
ऐंठन तब भी नही जली।"

५६

राजन, इन शब्दो मे प्रकटित
होती है उनकी महिमा,
इन शब्दो मे भरी हुई है,
रावण की गौरव-गरिमा,
' वह अभिमान चण्ड दिन-मणिवत्
जो जग मे नित तपता था,—
वह भौतिकतावाद भयकर
जिस से त्रिभुवन कँपता था,—
महाराज रावण के अन्तिम
शब्दो मे है भाव वही—
वही भाव, जिसके हिय मे है
अन्य भाव का चाव नही।

५७

इन शब्दो म जड निश्चितता
भरी हुई है, खेद यही,
इन भावो मे नेति-नेति का
अथकित सुमथित स्वेद नही,
जीवन मे इति-निश्चितता का
अन्य नाम है आत्म-विनाश,
नेति-भाव मे अन्वेषण है,
श्रम है, है नित आत्म-विकास,
असद्भाव है व्यक्त अत वह
हो जाता है अनुकरणीय,
यो विचार कर श्री रावण ने
समझा असद्भाव वरणीय ।

५८

राम अबोध नही है, वह भी—
पाप-स्थिति से परिचित है,
षड्रिपुओ की दाहक-मोहक
माया किसको अविदित है,
जग-जन-गण के अन्तस्तल मे,
दुष्प्रवृत्तियाँ सचित है,
पर कुछ ऐसे भी है जो इन
दुर्भावो म वचित है,
इसीलिए यह ध्रुव आशा है—
कि यह जगत है सत्य-स्वरूप,
सतत यत्न से पा सकता है
यह जग अपना रूप अनूप ।

५९

भौतिकवाद, शुष्क तर्कों को
ले, दिन रात मचलता है,
प्रत्यक्षता-वाद के पीछे--
पीछे निशि-दिन चलता है,
अन्ध-शक्ति एव पदार्थ जड,--
ये दो उसके स्तम्भ बडे,
भौतिकतावादी चलते है--
दोनो को पकडे - पकडे,
पर इन दो से विश्व-पहेली
नही सुलझती है, राजन,
इनके पीछे चलने मे वह--
और उलझती है, राजन !

६०

कैसे आविर्भूत हुई यह
नित्य - चेतना चिनगारी ?
कैसे अग्नि-शिखा यह जागी,
एक रूप न्यारी - न्यारी ?
जड पदार्थ से ? अन्धशक्ति से ?
किससे चेतन भाव जगा ?
इसी प्रश्न से समय-समय पर
उठ-उठ भौतिकवाद ठगा,
जड - वादी, भौतिकता - वादी,
ये पदार्थ-वादी, सारे--
इसी प्रश्न के कारण बरबस
कह उठते है - हम हारे ! !

६१

वे कहते है नाह वेद,
किन्तु हम कहते है , जानो—
नही जानते तो प्रयत्नत ,
तुम अपने को पहचानो,

पर, वे इति-निश्चितता-वादी,
नही देखते है इस ओर,
अपितु जगत मे फैलाते है,
नित-प्रति अपने कर्म-कठोर ,

पर पीडक, स्वातन्त्र्य-विनाशक,
जग-शोषक उनकी कृतियाँ—
नित दूषित करती रहती है
जग की धर्म - कर्म - सृतियाँ ।

६२

भौतिक - वाद, चेतना विरहित,
है वह निपट निराशा - वाद
राजस्, तामस् गुणमय वह है
मानव - मन का मत्त प्रमाद,

इस जीवन के परे कुछ नही,
यो कहते है जड - वादी
मन -प्रसाद - शून्य है, उनके—
कर्म नही है अविषादी,

आत्म - वाद मे है अनन्तता
का अति रुचिर-ज्ञान - वैभव,
वहाँ नही सचय-सचय का
सुन पडता है कर्कश रव ।

६३

केवल मात्र एक जीवन की
मरणान्ता आशा धारे,
जग मे कर्म - लिप्त होते हे
ये जड - वादी बेचारे,
इसी लिए उनके कर्म्मो मे
आत्म विमोहन क्रीडा है,
उनके कर्म्मो म मारण है,
नाशन है, पर - पीडा है,
इसे भूल ही जाते है वे,
कि यह जगत तप का फल है,
इस अश्वत्थ-वृक्ष का फल है
त्याग, भोग तो वल्कल है ।

६४

करके त्यक्त आत्म - निर्गुणता
स्वय ईश जग - रूप हुआ,
हो तप-तप्त प्रजापति बैठा,
सकल स्रजन का भूप हुआ,
यह ब्रह्माण्ड तपस्या के बल,
गतिमय, स्रतिमय, चलित हुआ,
अणु-अणु मे, कण-कण मे सन्तत
प्रथम तपोबल ज्वलित हुआ,
सतत तपस्या, त्याग निरन्तर,
वहिरन्तर तपमय, राजन,
तप से क्षण मे ही मिट जाता—
है यह उद्भव - भय, राजन ।

६५

दे कर रक्त हृदय का अपने,
दुग्धधार के मिस जननी,
करके प्राणो को न्यौछावर,
शुद्ध प्यार के मिस, रमणी—

सीच रही है आत्म-त्याग की—
धारा से जग-पादप को,
सिखा रही है तप की विधियाँ,
'अहमिति' जग-उन्मादक को,

क्षण-क्षण, आठो याम न हो, यदि
तप, तो यह जग कहाॅ रहे ?
निमिष मात्र मे महा प्रलय हो,
सृष्टि-कथा फिर कौन कहे ?

६६

नही निरीश्वर विश्व निखिल यह,
चेतन-इच्छित, सेश्वर है,
सकल लोक लोकान्तर गति का
परिचालक सर्वेश्वर है,

खनिज,जलज,उद्भिज, स्वदेज औ'
कामज, थल, नभ चर प्राणी
महाभूत, ये गन्ध - रूप - रस—
परस - उपकरण, यह वाणी,—

इन सब की गति का सचालक
सूत्रधार है अलख झलक,
करता है सचालित जग को,
वह नित जागृत, चिर अपलक।

६७

जीव सच्चिदानन्द रूप है,
'मैं' हूँ जग-कर्ता, भर्ता,
'मैं' हूँ जग-नाशक, उत्पादक,
'मैं' हूँ माया-तम-हर्त्ता—
'मैं' पा सकता हूँ अपना पद,
यदि अपने को पहचानूँ,
'सोऽह,' यह है सत्य सनातन,
यदि 'मैं' निज स्वरूप जानूँ,
सतत प्रयत्नो मे अन्तर्हित
है 'मेरी' सत-रूप छटा,
'मैं' वन जाता हूँ 'वह,' ज्यो ही—
यह घूँघट-पट रच हटा।

६८

जग को अपना रूप दिखाना,
निज श्रम-कण की झाई मे,
आत्म-बिम्ब को झलका देना,
लोचन की परछाई मे,
जीवनेतिकर्तव्यता यही
रामचन्द्र के जीवन की,
उसने इसी लिए निज नगरी
छोडी, शरण गही वन की,
सत्य-विचार हुए है विजयी,
असुर-भाव-अपहरण हुआ,
मै प्रसन्न हूँ, आज लक मे—
सद्भावो का वरण हुआ।

६९

लोग कहा करते है आर्थिक—
सचय ही है आत्म विकास,
अर्थ लाभ मूलक है, उनके—
मन से, जन का प्रगति-विलास,
अर्थार्जन है उनके मत मे
माप-दण्ड जन-सस्कृति का,—
निरा द्रव्य-सचय ही है परि—
चायक मानव धृति-कृति का,
आर्थिक सचय ही है द्योतक
क्रमिक ऐतिहासिक गति का
उन के मत से अर्थ-शून्य-युग
है परिचायक अवनति का ।

७०

अर्थ-वाद ही प्रगति-चिह्न है,
यो विचार कर, वे मन मे,
येन - केन - रूपेण अर्थ का
सचय करते क्षण-क्षण मे,
न्याय और अन्याय तथा सत्—
असत् विचार छोड कर के,—
प्रचुर अर्थ-सचय करते है,
जडता-वादी जी भर के,
नही जानते वे कि अन्तत.
ये विचार भ्रम मूलक है—
प्रगति-चिह्न ये नही, अपितु ये
सत् - सस्कृति - उन्मूलक है ।

७१

अर्थ प्रगति का चिह्न नही है,
वह है प्रगति-नदी का फेन,
वह तो यो ही उतराता है,
होने को विलीन, बेचैन,

जो कुछ ऊपर तैर रहा है—
. वह है नदी नही, राजन,
क्या फेनिल विचार हो सकता—
है द्रुत नदी कही, राजन ?

इस विकार - सचय से कैसे
नव - प्रवाह - उत्पादन हो ?
निपट अज्ञता मे यो पड कर
कैसे सस्कृति - साधन हो ?

७२

अर्थ प्रगति का चिह्न ? अनोखी—
सूझ अर्थवादी जन की,
यह प्रवृत्ति परिचायक उन के
चिन्तन, मनन - शून्य मन की,

तनिक सुदूर विगत युग-युग का
यदि कर ले अवलोकन वे,
तो मिट जायेगे क्षण भर मे
उन के सकल प्रलोभन ये,

उन ऋक्-साम गायको के ढिग
था कौन सा अर्थ-सचय ?
जो लोकोत्तर आध्यात्मिकता
उन हिय प्रकटी नि सशय ?

७३

यदि सस्कृति-गति लौकिक,आर्थिक–
सचय के सँग-सँग चलती—
तो वल्कल वसनो के युग मे
कैसे ज्ञान-ज्योति जलती ?

द्रव्य-पुष्टि पर आधारित ही
नही ज्ञान-मति गति-शीला,
केवल भौतिकता-पजर मे
नही निहित उस की लीला,

मानवेतिहास की प्रगति का
माप-दण्ड धन-धान्य नही,
यह समाज सस्कृति जा सकती—
नापी धन से कभी कही ?

७४

शुद्ध विचार-प्रौढता ही है
भित्ति सभ्यता सस्कृति की,
सदाचरण शीलता मात्र है,
द्योतक सस्कृति, मति, धृति की,

यो तो तन धारण करना ही
जडता का अवलम्बन है,
जड-चेतन-अवलम्ब परस्पर–
यह ही जगत्-सक्रमण है,

किन्तु सचेतन भाव नही है
इस जडता से सीमा-बद्ध,
है तथैव मानव-सस्कृति भी
नही अर्थ-सचय-आबद्ध ।

७५

है साम्राज्य-वाद का नाशक,
दशरथ - नदन राम सदा,
है भौतिकता-वाद विनाशक,
जन - मन - रजन राम सदा,
धन्य विभीषण आप, हुए जो
मम निष्काम सहायक यो,
अर्थ-वाद मय स्थिति मे प्रकटे
आप सत्य - परिचायक यो,
लोग कहेगे कि यह विभीषण
है स्वदेश-रिपु, कुल द्रोही,
हुआ देश-आक्रान्तक-रिपु के—
सग विभीषण निर्मोही ।

७६

फैल रहा है यह भी जग मे,
अति मिथ्याभिमान, राजन,
कि हम देश-हित कर सकते है,
अपने त्यक्त प्राण, राजन,
राष्ट्रधर्म कैसे हो सकता
जन-गण का ऐकान्तिक धर्म ?
पक्ष-समर्थन सदा राष्ट्र का,
हो सकता है निपट अधर्म ,
मिथ्या - इष्टदेव - सस्थापन,
है अज्ञानी जन की बान,
यों असत्य के पीछे मरना,
आत्म-हनन सम, है अज्ञान ।

७७

सदा एक ही वस्तु पूज्य है,
वह है सत्य, असत्य नही,
असत् अर्चना का इस जग मे,
हो सकता है तथ्य कही ?

तत्त्वहीन, सद्ज्ञान विमोहक,
सदा अन्ध - अनुकरण - प्रभाव,
सत्य रहित कैसे स्वीकृत हो—
यह स्वदश - पूजा - प्रस्ताव ?

आचरणीय धर्म्म केवल वह
शुद्ध सत्य अनुमोदित जो,
कैसे ग्राह्य कहो हो सकता
वह, है असत्-प्रणोदित जो ?

७८

कभी, समूचा—राष्ट्र दुष्टता—
मय हो जाता है, राजन,
कभी, देश का सत्य भाव सब,
द्रुत खो जाता है, राजन,

जन-गण पागल हो उठते है,
जग उठता है नाशक—भाव,
निपट, विकट विक्षिप्त भावना
कर देती है सत्य-दुराव,

जन-समूह आतुर हो जाते,
लगती प्रबल रक्त की प्यास,
अपनो का ही शोणित पीकर,
यो करते है जग का नाश ।

७६

उत्पादक मारक, आक्रान्तक,
नाशक, दाहक प्रवृत्तियाँ,
सहसा जागृत होती है ये,
असुर - भावमय दुष्कृतियाँ,
बिखर फैल पडती है हृद्गत
दुष्ट भावनाएँ गुप्ता,
ज्यो प्रज्वलित हमन्ती-गत हो
अग्नि-राशि अति उन्मुक्ता,
ऐसे क्षण मे यही धर्म है,
कि हम राष्ट्र के विमुख चले,
फिर चाहे हम अपनो ही के–
क्रोधानल मे क्यो न जले।

८०

एक आग है, जो जलती है,
सहसा धधक-धधक कर के,
ऐसा दावानल है, जो है–
जलता भभक-भभक कर के,
शम, दम, सयम अतिलघित कर
जन-उन्माद बफरता है,
मानवता अपहृत होती है,
पशुता से जग भरता है,
सत्य, ज्ञान, सस्कृति, शतियो का
यह सचित वैभव सारा,–
क्षण मे भस्मसात् होने को
खिच आता है–बेचारा !

८१

जबकि राष्ट्र-मद, ज्वाला-गिरि-
सम, आग उगलने लगता है,—
जन-समूह के हृदयो मे जब,
भाव आसुरी जगता है,
तब स्वधर्म है यही, चले हम—
सामूहिकता के प्रतिकूल,
और करे उच्छिन्न निरन्तर,
निज स्वदेश-जन-मन की भूल,
देश विदेश, सकुचित जन का,
है अनुचित सकुचित विचार,
है मनीषियो का स्वदेश वह,
जहाँ सत्य-शिव का विस्तार ।

८२

है जग के नागरिक सभी हम,
सब जग भर यह अपना है,
सीमित देश-विदेश-कल्पना,
मिथ्या भ्रम का मपना है,
देश-काल का अतिक्रमण कर
बनना है हमको विजयी,
फिर क्यो खीचे हम अपनी यह
सीमा - रेखा नयी - नयी ?
जो सम्मार्ग-गमन करता है—
वही हमारा बन्धु, सखा,
सत्य पराङ्मुख, सदा त्याज्य है
हो रावण या शूर्पणखा ।

८३

हुए सहायक, नृपति, आप मम,
क्योकि पक्ष या मेरा सत्य,
नही इसलिए कि था बडा बल-
शाली दशरथराज अपत्य,
जिस क्षण आप सहायक मेरे,
आए थे बन कर, राजन्,
तब पलडे मे झूल रही थी,
यह जय, इधर-उधर, राजन्,
कौन जानता था कि अन्तत
किसे वरेगी विजय-श्री ?
कौन जानता था कि मुझे ही
वरण करेगी विजय-श्री ?

८४

नही राजसिक प्रलोभनो से
हुए विभीषण राम-सखा,
उनने शुद्ध दृष्टि से केवल,
शुभ स्वधर्म का रूप लखा,
राजन्, कैसे करूँ प्रशसा ?
धन्य आपका अमल विवेक,
द्विगुणित हुआ लोकमर्द्—गति-प्रति
मम विश्वास आपको देख,
भौतिकता का ? नही, सत्य का-
था वह सुन्दर आकर्षण,—
जिससे खिच कर किया आपने,
मुझ पर कृपा-वारि-वर्षण।

८५

नृपति, आपकी यह शुभ निष्ठा,
धर्म्म - भाव - तत्परता यह,–
यह अफलाकांक्षिणी कर्म-रति,
शुद्ध सत्य-निर्भरता यह,–
मानवता के लिए बनेगी,
पथ - दर्शिका प्रदीप - शिखा,
प्रतिबिम्बित है तव नयनो में
धर्म सनातन अनादि का,
राक्षस-वंश-शिरोमणि, नरपति,
धन्य आप, सत्-ग्राहक, हे,
धन्य आप, इस लंका-द्वीप में
सत्-जल-राशि प्रवाहक, हे ।

८६

धन्य सभी राक्षसगण, जिनने–
किया असत् का तीव्र विरोध,
धन्य धीर वे, अटल रहे जो–
देख चण्ड रावण का क्रोध,
आप सभी सज्जन गण के प्रति
मैं नत–मस्तक हो कर के,–
कृतज्ञता–ज्ञापन करता हूँ,
सब विजयीपन खो करके,
रिपु न लखे मुझको वे भी जो
रहे वीर मेरे प्रतिकूल,
राम नही चाहता कि हो वह
कभी किसी के दृग का शूल ।

८७

हे सब जन-गण, आप त्यागिए,
भौगोलिक, सकुचित विचार,
भरिये हृदयो मे व्यापकता,
करिये आप आत्म - विस्तार,

अपने और पराये की वह—
सीमा उल्लघित करके,—
कर के नैनो को विस्फारित,
दर्शन करिए जग भर के,

लक-अवध-किष्किन्धा की यह
लघुता आज हुई म्रियमाण,
सब जन के श्रम से, यह देखो,
हुआ बृहद् भारत - निर्माण ।

८८

आज हुए है द्वार-मुक्त सब
हुई दिशाएँ उन्मुक्ता,
विश्व-मुक्ति-लालसा हुई है—
क्रिया - शील, गति - सयुक्ता,

जन-गण के हृदयो की आशा—
सक्रिय, बन्धन - हीन हुई,
हुए पराये भी अब अपने—
भय-भावना विलीन हुई,

आकुचित वृत्तियाँ हट रही
रवि - कर - अपहृत तम-घन-सी,
भेद-भावना आज मिट रही,
गत दु स्वप्न - सस्मरण—सी ।

८९

खुलने दो कपाट अन्तर के,
नया समीरण डुलने दो,
ढुलने दो चिर जीवन-आसव
आज नया रँग घुलने दो;
साम्य-भाव-दोला सम गति से,
इधर-उधर तुम डुलने दो,
आज दृगो के दो पलडो में,
करुणा-मुक्ता तुलने दो,
रह न जाय प्रतिबन्धक कोई—
जग भर को मिल-जुलने दो,
युग-युग की यह भेद कालिमा,
इसे आज तुम धुलने दो।

९०

यह देखो उत्तर-दक्षिण का
दृढ गठ-बन्धन हुआ भला,—
शुद्ध नेह की नीति हुई है,
यह देखो, स्थापित, अचला,
सुविचारो की बाट खुली है,
लेन-देन का हाट खुला,
हृदग्र-आयतन का, शतियो का
यह आबद्ध कपाट खुला,
जग मे पवन-यान पर चढ-चढ,
विचरगे सद्भाव नये,
फलेगे चढ उदधि-लहर पर
धर्म-विचार अनश्वर ये।

९१

सुसन्देश वाहिनी अथकता
मेट रही स्थल का अन्तर,
सुविचारो के सुदृढ सेतु से,
मिटा जलधि का महदन्तर,
सग्रह भस्म हुआ, हिय बैठा—
खर् तप की धूनी तपने,
हुए द्वीप - द्वीपान्तर अपने,
देश - विदेश हुए अपने,
अब कैसी परिधियाँ सकुचित ?
अब कैसा सीमित घेरा ?
मुक्त आत्म-विस्तार हुआ है,
अब कैसा तेरा-मेरा ?

९२

सब मेरा—तेरा है, तेरा—
मेरा, मै तू, तू मै हूँ,
तू सुख मे, तब मै सुख मे हूँ,
तू दुख मे, मै दुख मे हूँ—
छटा छिटक फैली यह मेरी,
तू मेरा, लका मेरी,
वह किष्किधा नगरी तेरी,
वह कोसल नगरी तेरी,
कोसल नगरी ही लका है,
लका है कोसल नगरी,
भाण्ड हुआ जल-राशि-निमज्जित,
भिन्न कहाँ वापी, गगरी ?

९३

जब तक आसक्तता, ग्रीव मे
जब तक अह - रज्जु - फदा,–
नृपति, तभी तक है इस जग मे,
पन-घट का सचय-धन्धा,

'भब भब, नाहम्-नाहम्' करता,
जब भागेगा रीतापन,–
अहो, उसी क्षण होगा जग मे
राम-राज्य का सस्थापन,

आज विभीषण-राज हो रहा
राम - राज मगल - कारी,
फैला है प्रकाश लका मे
घन अज्ञान-तिमिर हारी।

९४

वह अचेतना अहभाव की,
धीरे - धीरे दूर हुई,
वह लालसा, विकट सचय की
आज दूर भरपूर हुई,

चूर-चूर हो गई, जगत मे,
आक्रमणो की आशका,
डका यह बज रहा मुक्ति का,
पुण्य स्नाता है लका,

शका, सशय, मोह, प्रलोभन,
जन - धन - हरण - भाव भागे,
त्यागें त्रेता ने कुभाव सब,
उसके परम भाग जागे।

९५

लहराये सद्विजय पताका,
इस जगती के प्रागण में,
चतुर्दिशा कल्याण-निहित हो,
ध्वज के स्वस्ति शुभाकन में,
असद्विचार पराजित, कुंठित,
भूलुंठित, उन्मूलित हो,
सत्यमेव विजयी हो, राजन,
प्रेम-विटप फल-फूलित हो,
आगे-आगे ध्वजा सत्य की,
पीछे - पीछे जन - सेना,
त्रेता का यह धर्म्म सनातन,
जग को विमल ज्ञान देना।

९६

यह महान् आदर्श हमारा,
यह सन्देश हमारा है,
यही हमारी परम्परा है,
यह विचार की धारा है,
आज निमत्रण है जन - जन को,
आओ मगल गान करो,
बनो सच्चिदानन्द रूप तुम,
सब अपना उत्थान करो,
पान करो इस त्यागामृत का,
अपने बन्धन आप हरो,
अपनी थाती आप सम्हालो,
जग भर का सन्ताप हरो।

६७

हो निमग्न आनन्द - उदधि मे,
जग भर मे डोलो, विचरो,
हो उन्मुक्त मलय-मारुत इव,
जग मे आत्म-सुगन्ध भरो,

अमृत-पुत्र हो तुम, मत भूलो,
तुम अनन्त - जीवन - स्वामी,
नेक निहारो तुम अपनी छवि,
हे जन, बन कर निष्कामी,

देखो तो, यह जग क्षण भर मे
स्वर्ग लोक बन जायेगा,
सब बाधाएँ दूर हटेगी,
वह अपनापन पाएगा ।

६८

इस सन्देश-प्रचार - मार्ग मे,
है बाधाएँ बडी - बडी,
गगन चुम्बिनी पर्वत - माला—
पथ को रोके अचल खडी,

सागर की उत्ताल तरगे,
नाच रही पथ मे प्रबला,
विकट शूल है, भीम शिलाएँ,
विजन सघनता है सबला,

वर्षा, आतप, शीत, भयकर,
वन-पशुओ से पन्थ घिरा,
सत्य-प्रचारक के पथ मे है
बाधाओ का पुज निरा ।

९९

यही आधिभौतिक बाधाएँ,
अलम् नही है इस पथ की,
और कई बाते आती हैं
बाधा बनी प्रगति-रथ की,
गतानुगति-विश्वास-जनित यह,
अन्य - अनुसरण - परम्परा—
कुण्ठित करती आत्मवरण को,
रूढि कब रही स्वयवरा ?
जरठ - नवीन - भाव - सघर्षण—
जनित प्रचण्ड अनल-भय से,—
हृदय दूर हट जाता है,
शिव-सुन्दर-सत्य-समुच्चय से ।

१००

मानव की मानवता क्या है ?
कि वह आग से खेल करे ?
नर है स्वय अग्नि-चिनगारी,
क्यो न अग्नि से मेल करे ?
सत्य-तपस्या पावक ही है,
उद्भावक जग की, जन की,
है मनुष्य आग्नेय कल्पना,
अग्नि-पुज-विभु के मन की,
फिर, विचार-सघर्ष अनल से,
यह कैसी भय-भीति, कहो ?
अग्नि-शिखा है अनल-सुतो की
कल्मष-हर कुल-रीति, अहो !

१०१

प्रगति, धर्म-रति, सत्कृति, सन्मति,
सम्भ्रम कचुकि-त्याग, सदा—
चिरजीवन का तत्त्व यही है,
यही भावना है वरदा,
कचुकि-त्याग, प्रगति, यह गति-विधि,
अमित कष्टकर है, राजन्,
किन्तु कष्ट-यत्नाच्छादन से—
अपिहित सदा मोक्षभाजन,
चिर-जीवन-अधिकार - प्राप्ति है
केवल बाल - विनोद नही,
बिना प्रयत्नो के होता है
यो ही आत्मिक-बोध कही ?

१०२

जीवन क्या है ? है प्रचण्ड यह,
गति - सक्रमण सचेतन का
घूर्णित घोर-चक्र है विभु का,
यह जडता के भेदन का,
चलित अनवरत गति मे भी है,
समता - सस्थापित निर्गति,
गति मे गति-शून्यता भरी है,
ताण्डव मे भी है सम-यति,
यत्नशीलता की गति मे है
अतुला निर्गति, समता की,
कैसी अद्भुत छटा मोहिनी—
यह जीवन की क्षमता की !

१०३

धीर, गहर, गम्भीर नीर-सा
जीवन प्रबल प्रवाह बना,
जिस के अन्तर मे नित गति है,
शीतलता है, दाह घना,
जग की प्यास बुझाना निशिदिन,
शिलाखण्ड भेदन करना,
ऐसे ही अटपटे काम यह,
करता है जीवन - झरना,
भीतर-भीतर खूब बह रहा
ऊपर से समतल-सा है,
गति मय भी है, यति मय भी है,
थिर भी है, चचल-सा है।

१०४

जीवन सतत युद्ध है, जीवन—
गति है, है जीवन ऐसा,
है प्रयत्न मय, गुजन जीवन,
फिर सघर्षण - भय कैसा ?
परिवर्तन - उत्क्रमण - भान है
एक मात्र जीवन - लक्षण
फिर विचार - कचुकी-गलित का
क्यो यह समोहक रक्षण ?
बाधाएँ अतिलघित करना,
है जीवन का मन्त्र सदा,
फिर क्यो सत्य-प्रचार पन्थ की
विपदा को समझे विपदा ?

१०५

कर्म्मो में कल्याण-कामना,
निरलसता, थिरता, समता,—
मन मे जागरूकता, वचनो—
मे धर अनिर्वचन क्षमता,
विश्व - मुक्ति - भावना हृदय मे,
कर मे सत्-अवलम्बन-दण्ड —
आँखो मे भविष्य का सपना,
चरणो मे सत्-प्रगति अखण्ड,
यदि विश्वास-भक्ति-श्रद्धा के
पथ के पथिक धीर ऐसे,—
सन्तत विचरे, तो फिर जग मे—
बहे न सत्-समीर कैसे ?

१०६

जीवन है चिर विप्लव-गायन,
स्वर जिसके है सन्तत-क्रान्ति,
गीत-भार है नित-परिवर्तन,
गायन-लय है चिर अश्रान्ति,
अथकित,निरलस,सतत प्रगति यह
गायन स्वर-आरोहण है,
सत्य सनातन अनुभव-सचय,
अवरोहण मन-मोहन है,
शुद्ध ज्ञान विज्ञानान्वेषण
है सुन्दर सम गायन का,
गीत सिद्धि है यह, कि बने नर,
पुण्य रूप नारायण का ।

१०७

नित यह विप्लव गायन गाते––
नित साधन करते-करते,
बढे चलो जीवन-पथ मे सब
हे जन, पग धरते-धरते,
हरते जग की तिमिर कालिमा––
नव - प्रकाश भरते - भरते
'अपना रूप आप पहचानो
भवसागर तरते - तरते,
जग मे विप्लव के तत्त्वो का
निशि-दिन अथक प्रसार करो,
गतानुगति विधि-जनित,तिमिर-मय,
यह जग का भू-भार हरो।

१०८

जीवन है सद्ज्ञान-गम्य गति,
नही तिमिर आवृत गति-वक्र,
जीवन है पावक-चिनगारी,
जीवन है फिर विप्लव-चक्र,
भौतिकता की चाह भयकर
है जीवन - विकार, राजन्,
सचय नही, अपितु जीवन मे––
है नित त्याग-सार, राजन्,
अत आर्य सस्कृति ने जग को
दिया मन्त्र स्वाहा! स्वाहा!!
आत्म-हवन से ही मिलता है,
आत्व-रूप निज मनचाहा।

१०९

भाव - व्यजना - धाराएँ मम,
देखो, बढती जाती है,
सचित बाते मेरे हिय की,
राजन्, कढती आती है,
चढती जाती है वाणी के——
दोला की यह पैग बडी,
आज राम की अनिर्वचनता
सकुच रही है खडी-खडी,
घडी- घडी कुछ भाव अनोखे——
उठ-उठ आते है, मन मे
चचल कथन-नोदना, नरपति,
हो उठती है क्षण-क्षण मे ।

११०

पर, अब नही कहूँगा, राजन्,
बहुत हो चुका सभाषण,
केवल फिर से मै करता हूँ,
निज कृतज्ञता का ज्ञापन,
सब वानर, सब रिक्ष वीरवर,
है मम वत्सलता भाजन,
और आप, सुग्रीव आदि की,
कहूँ बात क्या मै, राजन् ?
निपट अधूरी ही रह जाती
मम जीवन-आशा सारी,
यदि न सहायक होते मेरे,
आप बन्धु सम वन-चारी ।

१११

मत छोडिए धर्म-अवलम्बन,
करिए सत्याचरण सदा
सदा सत्यनारायण को भज,
हरिए सब जग की विपदा,
मगलमस्तु, आप सब रहिए
धर्म भाव तल्लीन हुए,"
यो कह मौन हुए सीतापति,
निज आसन आसीन हुए,
जन-गण के कण्ठो से निकला
दाशरथी का शुभ स्तवन,
'रामचन्द्र की जय' की ध्वनि से
गूँज उठा सब सभा-भवन ।

११२

लकाधीश्वर धीर विभीष्ण
उठे स्वर्ण सिहासन पे,
मानो रामचन्द्र का तप-फल
उट्ठा ज्वलित हुताशन से,
आगे आकर झुके विभीषण,
रामचन्द्र के चरणो मे,
मानो मन एकाग्र हो गया
भक्ति-भाव उपकरणो मे,
हृदय लगाया लकेश्वर को,
उठ करुणाकर रघुवर न,
अथवा वैभव को अपनाया
यती तपस्वी वनचर ने ।

११३

चरण-वन्दना कर लकापति
बोले यो गम्भीर गिरा
"आर्य राम, है मेरे मन की-
दशा आज अति अनस्थिरा,
हृदय अनेक भावनाओ से
आन्दोलित हो रहा यहाँ,
इधर-उधर यह विचर रहा है
ना जाने मन कहाँ-कहाँ,
मेरी आँखो के आगे ही
युग-परिवर्तन हुआ घटित,
महा-नाश देखा है, दखा
होते नव-निर्म्माण गठित।

११४

मैने जग सहार कारिणी,
देखी विकट राम - लीला
देखी जग-निर्म्माण - कारिर्णा
राम-वृत्ति - पोषण - शीला,
महानाश का ताण्डव देखा,
देखा जीवन रास, प्रभो!
मारक भी, जीवनदायक भी,
देखा भ्रकुटि-विलास, प्रभो,
वज्रघोष भी सुना श्रवण से,
दुन्दुभि - हर्ष - निनाद सुना,
आर्य्य, विभीषण ने जीवन मे
बहुत-बहुत कुछ सुना-गुना।

११५

मैंने ये सक्रान्तिकाल की
घटिकाये देखी चपला,
मैंने नव - सगठन - नोदना
हृदयगम की है प्रबला,
इन आँखो के आगे ही द्रुत
गति से पतनोत्थान हुआ,
प्राण-हरण भी हुआ लक मे—
चिर नव-जीवन-दान हुआ,
वह अतीत गौरव लका का
चिर - निद्रित हो गया, अहो ।
वह भौतिकतावाद मृत्यु की—
निद्रा मे सो गया, अहो ।

११६

ऐसे समय, अहो ऐस क्षण,
जब इतने सस्मरण उठे,—
जब मन-नभ-मण्डल मे आकर,
य इतन घन गहन जुट,
तब, हे राम, शिथिल हो जाती—
रसना, यो ही परवश-सी,
वचनावलियाँ हो जाती हे
कुछ कुण्ठित, कुछ सालस सी,
क्षमा करे श्रीराम गुरु, मुझे,
यदि डगमगे शब्द-निश्चय,
यदि न शब्द से आज दे सकूँ,
राम-शिष्यता का परिचय ।

११७

आज निखिल लका के जन का,
हिय-प्रतिबिम्बक बन कर मै,–
धन्य हुआ हूँ, राम-चरण मे
श्रद्धाजलि अर्पण कर मै,
क्षत्रिय रूप धरे वन आए,
देव जगद्‌गुरु आप भले,
श्री चरणो की कृपा हो गई,
भौतिकता-सन्ताप टले,
दाह मिट गया, बरस रहा है,
प्रभु का अनुकम्पा-नीहार,
आर्य, कीजिए लक-द्वीप की
भक्ति-भावना अगीकार ।

११८

त्वम् धन्यासि अहो जगदम्बे,
जनकसुते, वरदे, सीते,
हे अनिगिते, अग्नि-शिखे, हे,
राम धनुर्धर-परिणीते,
निष्ठा-पथ-दर्शिके, दीपिके,
रामेन्द्रिय - पति - मनोरमे,
राम - युद्ध - दुर्धर्ष - नोदने,
प्रतिहिंसे, हे सदा क्षमे,
लकेश्वर का, लका-जन का,
यह वन्दन स्वीकार करो,
निज आशीर्वचनो से सबके––
हिय मे पुण्य-विचार भरो ।

११९

शुद्ध धर्म की, सत्य स्नेह की
तुमने खीची परिसीमा,
श्रद्धा-ज्योति-प्रकाश तुम्हारा,
हुआ न रच कभी धीमा,
कुहू निराशा के क्षण मे भी
राम-चरण-रति रही भली,
हार गया शतश प्रयत्न कर,
रावणत्व की नही चली,
दानवत्व दुर्दान्त उधर था,
इधर तुम्हारी दृढ़ 'नाही',
है लका साक्षी, न हो सकी,
मलिन तुम्हारी परछाही।

१२०

रामचन्द्र की विजय नही है—
कुछ भी, तव जय के आगे।
तुमने तो लका जीती है,
जननि, अकेली ही आ के,
पुण्य अलौकिक मातृरूप लख,
राक्षस नही रहे दानव,
एक झलक में ही, माँ, तुमने—
उनको बना दिया मानव,
आर्य-सास्कृतिक-सूर्योदय की
तुम ही प्रथम-किरण, जननी,
तव चरणार्पण के क्षण से ही
भागी लका की रजनी।

१२१

विजय राम की पीछे आई,
सीता की जय है पहले,
यह है अमिट सत्य, फिर चाहे,
यो कोई कुछ भी कह ले,
पुण्य तुम्हारे दरस, न करते
यदि उत्पन्न यहाँ मतभेद,
तो न राम के लिए लक-जय
हो सकती इतनी अस्वेद,
सात्विकत्व, देवत्व और इन
चरम सतीत्व-सुभावो ने—
लका को जीता है, माता,
तव सत, शील स्वभावो ने !

१२२

आर्य राम की यह जय तो है—
केवल लोकाचार - क्रिया,
वास्तव मे तो, माँ, तुमने ही,
लका का गढ क्षार किया,
भस्म कर चुका था लका को
तव ज्वलन्त अभिशाप-अनल,
हनूमान का लक-दहन तो—
खेल-प्रदर्शन था केवल,
जनक सुते, श्रीराम वल्लभे,
जगद्वन्द्य, तुम धन्य सती,
पूर्ण हुए है, धन्य हुए है
तुम्हे वरण कर राम यती ।

१२३

त्रेता युग के धर्म धुरन्धर
पुरुषोत्तम प्रतिनिधि है राम,
नारी धर्म प्रकट करता है,
केवल, देवि, तुम्हारा नाम,

सीता नाम अनन्त काल तक
सन्निष्ठा - परिचय देगा,
तव सुस्मरण,दिग्भ्रमित मन को–
सन्तत अभय-निलय देगा,

माता, तुमने आत्म-यज्ञ मे–
अपनी आत्माहुति दी है,
एक पुण्य - आदर्श - प्रतिष्ठा
तुमने इस युग मे की है।

१२४

विचलित आज हो रहा है, प्रभु,
अचल विभीषण का मन भी,–
वह मन जिसे न चलित कर सका,
नरमेधक भीषण रण भी,

गत सस्मरणो का उठ आना,
स्वाभाविक है ऐसे क्षण,
स्वाभाविक ही है कि हो उठे
विगत-स्मृति से विचलित मन,

छोटी बातें भी बनती है
पुन स्मरण मे शूल अनी,
फिर उन बातो का क्या कहना,
जो सलग्ना रही घनी !

१२५

आज ढूँढती है आँखे उन—
महाबली नर-वीरों को,
उन दिग्विजयी अति पराक्रमी,
सुदृढ धनुर्धर धीरो को,
जिनकी घन हुकार-मात्र से
कम्पित होता था अम्बर,
जिनके पदाघात से डगमग
डुलते थे दिग्गज भूधर,
जिनके मुकुट किरीटो की द्युति
खर रविकर के पटतर थी,—
किसे ज्ञात थी, उनकी महिमा
हा, इतनी क्षण-नश्वर थी ?

१२६

एक स्वप्न की लीला के सम
वह ठकुरास विलीन हुई,
वह गरिमा, वह ठकुर सुहाती,
छिन भर मैं ही छीन हुई,
लीन हुई हैं वे सब बाते
भूतकाल - अन्तस्तल मे,
पर उनकी छाया बिम्बित है
वर्तमान के कल-जल मे,
आर्य, एक युग था वह भी जो—
प्रगति - प्रेरणा - दायक था,
चिर विकास की उलझन का वह—
युग अच्छा परिचायक था।

१२७

डगमग डगमग करती, कँपती,
पग पर पग धरती धरती,–
कभी फिसलती, कभी घिसलती,
सँभल - सँभल डरती - डरती,
जन-सामूहिकता, गति-पथ पर,
निशि दिन चलती रहती है,
यह विकास स्रोतस्विनी, प्रभो,
छिन - छिन बहती रहती है।
इस विकास का अमिट अंश है
भौतिकवाद - मयी उन्नति,
चाहे, वह न भले ही होवे,
अन्तिम ध्येय, चरम इति-गति।

१२८

रावण - वाद, विकास मार्ग का,
पथ - परिचायक प्रस्तर है,
रावण-वाद, प्रकृति तत्त्वो का,
सुन्दर ज्ञान अनश्वर है,
मानस-दिड्मण्डल को विकसित
करता है भौतिक विज्ञान,
रावणत्व मे सदा निहित है
अन्वेषण की अथक उडान,
रावणीय यत्नो के बिन किमि
खुले प्रकृति के घूँघट-पट ?
इसीलिए आवश्यक है इस–
जग मे निरलस रावण-हठ।

१२९

इसीलिए जग सदा रहेगा
मम अग्रज का निपट कृतज्ञ,
उनने प्रकृति-ज्ञान फैला कर,
जग की हरी भावना अज्ञ,
किन्तु हन्त ! वह अथकान्वेषण,
सीमोल्लघन कर न सका,
प्रकृति-बद्ध हो गया परिश्रम,
और एक डग भर न सका,
भौतिकता के सचय मे पड,
वह विज्ञान हुआ भू-भार,
इसीलिए, हे आर्य, आपको,
करना पडा पयोनिधि पार ।

१३०

आर्य आपकी चरण-क्रिया से--
फैला आत्मज्ञान - आलोक,
यह सन्देश मिल गया जग को,
चरम मोक्ष का पुण्यश्लोक,
भौतिक-आत्मिक विज्ञानो का--
हुआ समन्वय मगलमय,
वे पदार्थ - सकलन - वृत्तियाँ
मिटी, हुआ है सर्वोदय,
छूटी प्राणो की वह फाँसी,
टूटी रज्जु प्रलोभन की,
नही रही अब राम-कृपा से
आशका जन - दोहन की ।

१३१

देव, आपके प्रति प्रगटाऊँ
कैसे निज कृतज्ञतानन्द ?
आज आपकी पुण्य कृपा से
छूट गए सब भव-भय फन्द,

छन्दहीन, गतिहीन, बमुरा,
ताल रहित था जग-जीवन,
उसे आपने गति-मय, यति-मय,
सुस्वर किया, अहो श्रीमन्,

आप धन्य हैं धन्य सुलक्ष्मण,
धन्या जनक सुता सीता,—
जिनने भीति-मुक्त कर दी है
वसुन्धरा रावण - भीता ।

१३२

बीता रावण-युग आक्रान्तक,
बीत गईं भय की घड़ियाँ,
मंगल-करण राम-युग आया,
टूटी वे बन्धन-कड़ियाँ,

सरण चिरन्तन, क्षण-आवर्त्तन,
गमन - आगमन नित नूतन,—
जीवन का व्यापार यही है
नित स्थापन, नित उन्मूलन

चला गया जो, भला गया वह,
जो आया,—अच्छा आया,
यो आने जाने ही के मिस,
प्रकटी है विभु की माया ।

१३३

सन्धि - काल मे उठ आती है,
सिहावलोकन - मयी चाह,
भला, बुरा जो कुछ बीता है,
उसे सोच होता है दाह,
आह एक कढ ही आती है
गत दिवसो की सस्मृति से,
हो ही जाता है मनमोहित,
भली-बुरी गत सस्कृति से,
अत विभीषण गत सस्मृति से,
हो मोहित, तो अचरज क्या ?
गत होकर जो प्राण न खीचे
तो सम्मरण-स्वभावज क्या ?

१३४

युगल-चरण तो आरोपित है
अमल राम-युग के क्षण मे,—
किन्तु, नयन मुड कर उलझे है,
विगत - काल के दर्शन मे,
बीत गया, जीवन का वह भी—
एक काल था, वह बीता,
खेद यही है कि उस काल मे
नही हो सका मन-चीता,
यदि ऐसा हो सकता, तो फिर—
होती नही युद्ध-पीडा,
सहज-सहज ही इस नवयुग की
होने लगती नव-क्रीडा ।

१३५

उस युग मे जीवन था, मद था,
था उत्साह, अमन्द, अभग,
उस युग मे थी कर्म-उग्रता,
था यौवन के मद का रग,
प्रलयान्ता आशा थी उसमे,
उसमे थी सान्ता लीला,
हन्त, उस समय उठ न सकी थी
क्रिया अनन्ता गति-शीला,
कई निराशाये भी थी वाँ,
आशाएँ भी कई-कई,
मद-माती-सी कर्म-प्रेरणा
उठ आती थी नई-नई।

१३६

उस युग की असफलताओ के
ये पल सोते से जागे,
सभी सफलताएँ उस युग की
नाच रही दृग के आगे,
क्या-क्या भव्य मूर्तियाँ थी वे,
जो अब काल-विलीन हुई,
क्या ज्वलन्त प्रतिभा थी वह जो—
अब निष्प्रभ, श्रीहीन हुई,
सुसफलता - असफलताओ के—
पुज, और गत-युग-वैभव,
अल्हड यौवन कहाँ ? कहाँ वह,
तेरा उच्छृखल शैशव ?

१३७

तुम असफल थे ओ गत युग, तुम—
दारुण दुख थे, दाहक थे,
तुम आकुचित थे, कुण्ठित थे,
असद्भाव - सग्राहक थे,
पर तुम मोहक थे, तुम म थी
निरलस् राजस् - कर्म्मठता,
तुम मे दृढता थी, साहस था,
बल था, अहभाव-हठ था,
तुम मे, चरम वेदना भी थी,
आशका, पीडा भी थी,
पर, प्राणो से खेल खेलने—
की तुम मे क्रीडा भी थी ।

१३८

अब यह आया है नवीन युग,
कैसा है ? क्या है इसमे ?
नव-निर्माण, विश्व-मगल की,
सचित आशा है इसमे,
देकर अपने वक्षस्थल का,
रजित, गाढ, उष्ण शोणित,
इस नवयुग को रामचद्र ने
स्थापित किया, किया पोषित,
आओ, नवयुग, उन्नत मस्तक—
हो हम स्वागत करते है,
तेरे नव आदेशो को हम
शिर आँखो पर धरते है ।

१३९

बन्धन ? हाँ बन्धन-भजन का
बल दे, ओ नवयुग वत्सर,
हर ले यह कायरता, हर ले—
यह आलस्य, मोह, मत्सर,
आत्म-समर्पण की अनहद-ध्वनि,
उठे विश्व के अम्बर मे,
परम-मुक्ति की जगे लालसा,
जग मे, सकल चराचर मे,
हो जाने दे भस्म युगो के
आत्म - दीनता के बन्धन,
कम्पित होन दे हृदयो मे
मुक्ति - भावना - सुस्पन्दन ।

१४०

चिर जीवन की, रुचिर मुक्ति की,
नव-आशा मन मे धारे,
आए है हम सब जग जन-गण,
हर्षित नव-युग के द्वारे,
गत सस्कार जनित आलस है,
लक्ष्य दूर है झिलमिल - सा,
मार्ग विकटताओ से पूरित,
अति शूलित है, पकिल सा,
पर, तव भृकुटि-विलास-प्रणोदन,
आर्य, हमे सम्बल देगा,
इस पथ मे, हे देव, आपका,
नाम हमे मगल देगा ।”

१४१

यो कह सिहासन पर बैठे,
नृवर विभीषण लकापति,
और उठे अपने आसन से
वानरपति, किष्किन्धापति,
वे बोले, "लकेश्वर, मै हूँ—
शुद्ध अनागर, वनवासी,
है सौन्दर्यहीन मम भाषा,
निपट असस्कृत, अबला-सी,
यदि श्री राम गुणोपचार का,
कर न सकू मै सफल प्रयत्न,
तो न भाव दोषी है मेरे,
अपितु शब्द है निपट अकृत्स्न ।

१४२

किया राम ने जो वह, वे ही—
कर सकते थे, इस जग मे,
भूमि- भार - अपहरण - भाव है
मण्डित उनके प्रति- डग मे,
फूल- फूल उठती है उनके
चरण- परस से वसुन्धरा,
उनकी पद- रज से रजित है
सारी प्रकृति परा - अपरा,
यह अज्ञान तिमिर - मोचन तो,
है दशरथ - नन्दन की टेव
राम नाम भर से होता ह
दग-उन्मीलन तो स्वयमेव ।

१४३

ृझ वानर को वा' विरहित कर,
इखलाया जग का कौतुक,
हृय मे भर दी ज्ञान-पिपासा,
ागी प्रश्न-वृत्ति उत्सुक,
वृक्षो के फल खाते-खाते,
चाट पडी अब श्रुति-फल की,
राम-कृपा से हिय-दर्पण म,
शुद्ध रूप आभा झलकी,
किन्तु, राम के लिए नही यह
कोई वडा अनोखा काम,
जडता मे चेतनता भरना
है उनकी क्रीडा अविराम।

१४४

हाँ, अब होगा, नृपति, हमारी -
कठिन परीक्षा का आरम्भ,
क्योंकि राम सामीप्याश्रित यह
अब न रहेगा दृढ अवलम्ब,
उत्तर जन-पद चौदह वर्षो–
से टकटकी लगाए है,
राम - पुन - आगमन - पन्थ मे,
निज दृग सुमन विछाए है,
आज राम की उत्तर-यात्रा
लका से होगी आरम्भ,
अथवा आज दाक्षिणात्यो का
हृदय-भवन होगा निस्तम्भ।

१४५

आर्य राम की अनुपस्थिति मे
हमे स्वधर्म निभाना है,
राम - निर्दशित पुण्य-मार्ग से
हो कर हम को जाना है,
यदि हम सब है राम- शिष्य तो,
सावधान हम रहे सदा,
जागरूक हम रहे निरन्तर,
अलस न होवे यदा—कदा,
राक्षस-पति, वानर-पति, नर-पति,
जग-पति राम, हमे बल दो,
जिससे, प्रभु, तव विकट तपस्या
भूमण्डल मे सुसफल हो।

१४६

हे निर्बन्ध, बाँध कर रख ले
तुमको हम इस जन-पद मे,
निस्सीमित को मचल-मचल हम
बाँधे छोटी-सी हद मे,
बार-बार यो उठ आते है
विकल हृदय मे भाव, प्रभो,
तुम जानो हो, देव, सभी कुछ,
तुम से नही दुराव, प्रभो,
आर्यावर्त्त वासियो के प्रति
होगा यह अन्याय निरा,
इसीलिए, 'रह जाये प्रभु,' यो—
कहते होती मूक गिरा।

१४७

क्या होगा उस समय यहाँ पर
जब श्रीराम-गमन होगा ?
सूनी - सूनी लका होगी,
सूना दक्षिण वन - होगा,
किन्तु राम-लीला अविकल है,
अविचल, नित्य अकम्पित है,
जीवन - सूत्र हमारे सबके,
प्रभ - इच्छा - अवलम्बित है,
देव, पधारो, अवध-जनो के—
हृदयो मे आनन्द भरो,
चौदह वर्षों का साघातिक
यह वियोग का फन्द हरो ।"

१४८

राम चरण वन्दन करके जब,
बैठे श्री सुग्रीव कपीश,
उठी सभा मे हर्ष - ध्वनि तब,
जय-जय रामचन्द्र, जगदीश,
हुई विसर्जित राजसभा वह,
करती रघुपति का गुण-गान,
राम-गमन की आशका से
थे सबके मुखमण्डल म्लान,
उधर दुर्ग मे केतु - विमण्डित
सज्जित पुष्पक वायु-विमान,
सूचित करता था कि राम की
यात्रा-घटिका पहुँची आन ।

१४९

वह देखो आसीन हुए हैं
पुष्पक मे सिय - राम - लखन,
देखो, लकेश्वर करते हैं
रघुपति को अन्तिम वदन,
श्री लक्ष्मण से भेंट रहे हैं
धीर विभीषण विचलित से,
वह देखो, कुछ ढरक रहे हैं—
आसू - मुक्ता विगलित से,
वह देखो, वह उठा भुमि से
राजहस - सा पुष्पक - यान,
वह देखो, वह चला लक से
मँडराता वित्तेश - विमान ।

१५०

चढ-चल, चढ-चल, अरी कल्पने,
सीता-पति के सँग-सँग तू,
सुन्दरि, गगन-चारिणी बन कर
निरख-परख अम्बर रँग तू,
उडी चली चल कौशलपुर तक,
बदती होड वायु-गति से,
सुन, हँस कहती है कुछ, सीता,
श्री उर्म्मिला-प्राण-पति से,
शून्य गगन मे अमित हिय भरी
लहरा रही वचन-ध्वनियाँ,
देवर-भाभी के वचनो से—
बरस रही मधु-रस कनियाँ ।

१५१

"देवर ?" "हाँ कल्याणि!" "कहो
क्या बात उठ रही है मन मे ?
अब तो यह महदन्तर घटता
जाता है प्रति क्षण-क्षण म,"
सुन सीता के वचन सुलक्ष्मण,
इकटक उन्हे निहार रहे,
चिन्तन-नीद भरे नयनो मे
अकथित बात विचार रहे,
"क्या देखो हो मुझको, देवर,
यो तुम सोए-सोए से ?
सतत जागरण-थकित लगो हो
तुम तो खोये-खोये से।

१५२

गुडाकेश, कुछ बोलो तो जी,
यो न निहारो ठगे-ठगे,
कहो, हो रहे हं क्यो ये दृग
कुछ सोये, कुछ जगे-जगे ?
क्या हिय मे आ बैठी कोई
सुघड़ नीद की ठकुरानी ?
क्या लका के किसी झरोखे
लगन रह गई अरुझानी ?
अथवा क्या कोई वनबाला
कुछ टोना कर गई, कहो ?
किसकी यह सस्मृति नैनो मे
अलस चाह भर गई, अहो ?"

१५३

"भाभी," यो श्री लक्ष्मण बोले,
विहँस मधुर वचनावलियाँ,
"भाभी, यदि ऐसी ही भोली
होती ये विदेह ललियाँ,
यदि, यो सहज छोड देती ये
रघुकुलजो का हिय-आसन,
तो क्यो आज लक मे होता
बन्धु विभीषण का शासन ?
बाँध दाशरथियो को रखती
है विदेह की नन्दिनियाँ,
बडी चतुर हो तुम मैथिलियाँ,
हो तुम सब मायाविनियाँ ।

१५४

कैसा लक झरोखा, भाभी ?
और कहाँ की वनबाला ?
क्यो भटके वह, जिसन पहनी--
श्री मिथिला की वरमाला ?"
"पर लालन, एकाधिकता तो
है रघुकुल की रीति, अहो,"
"यदि भाभी को सौत चाहिए,
तो अग्रज से कहूँ, कहो ?"
"अपनी चिन्ता करो, ललन हे,"
"पर, पथ दर्शक तो है वे,"
"पर उस शूर्पणता के मन के
चिर आकर्षक तो है ये।"

१५५

"होने को थी सौत तुम्हारी,"
"वह द-रानी बन न सकी।"
"कैस बनती ? उस विचार
को जब जठानी सह न सकी ?
बहन-बहन सब मिल बैठी है
बन दे - रानी - जेठानी,
अब औरो की गुजर कहाँ ? क्यो—
है न ठीक, भाभी रानी ?"
"तो यो कहो कि बहन ऊर्म्मिला
की स्मृति म ही हो डूबे,
अब समझी, हो इसीलिए यो—
उत्सुक से, ऊबे - ऊबे।

१५६

मै समझी थी कि तुम हो गए
लालन, पूरे वैरागी,
समझी थी कि बन गए हो तुम—
निरे उकठ, नीरम, त्यागी।
देख तुम्हारी विकट माधना,
मुझे हो गया था भ्रम, जी,
पर, मन-मन फोडा करते थे—
तुम लड्डू, यह अब समझी,
धन्य भाग्य ऊर्म्मिला बहन के,
ऐसा ढोगी पति पाया,
भीतर-भीतर रस, ऊपर से—
फैलाई यह यति-माया।

१५७

सच बोलो, क्या करते हो तुम
सदा ऊर्म्मिला का ही ध्यान ?
योग-साधना मे भी क्या है,
सदा ऊर्म्मिला का प्रणिधान ?"
"भाभी, तनिक राम से पूछो,
क्या हो जाता है मन मे,
कैसे 'मीते' 'सीते' करते,
विचर थे वे वन-वन मे,
मै तो फिर भी छोटा ही हूँ,
मेरी कौन बिसात, अहो,"
"अजी, बता दो तुम्ही, न सकुचो
देवर, मन की बात कहो।"

१५८

"मन की बात ? देवि, वह कबकी
पैठ गई है हिय-तल मे,
भस्म हो चुके है विकारमय
सकल भाव ज्वलितानल मे,
कथन - प्रेरणा - अन्तस्तल मे,
निद्रिन-सी, मालस-सी है
मन की बात, क्या कहूँ तुम से,
वह सचमुच नीरस-सी है,
जिसे रसज्ञ सुरस कहते है
वह रस सूख गया कबका,
अब है रहा एक रस केवल,
भाभी, अपने मतलब का।

१५९

नवरस से जो परे परम रस,
इन्द्रिय की गति जहाँ नही,
भाभी, आत्म-रमण की लीला
अब होती है वही, कही,
दारुण दाह मिटा अन्तर का,
मन का सभ्रम दूर हटा,
यौवन-मदिरा उतर गई है,
सत्य-नेह हिय मे प्रकटा,
अमल सलिल मे मै डूबा हूँ,
दरस - पिपासा मृता हुई,
तो क्या विस्मृत हुई ऊर्म्मिला ?
नही, सुरति-सस्कृता हुई ।

१६०

नही ऊर्म्मिला विस्मरणीया,
नाम-सुमिरिनी वह मेरी,
कैसे विस्मृत हो वह जिसकी,
मालाएँ मैने फेरी ?
उसका तो विस्मरण, देवि, है
आत्म-विमोहित हो जाना,
श्री ऊर्म्मिला-रूप-विस्मृति है
मोह-नीद मे सो जाना,
मै निद्रापति, जीत चुका हूँ—
आत्म-विमोहन की पीडा,
बरसो से हो रही देवि यो—
जागरूकतामय क्रीडा ।

१६१

कैसे हो ऊर्म्मिला-विस्मरण,
कैसे छूटे उसका ध्यान ?
उसका सत्य सनेह बना है
मम आत्मोन्नति का सोपान,
उसके सन्नेहाश्रय से ही
मैंन पाई मुक्ति भली,
उसके एक सहारे से हीं
मम तप-साधन-बेलि फली,
देवि, ऊर्म्मिला ने ही दी है,
चिन्तन एकाग्रता यहाँ
उसके बिना भटकता फिरता
मन ना जाने कहाँ-कहाँ ?

१६२

मुझे परमपद की समीपता,
स्नेहमार्ग से मिली भली,
भाभी, अब वह द्वन्द्व-रूपिणी,
मन - सभ्रम - भावना टली,
दूर-पास का भेद मिट गया,
दर्शन - उत्सुक - दाह मिटा,
हिय मे पिय रम गए लखन के,
आतुर नैन - प्रवाह मिटा,
छटा निखर आई जगती की,
उसका वक्र कुरूप मुआ,
जगत ऊर्म्मिला-मय सनेह-मय,
चिदानन्द घन रूप हुआ !"

१६३

"तो क्या दरस लालसा, लालन,
तुम्हे सताती ननिक नही ?"
"हॉ-नाही में दे सकता हूँ,
इसका उत्तर क्षणिक कही ?
स्वय विदग्धा हो तुम, भाभी,
तुम कर चुकी तत्व - दशन,
तुम सब कुछ जानो हो, कैसा——
होता है हिय - मघर्षण,
कंसे कहूँ कि रच नही है
हिय मे दरस-चाह अवशेष ?
किन्तु चाह मे दाह नही है,
नही अशान्ति-भ्रान्ति का लेश ।

१६४

मिलन - चटपटी, लगन - अटपटी,
दरस - टकटकी है बाकी,
पर अब होने लगी लगन को,
सभी ठौर पिय की भाकी,
सत्य प्रेम की सुसफलता मय
यह निर्वैर - वृत्ति जागी,
दूर-पास सब जगह हो गया
लखन, ऊर्म्मिला - अनुरागी,
दवि, ऊर्म्मिला के सनेह ने
दी है मुझको शान्ति अमित,
उसने ही हिय मध्य किया है
'सोऽहं' अनहद नाद ध्वनित ।

१६५

जब निकला था घर से तब थी
विप्रयोग की तीव्र जलन,
होता रहता था सस्मृति के
सस्कारो से हृदय - दलन,
घिर-घिर आती थी क्षण-क्षण मे
मन-मन मे सौ-सौ स्मृतियाँ,
याद बनी आ-आ जाती थी
क्रीडा - व्रीडा की कृतियाँ,
वह आतुरता मय हिय-कम्पन,
भाभी, अब म्रियमाण हुआ,
अब तो केवल शुद्ध प्रेम का—
ध्यान-योग मय ज्ञान हुआ।"

१६६

"घर उस विगत-काल मे भी है,
देवर, कितना आकर्षण ?
उसकी स्मृति से हो उठता है
अब भी मुझे रोम-हर्षण,
घर से निकले थे यौवन के
सुख-दुख को ले के सँग मे,
अब फिर घर को चले रँगे से,
प्रौढ - भावना के रँग मे,
वे पहाड सम चौदह वत्सर,
वे भी लघित हुए, ललन,
खूब नयन भर-भर कर देखा—
काल - चक्र का चलन-कलन।"

१६७

"निश्चय भाभी, स्मृति अतीत की,
समोहक, आकर्षक है,
पुन स्मरण उन गत दिवसो का,
निश्चय ही हिय-हर्षक है,
अब । तब । ओफ्फो । कितना अन्तर ।
कितना घटना - पूरित काल ।
• कितनी-कितनी कठिन परीक्षा ।
कितने-कितने जग-जजाल ।
देवि, हृदय भी हम लोगो का
क्या विराट रग-स्थल है ?
कौन कहेगा इसको, भाभी,
कि यह हमारा हृत्तल है ?

१६८

नहो रहा यह हृदय, हृदय अब
है इतिहास - ग्रन्थ यह एक,
जिसके कम्पन - पृष्ठाकित है,
नर-श्रम कथा अनन्त, अनेक,
क्या पुराण, इतिहास बना है,
हम सबका गत हिय-कपन,
प्रति-प्रति कम्पन मे नवरस के
सघर्षण का है अकन,
मानवता की प्रगति, परागति,
श्रान्ति, क्रान्ति सब अकित है
हिय-इतिहास-ग्रन्थ का, भाभी,
पृष्ठ-पृष्ठ अति रजित है ।

१६९

अति चित्रित है चित्त-चित्रपट,
झलक रहे है रग कई,
चित्रलिखे-से लख पडते है
मन के भाव अनग कई,
रखाकित है भूमि-भार-हर
कृतियाँ ये सँग-सग कई,
कही मघन-वन, कही कुटी है,
कही तुग गिरि-शृग कई,
बाधाओ से आच्छादित है
रघुकुल-कमल-पतग कही,
कही राम - सीता - लक्ष्मण के
हिय की प्रगट उमग रही ।

१७०

नयनो के सम्मुख जब आता,
उन गत दिवसो का यह चित्र,
हे भाभी, तब हो जाती है
मेरे मन की दशा विचित्र,
भूल-भुलैया मे फँसती है
मनोवृत्तियाँ लक्ष्मण की,
मनोमोहिनी, हृदय हारिणी,
है सब स्मृतियाँ गत क्षण की,
केवल इस अतीत की स्मृति पर
है अवलम्बित मानवता,
स्मरण-पुज कर नर को प्रकटी
या माधव की माधवता ।

१७१

वह अनुभव शून्यता, देवि, वह—
वन-जीवन की प्रथम घडी,
उपालम्भ दे रही आज भी,
वह वन-पथ मे खडी-खडी,

प्रथम दिवस जब तुम्हे श्रमित लख,
करुणा-सिन्धु हुए विचलित,
तब मेरा पाषाण-हृदय भी,
देवि, हो गया था विगलित,

हम दो भूलो को सँग मे ले
निकले थे रघुवर ज्ञानी,
लौट रहे है आज सग ले
अनल परीक्षित दो प्राणी।

१७२

यौवन गया, प्रौढता आई,
प्रश्न गया, उत्तर आया,
आँख खुली, अँधेरा भागा,
हमने जीवन भर पाया,

यौवन की अन्वेषण-पीडा,
प्रखर दुपहरी का वह त्रास,
हर ले गया, देवि, जीवन के—
चौदह वर्षो का वनवास,

इस अपराह्न काल मे, भाभी,
सजग शान्ति का आसव है,
जीवन के कृतकृत्य भाव का
इसमे सचित अनुभव है।

१७३

जीवन के अपराह्न काल मे
दारुणता का शल्य नही
इसमे गति है, निरलसता है,
पर वह श्रौच्छृखल्य नही,
गति मे भी थिरता है, यति है,
अब कृति मे भी निष्कृति है,
रति मे भी है अरति निरन्तर,
अब स्मृति मे भी विस्मृति है,
राम कृपा से सहज उदासी
अमल वृत्तियाँ जागी है,
अब लक्ष्मण अनुरागी भी है
एव पूर्ण विरागी है।

१७४

नही ऊर्म्मिला है अब 'मेरी',
वह—मै एक स्वरूप हुआ
जैसे रघुपति का स्वरूप वह—
सीता-रूप अनूप हुआ,
सीता बिन यह राम-नाम ध्वनि
निपट अधूरी है जग मे,
सीता-राम, पूर्ण-ध्वनि बन कर
प्रकटी रसना के मग मे,
सीता-राम, ऊर्म्मिला-लक्ष्मण,
एक रूप बन गए सभी,
अपने को खोया जगल में—
अच्छे हम वन गए सभी।

१७५

इसीलिए अब, देवि, नही है,
वह मिलनोत्कण्ठा का दाह,
पीतम छाए है अन्तर मे,
रही न 'क्वासि? क्वासि?' की चाह,
सतत प्रयत्नो से पाया है
स्नेहोदधि का थाह-अथाह,
पैठ गया हूँ अतल-वितल लौ,
अब क्यो कढे वेदना आह?
यौवन सरिता मिली सिन्धु मे
अब क्यो आवे उलट प्रवाह?
पूर्ण वैपूर्णग्व स्वाहा !!
अब कैसा प्रवाह-उत्साह?

१७६

उस अशोक उपवन मे तुमने,
वरदे, परम सिद्धि पाई,
इधर विजन मे रामानुज ने
अपनी सुध-बुध बिसराई,
राम? राम तो सदा एक रस
पर, तप-साधन उनका भी,–
परिपक्वावस्था को पहुँचा,
है इस जगल मे, भाभी,"
"और, लखन, उनकी गति क्या है
जो रह गए अवधपुर मे?
'एकोऽह'–भावना जगी है,
क्या उन सबके भी उर मे?"

१७७

"देवि, आग मे नही तपे क्या,
बान्धवगण निज नगरी के ?
वे जन भी क्या, देवि, नही है,
पथिक हमारी डगरी के ?
आत्माहुति है नही अनोखी,
हम लोगो का ही सौभाग्य
अवधपुरी मे भी प्रकटा है
यह अनुरागपूर्ण वैराग्य,
यज्ञ-हुताशन धधक रहा है
राम-लखन के घर मे भी,
ज्वलिता है चौदह वर्षो से
वेदी अवध नगर मे भी ।

१७८

सतत तप रहे है यह धूनी,
चौदह वर्षो से वे भी,
क्यो न जगे फिर, देवि ? एक-रस—
पूर्ण भावना उनमे भी ?
वे भी सभी अवश्य हुए है
नित अनुरागी-वैरागी,
निश्चय ही उन सबके हिय मे
है निर्भ्रान्त वृत्ति जागी,
इस तप-साधन से प्रकटे है
कई नरोत्तम अब जग मे
पुरुषोत्तम ही पुरुषोत्तम अब,
तुम्हे मिलेगे जग-मग मे ।

१७६

नर को नारायण कर देना
यही राम की लीला है
इसीलिए यह दैहिक बन्धन,
अब कुछ ढीला-ढीला ह,
भरत-माण्डवी, रिपुसूदन-श्रुति-
कीर्त्ति, हमारी सब माएँ—
' पुरुषोत्तम रूपिणी हो गई
सकल अवध की ललनाएँ।
राम नेह-रत अवध-निवासी
राम-रूप हो गए भले,
एक तपस्या के झटके मे
सब जग के जजाल टले।"

१८०

"लक्ष्मण, हाँ, वास्तव मे तुम अब
हो बन गए बडे ज्ञानी,
खूब-खूब आती है, लालन,
तुम को गुत्थी सुलझानी,"
"यह प्रमाण पत्रिका, देवि, तुम,
दो मम अग्रज को जाके,
वे प्रसन्न हो तुमको देगे
कुछ उपहार बडे बाँके,"
"उन से तो उपहार बहुत से—
पाए, कुछ तुम भी तो दो,
"क्या है मेरे पास ? देवि, है—
यह प्रणाम, लेना हो, लो।"

१८१

“नही विनोद, सत्य कहती हूँ,
तुम तो, ललन, बिना श्रम ही,–
करते हो तत्त्वार्थ-निरूपण,
अपने अग्रज के सम ही,”
“वत्सल कृपा तुम्हारी है यह,
जो तुम ऐसा कहती हो,
भाभी, मुझ पर तुम अनुकम्पा
सन्तत करती रहती हो,
है पैतृक सम्पदा तुम्हारी
यह तत्वार्थ निरूपण, देवि,
मैथिल - महाप्रसाद - राशि से
मैंने पाए कुछ कण, देवि।

१८२

वैदेही के पिता और पति,
ये दो मम पथ-दर्शक हैं,
राम सहायक है साधन के,
जनक विचार विमर्शक है,
देवि, तुम्हारे भर्त्ता, कर्त्ता,
ये दो ही दुखहर्त्ता हैं,
मैथिलि, तव पति, पिता, यही दो–
भवसागर उद्धर्त्ता है,
राम, जनक की पुण्य कृपा से
मैंने निज स्वरूप जाना,
नेत्रोन्मीलन किया उन्ही ने,
तब अपने को पहचाना।”

१८३

"चाहे कुछ भी कहो लखन, पर—
ज्यो-ज्यो घटता है अन्तर,
ज्यो-ज्यो अवध निकट आती है,
त्यो - त्यो कँपता है अन्तर,
साास मिलेगी, बहने होगी,
भरत मिलेगे, ओ लालन,
उस क्षण हिय का कैसे होगा
निश्चल धीरज - व्रत - पालन ?
तनिक सम्हाले रखना, होऊँ—
कही न मै बौरानी-सी,
कही न हो जाऊँ मै, लालन,
खोई - सी, अरुझानी - सी ।

१८४

मै विचलित - सी हो जाती हूँ,
सोच - सोच वह मिलन-घडी,
देवर, उस घटिका मे होगी,
हृदय - परीक्षा बडी कड़ी,
यदि धीरज से सहज सह सकूँ,
उस क्षण की ममता, माया,—
तब समझूँ मै हुई अलिप्ता,
सच्ची धीर राम - जाया,
तुम नर, तव अग्रज नारायण,
निर्विकल्प हो तुम जिय मे,
तुम क्या जानो क्या होता है,
देवर, नारी के हिय मे ?"

१८५

"देवि, तुम्हारे नर-नारायण,
नारी से ही लालित है,
नारी - नेह - अश्रु से उनके,
अंग - अंग प्रक्षालित है,
नारी के ही हाड - माँस से
उनका यह अस्तित्व बना,
रग-रग में हो रहा प्रवाहित
नारी ही का रुधिर घना,
नारी उनकी पोषण - कर्त्री,
नारी नेह - नीर - भर्त्री,
नर - नारायण तप - साधन की
नारी ही बाधा - हर्त्री ।

१८६

फिर वे भला क्यो न समझेंगे,
नारी के हिय - भावो को,—
जिनने लगा दिया स्त्री के हित,
अपने जीवन - दावो को ?
हम नारी - सुत, नारी तो है—
हृदयवल्लभा जीवन की,
क्यो न समझ पाएगे बातें
सब हम नारी के मन की ?
भाभी, खूब समझता हूँ मैं,
तव मृदु हृदय-विकम्पन को,
पोष्य पुत्र हूँ मैं सीता का,
समझूँ जननी के मन को ।"

१८७

"बलि - बलि जाऊँ, मेरे लालन,
यह सुन कर मै धन्य हुई,
तुम को पाकर मम वत्सलता,
कब की, वत्स, अनन्य हुई,
पर तुम विलग न मानो, मेरे–
हिय मे है कुछ ऐसी बात,
कि नर, नारियो के हृदयो की,
नही समझ पाते हैं, तात,
नारी - हृदय-परख, पुरुषो की,
है केवल मस्तिष्क - प्रसूति,
मानूँ हूँ मै कि है कदाचित
उस मे नही हृदय - अनुभूति ।

१८८

हृदय - सिन्धु नारी का जैसे
उफन पडे है, हहर - हहर,–
विकट ज्वार - भाटे की उस मे
जैसे उठती तुग लहर,–
जो कम्पन उस मे होता है,
जैसी होती है तडपन,–
जैसे रसरी तुडा-तुडा कर
वह अकुलाता है क्षण - क्षण,–
त्यो सभवत नर हृदयो मे
खर अनुभूति नही होती,
पुभावना, कदाचित नर की
अपना रूप नही खोती ।

१८९

इसीलिए कहती रहती हूँ,
देवर, मै अपने जिय मे,
नर क्या जाने क्या होता है,
नारी के कम्पित हिय मे,
यह न्यूनता नही पुरुषो की,
यह तो है उन का भूषण,
नही मानती हूँ मै इस को,
पुरुष जातियो का दूषण,
नर यदि है खर दोपहरी, तो,
नारी है शीतल छाया
नर - नारी दो रूप बना कर
प्रकटी है विभु की माया।"

१९०

"देवि, यदि न हो स्वीकृत मुझ को
वैदेही के ये सुविचार,
तो न समझना रच इसे भी,
केवल मम मस्तिष्क - विकार,
तुमने बडी तत्त्व की बाते
कह दी है, भाभी, इस बार,
क्षमा करो यदि मै न कर सकूँ
उन सब को सहसा स्वीकार,
है अवश्य ही नर-नारी के—
भिन्न रूप का भेद यहाँ,
पर, अक्षर, अव्यक्त, आदि मे
नर-नारी का भेद कहाँ ?

१६१

आदि-अन्त तो भेद रहित है,
केवल मध्य भेदमय है,
इसीलिए इस मध्य-काल मे,
भेद-विभेद, खेद-मय है,
भेद-खेद के परे पहुँचना,
यही समन्नुति है जन की,
नर-नारी हो, नारी-नर हो
यही सुगति है जीवन की,
नर-नारी दोनो मे दोनो
झलक उठे जब बरबस–से,
तभी समझिए कि यह हुआ है
हृदय प्रपूर्ण एक-रस से।

१६२

विकसित पूर्ण पुरुष वह, जिस मे,
हो नारी की परछाईं,
जो जग-जन की हृदय वेदना,
समझे नारी की नाइ,
जिस की सर्वभूत-हित-रति मे
हो नारी-हिय का कम्पन,
जिस की आँखो मे जग देखे
माता की छवि का अकन,
देवि, नरोत्तम है वह, जिसमे
हो नर-नारी का मिश्रण,
ऐसे ही नर-वर भरते है
जग का स्रवित-वेदना-व्रण।

१९३

वह नर तो वानर है, जिस मे—
नारीपन का अश नही,
वह है उपल, नही हिय, जिसमे—
सह - सवेदन - दश नही,
प्रतिविकसित नर मे रहती है,
कुछ नारीपन की झाईं,
उसी तरह ज्यो विभु मे बिम्बित,
प्रकृति-नटी की परछाईं,
पुरुष नही है टोली केवल,—
वानर, विपिन-चरो की, देवि,
अत नही मस्तिष्क-मात्र से
है अनुभूति नरो की, देवि !

१९४

भरत सदृश योगेश्वर की तुम
योग - नोदना हो, भाभी,
विकट तपस्वी लक्ष्मण की तुम,
ज्ञान - बोधना हो भाभी,
पावक सम तुम परम पवित्रा,
अनल दीक्षिता, - तेजमयी
सब कुछ देख चुकी हो तुम अब,
रही कौन - सी बात नयी ?
एक बार हो सहन कर चुकी
तुम यह पुनर्मिलन - पीडा,
एक बार फिर और सही, यह—
प्राणो की आकुल क्रीडा।

१९५

निश्चय, वरदे, स्वजन-मिलन का,
होगा बडा विकट अवसर,
निश्चय, उस क्षण हृदय हमारे,
बरबस उमडेंगे, भर - भर,
निश्चय प्राणो मे आकुलता,
चचलता, होगी तडपन,
निश्चय, भाभी, इन हृदयो मे
मच जाएगा भीषण - रण,
पर तुम हो विदेह की बेटी,
पुत्रवधू हो दशरथ की,
तुम हो सहगामिनी राम की,
विकट साधना के पथ की ।

१९६

तव तपस्विनी अनुजा जिस क्षण,
दृग मे सचित नेह भरे,–
सम्मुख आ जाएगी, भाभी,
उस क्षण ईश सहाय करे,
यदि उस क्षण यह गलित न होवे
चौदह वर्षो का वैराग्य,
यदि रह सकूँ अचचल उस क्षण,
समझूँगा मै अपने भाग्य,
भाभी, प्रथम, सीय-दर्शन-क्षण
अग्रज की वह निश्चल मूर्ति,
मुझे ऊर्म्मिला-प्रथम-दरस-क्षण
निश्चय देगी बल की स्फूर्ति ।

१९७

देवि, न समझो कि मय हृदय मे,
तव हिय सम अनुभूति नही,
मत समझो कि नरो के हिय मे,
नारी - हृदय - विभूति नही,
वही विकलता, वही विमलता,
वही सलिल-सा स्रोत यहाँ,
नारी-हिय-सम स्निग्ध भाव से,
हिय है ओत-प्रोत यहाँ,
देवि, यहा भी लगी हुई है,
कम्पित प्राणो मे फाँसी,
नर के हिय मे भी है सन्तत,
नारी के हिय की गाँसी ।

१९८

सीता के हिय का आन्दोलन,
लक्ष्मण अनुभव करता है,
और ऊर्म्मिला का हिय-कम्पन,
राम-हृदय मे भरता है,
देवि, इधर दो नर-हृदयो मे,
नारी का हिय कँपता है,
नारीपन की अग्नि-शिखा मे,
नर-हिय निशि-दिन तपता है,
नर मे नारी का न चिह्न तो,
मानव-प्रेम-धर्म क्या है ?
यदि नारी-पन न हो पुरुष मे,
तो नर को नर क्यो चाहे ?

१९९

भाभी, तव नर-नारायण है,
स्वय अर्द्धनारी - नटराज,
और अर्द्ध-नर-नटीश्वरी हो,
तुम-ऊर्म्मिला जगत मे आज,
देवि, नही देखा क्या तुमने
अग्रज का वह नारी-रूप ?
उन की इस विशाल छाती मे,
है नारी का हृदय अनूप,"
"दे व र" यो कहते ही कहते,
छलकी सीता की आँखें,
और लखन के वचन-भृग की
भीज गई कोमल पाखें ।

२००

सखि, कल्पने, चला जाता है,
मन्थर गति से पुष्पक-यान,
उस पर से यह दीख पडे है
धरती करती हुई पयान,
वह देखो, अब दीख रहा है,
कोसल जनपद का भू भाग,
जिसे देख कर आर्य राम का,
विचलित हुआ विदेह-विराग,
अब कुछ क्षण म ही पहुँचेगा
यान अयोध्या नगरी मे,
और हर्ष - सागर उमडेगा
कोसलपुर की डगरी मे ।

२०१

तुझ मे यह सामर्थ्य कहाँ है
कि तू कर सके वह वर्णन ?
तेरे बस का नही, सखी री,
वह सम्मिलन रोम-हर्षण;

यही बहुत है कि तू आ सकी
सँग-सँग इस कोसलपुर तक,
बक मत अब, कर मिलन दरस तू
तन मन लोचन से छक-छक,

मिलन नही यह, अरी बावरी,
यह है पूर्ण आत्म-दर्शन,
कहाँ शक्ति है कि तू कर सके
इस विमुक्त रस का वर्षण ?

२०२

बरसो की वह प्यास-परीक्षा,
बरसो की वह हिय-तडपन,—
बरसो की वेदना दिवानी,
बरसो का चिन्तन - कम्पन,

बरसो का वह सतत प्रतीक्षित
सम्मिलनोत्सुकतामय क्षण,
कौन कर सके चित्रित उसको
जब प्रतिपल होवे हिय-रण ?

नही कठिन कुछ चित्रित करना
विश्व-क्रान्तियो का चित्रण,
पर, कल्पने, असम्भव ही है
दिखलाना हिय का स्पन्दन ।

२०३

लखन-ऊर्म्मिला जब बिछुडे थे
तब थे दो साधक पथ के,
खूब चले पथ मे ये दोनो
बैठे रच, न रच थके,

अब जब मिले, सिद्ध थे दोनो
आरम्भिक चाञ्चल्य न था,
हृदय-मिलन-क्षण नयन अजल थे,
वहाँ हृदय चापल्य न था,

नयनो मे अति नीरवता थी,
वाणी मे था मौन परम,
हृदयो मे अनुभूति-बोध था,
प्राणो मे थी शान्ति चरम,

मन ही मन थे लखन निछावर एक ऊर्म्मिला की टक पे,
और ऊर्म्मिला न्यौछावर थी उनके एक चरण नख पे।

इति षष्ठ सर्ग

इति श्री ऊर्म्मिला समाप्त।

श्री ऊर्म्मिलाऽर्पणमस्तु

ॐ शान्तिः